ओ३म्

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी

# वैद निबन्ध स्मारिका

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली-११०००२

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी

# वेद निबन्ध स्मारिका

सं पा द कः

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी प्रकाशन सीरीज के अन्तर्गत
(भारत सरकार के अनुदान से प्रकाशित)

प्रकाशक :
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली 110002

मुद्रक :
सार्वदेशिक प्रकाशन लि०
पटौदी हाउस दरियागंज
नई दिल्ली 110002

मूल्य : ३०/- (तीस रुपये)

जनवरी 1986
दयानन्दाब्द 161

# दो शब्द

महर्षि दयानन्द के रचनात्मक आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा सदैव सक्रिय रही है। महर्षि का इस धराधाम पर दिव्यावतार था उसके बारे में कहा जाता है कि—"न प्रभा तरलं ज्योति – रुदेति वसुधातलात्" वह ज्योति जिसने तमसाच्छादित भारत मानस को निर्मल करने का संकल्प किया और अज्ञान तिमिर को नष्ट करने के लिए वैदिक ज्ञान का दीप प्रज्वलित किया।

प्रस्तुत ग्रंथ महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी की स्मारिका के रूप में विद्वानों के वेद-निबन्धों का संग्रह है। इन लेखों को विद्वानों ने बड़े परिश्रम से तैयार करके आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह पर पढ़ा था, उनकी इन मूल्यवान रचनाओं को इस स्मारिका ग्रन्थ के माध्यम से सार्वदेशिक सभा ने जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न किया है।

इस स्मारिका ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने सभा को ५० हजार रुपये का अनुदान दिया था, यह ग्रन्थ इसी धन से प्रकाशित किया गया है। यह सभा सरकार के इस सहयोग के लिए आभार प्रकट करती है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में स्व० पं० रघुनाथ प्रसाद पाठक और आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री का मूल्यवान सहयोग हमें प्राप्त हुआ।

मुझे आशा है प्रस्तुत ग्रंथ से पाठकगण लाभान्वित होंगे और वैदिक ज्ञान की ज्योति को जन-जन तक पहुंचाने का संकल्प करके महर्षि दयानन्द सरस्वती के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे।

**रामगोपाल शालवाले**
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
दिल्ली

जनवरी १९८६

॥ ओ३म् ॥

# भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक उन उत्तम लेखों का संग्रह है जो आर्य समाज स्थापना-शताब्दी समारोह के अवसर पर २६ दिसम्बर १९७५ को हुए वेद सम्मेलन में विद्वानों द्वारा पढ़े गए थे। विद्वानों ने बड़े ही परिश्रम से लेख लिखे थे और सम्मेलन में जनता को प्रस्तुत किया था। विषय की दृष्टि से ये लेख बहुत ही महत्व के हैं।

ये केवल पढ़े गए और सुने गए तक ही न रहें अतः उसी समय इनके पुस्तकाकार प्रकाशित करने का निश्चय कर लिया गया था। उद्देश्य यही निहित था कि ये सदा प्रेरणा देते रहें। मैं वेद सम्मेलन का संयोजक था अतः मैंने इन सभी लेखों की प्रेस कापी बनाकर प्रेस को छपने के लिए दे दी थी। काल चक्र चलता रहा, अधिकारी परिवर्तित होते रहे परिस्थितियां बदलती रहीं, प्रेस के प्रवन्ध में भी उतार-चढ़ाव होते रहे और यह प्रेस कापी प्रेस में पड़ी रही। परन्तु मैंने इसका पीछा नहीं छोड़ा। जब दिल्ली आता था उसके विषय में प्रधानमंत्री और प्रेस के कर्मचारियों तथा सभा के कर्मचारियों को बराबर कहता रहा।

सन् १९८४ के अन्त और १९८५ के प्रारम्भ में अंग्रेजी वेद भाष्यों के प्रकाशन के सिलसिले में मुझे दिल्ली कुछ अधिक समय तक रहना पड़ा। उस समय सभा प्रधान श्री ला० रामगोपाल शालवाले, सभा मंत्री श्री ओमप्रकाश जी त्यागी तथा अन्य साथियों से इस विषय वार्तालाप करके इसके छपने में प्रगति देने का निश्चय हुआ। क्योंकि लगभग एक दशक समाप्त होने की तैयारी में था। मुझे इसके छपने और प्रकाशित होने की चिंता भी थी—क्योंकि सम्मेलन का संयोजक भी मैं ही था और इस ग्रंथ का संपादक भी मैं ही हूं।

भगवान् की महती कृपा है कि ग्रन्थ छप गया है और शीघ्र ही पाठकों के हाथ में आवेगा। मेरे लिए यह संभव नहीं कि मैं ग्रंथ के प्रूफ स्वयं देखता। अतः कहीं-कहीं पर अशुद्धियाँ रह जाना संभव है। दूसरे संस्करण में ठीक कर दी जावेंगी।

इस ग्रन्थ में लेखों का विभाजन दो प्रकार से कर दिया। प्रथम हिन्दी के लेख हैं और तत्पश्चात् अंग्रेजी के लेख हैं इसमें कौन से विषयों पर लेख हैं उन सबका वर्णन मैंने अपने वक्तव्य में कर दिया है जो पृष्ठ २ और ३ पर अंकित है।

पुस्तक के प्रकाशन और मुद्रण में जिस किसी का भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग मिला उसका हृदय से धन्यवाद। पाठक जन पुस्तक को अधिकाधिक अपनावें और संग्रह करें आर्य समाज स्थापना शताब्दी की स्मृति के रूप में।

वड़ोदा
१६-२-८५

आशा और विश्वास के साथ
वैद्यनाथ शास्त्री

# विषयानुक्रमाणिका



## English

# विश्व कल्याण का उपाय केवल वेद

श्री आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री

आर्य समाज के साथ वेद का समवाय सम्बन्ध रहा है और यही उसका प्राण है। आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने वेद के लिए जो कार्य किया वह किसी से छिपा नहीं है। जिस धर्म को हम मानते हैं वह वैदिक धर्म अर्थात् वेद का और वेद से प्रतिपादित धर्म है। इसलिए शताब्दी समारोह के कर्णधारों ने इस अवसर पर वेद सम्मेलन का भी कार्य-क्रम रखना आवश्यक समझा और उसका आयोजन किया आप इस समय उस सम्मेलन में उपस्थित हैं।

वर्तमान समय में विश्व की मानवता समस्याओं से घिरी हुई है। वैज्ञानिक उन्नति और समाज के परिवर्त्तन तथा मूल्यों के विश्वास की अस्थिरता में मनुष्य अपने को उचित स्थिति में स्थित नहीं कर पा रहा है। वेद के विद्वानों को भी इन बातों से मुंह नहीं मोड़ना है। वेद के द्वारा समस्याओं के सुलझाव का मार्ग निकालना आवश्यक है। प्रभु का दिया ज्ञान सब समस्याओं और देश काल एवं परिस्थितियों का सुझाव रखता है। हमें वह लोगों के समक्ष रखना होगा।

यह विवाद करने की आवश्यकता नहीं रह गई है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है वा नहीं। विश्व का सुखी समाज यह मानने को स्वयं वाध्य होगा और काल का प्रवाह उसे उसी तरफ ढकेल रहा है। भाषा और ज्ञान का विकास मानव विकास के क्रमों से करता है और ये विकास के परिणाम हैं अथवा भगवान् की प्रेरणा से यह मानव को आदिम अवस्था में प्राप्त होते हैं— यह बहुत ही जटिल प्रश्न रहा है। परन्तु आज की खोजों ने ऐसी भी वस्तुओं की खोज की है जो यह सिद्ध करती हैं कि ज्ञान और भाषा एक दूसरे से अन्योन्य सम्बद्ध हैं और मूल में वे विकास के परिणाम नहीं सिद्ध होते हैं। मूल भाषा से अन्य भाषाओं का विकास तो हो सकता है परन्तु मूल विकास का परिणाम नहीं है। ज्ञान की भी यही स्थिति है। ऐसी वस्तुएं जिनका वेद में वर्णन है और वैज्ञानिक कसौटी पर भी वह ठीक है और वर्तमान में जो विकास की चरम सीमा है उसमें ज्ञात नहीं हैं तो उनका ज्ञान किस प्रकार हुआ? कहना पड़ेगा कि यह ज्ञान वेद से आया, और विकास का परिणाम नहीं है ईश्वर की प्रेरणा है इसके मानने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं जाता है।

भौतिक विज्ञान की उन्नति, समाज विज्ञान और तकनीकी ने मानव समाज को लाकर वर्त्तन के क्रम में खड़ा कर दिया है। यह परिवर्त्तन आधुनिकता और नवीन वादों का जन्मता बन रहा है। पुराने मूल्यों के स्थान पर नए मूल्य खड़े किए जा रहे हैं। वेद के विषय में

जब भी विचार किया जाता है तो इन तथ्यों को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। कुछ लोग प्रथम तो यह समझते थे कि वेद गड़रियों के गीत हैं। कुछ का विचार था कि ये असम्बद्ध वार्ताओं के संग्रह हैं। आर्य समाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने यह आर्ष विचारधारा प्रकट की कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। इस एक शती के काल में आर्यसमाज के वेद सम्बन्धी ऋषि दयानन्द के दृष्टिकोण के प्रचार का प्रभाव नहीं तो और क्या है कि आज कम्यूनिज्म और दूसरे वादों को वेदमूलक सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। श्री डांगे और उन्हीं के एक सम्बन्धी ने यह प्रयत्न किया है। स्वयं तो श्री डांगे ने वेद से कम्यूनिज्म के विचारों की पुष्टि का प्रयास किया है और लेखक ने कम्यूनिज्म के विचारों की पुष्टि का प्रयास किया है और लेखक ने कम्यूनिज्म के आधार को वेदान्त की फिलोसफी को माना है। यह कैसी विडम्बना है। परन्तु यह तो सिद्ध हो ही रहा है कि वेद में सभी समस्याओं के समाधान हैं। नहीं तो अपने वादों से सिद्ध करने का प्रयास करने की क्या आवश्यकता है।

वेदान्त दर्शन कम्यूनिज्म का आधारभूत दर्शन है यह सर्वथा सारहीन बात है। क्योंकि वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों से कम्यूनिज्म के सिद्धान्त मेल नहीं खाते हैं। नीचे लिखी बातें वेदान्त के सिद्धान्त हैं परन्तु कम्यूनिज्म उन्हें स्वीकार नहीं करता है:—

१—भगवान्, जीव और प्रकृति की अनादि सत्ता का मानना।
२—जगत् की व्याख्या इन तीनों के आधार पर मानना।
३—धर्म और मोक्ष को मानना।
४—वर्णाश्रम व्यवस्था का स्वीकार करना।
५—कर्मफल और उसकी भगवान् द्वारा व्यवस्था को स्वीकार करना।

यह है वास्तविक सिद्धान्त वेदान्त के, जिन पर कम्यूनिज्म खड़ा नहीं किया जा सकता है। फिर वह वेदान्त कौन सा है जिस पर कम्यूनिज्म खड़ा किया जायेगा। वस्तुतः वह नवीन वेदान्त जिसमें जगत्, जीव का कोई ब्रह्म से भिन्न अस्तित्व नहीं हैं। ब्रह्म अनिर्वचनीय है और उसमें तथा नागार्जुन के निर्वाण का शून्य में कोई अन्तर नहीं है। इस वेदान्त पर यह धारणा खड़ी की जा रही है। परन्तु यह वेदान्त है नहीं।

आधुनिकता बहुत अच्छी वस्तु है परन्तु वह क्षण-क्षण में वदलने वाली आधुनिकता है जो कोई मूल्य नहीं रखती है। ऐसी आधुनिकता मानव को कहां पहुंचा देगी? कुछ कहा नहीं जा सकता। जिसका चेहरा क्षण-क्षण में वदलता रहे उसका अस्तित्व क्या है और उस पर विश्वास क्या है! आधुनिकता वा माडर्नइज्म वेद की है जो शाश्वत है और सदा ही आधुनिक रहते हुए नित्य है। इसलिए वेद ज्ञान से ही मानव का कल्याण हो सकता है। जैसा पूर्व कह चुका हूं यह युग अनेक समस्याओं से उलझा हुआ और वैज्ञानिक एवं सामाजिक उत्क्रान्ति का हैं। इसी दृष्टि से वेद सम्मेलन का निश्चय होते ही मैंने कुछ ऐसे विषय चुनकर विद्वानों के पास भेजकर लेख लिखने का अनुरोध किया, वे विषय निम्न हैं—

१—शिक्षा शास्त्र का मूलाधार वेद।
२—कल्प विज्ञान का मूलाधार वेद।
३—व्याकरण विद्या का मूलाधार वेद।

४—नैरुक्त विज्ञान का मूलाधार वेद।
५—ज्योतिविज्ञान के सिद्धान्तों का मूलाधार वेद।
६—छन्दोविज्ञान के सिद्धान्तों का मूलाधार वेद।
७—षडदर्शनों का मूल छः अङ्गों में कौन सा अंग है ?
८—वेद-मन्त्रों में वर्णित इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी का वास्तविक विवेचन।
९—क्या वेद में ऐसे मन्त्र भी हैं जिनका कोई अर्थ नहीं ? ऐसे मन्त्रों का विवेचन और अर्थ संगति।
१०—पुरुष सूक्त नाम रखने का वास्तविक रहस्य।
11 – Meaning of term yajna in the vedas.
12 – Absolutism and the vedas.
13 – Vedic cosmogony.
14—Time and space in the vedas,
15—Study of the vedas with a special reference to the Monotheism
16—Swami Dayanand's contribution to the study of the vedas.
17—The idea of modern communism and,socialism are quite foreign to the vedas.
18—Universal norms of the vedic ethics.
19—Is modern communism based on philosophy of vedant which has direct reference to the vedas ?
20 – World Peace through veda,
21 – Message of the vedas for the well-being of humanity.
22 Idea of Mathematics in vedas.

ये विषय बहुत ही विचार के उपरान्त रखे गये थे। साथ ही यह योजना भी और है कि इन विषयों पर जो विद्वानों के लेख आवेंगे उन्हें देखकर एक पुस्तिका छपाई जायेगी जो अनुसंन्धानकर्त्ताओं और जन-साधारण दोनों के ही लाभ की होगी। हमारी प्रार्थना पर बहुत से विद्वानों ने इन विषयों पर लिखना स्वीकार किया। परन्तु अभी थोड़े विद्वानों के ही इन विषयों पर लेख प्राप्त हुए हैं, जो इन विषयों के अतिरिक्त स्वयं स्वीकृत विषयों पर हैं। उन विद्वानों के लेखों को भी हमने स्वीकार किया है। इन विषयों पर जितने लेख प्राप्त होंगे उनको देखकर फिर पुस्तक में छापे जायेंगे। जिन विषयों पर लेख नहीं आया होगा उन पर मैं स्वयं ही लिखकर अपने वक्तव्य में उनका सन्निवेश कर दूंगा।

लेखों के विषयों को देखने से पता चलेगा कि उनके अन्दर लगभग सभी उपयोगी बातों का संग्रह हो जाता है। वैदिक विज्ञान को वेदांग बनाने वाले ऋषियों ने एक चरम सीमा पर पहुंचाया। वेदांगों का सम्बन्ध वेद से है अतः ये विज्ञान जो वेदांगों में हैं, इनका मूल वेद से दिखाना आवश्यक समझ कर कुछ विषय इन पर रखे गये हैं।

दर्शन विद्या में भारत ने जो उन्नति की उसका भी श्रेय वेद को है। इसका मूल वेद से और किस अंग से सम्बद्ध हैं इस विषय पर लिखने के लिए प्रेरणा की गई है।

वेद के समस्त विज्ञान यज्ञ प्रक्रिया से उद्भूत होते हैं अतः यज्ञ क्या है इसकी जानकारी भी विशेष रूप से करनी आवश्यक है। वेदमन्त्रों में ही इतिहास पुराण आदि पद पड़े हैं। इनका

क्या तात्पर्य है जब कि हम इतिहास पुराण को वेद में नहीं स्वीकार करते और न स्वीकार करने योग्य ही है। इतिहास का अर्थ अनित्य वा किसी व्यक्ति का इतिहास नहीं है। इति+ह+आस इस प्रकार के विज्ञान का नाम है। इसी प्रकार पुराण शब्द का अर्थ सृष्टि विज्ञान है। अथर्ववेद में स्वयं इसका लक्षण कर दिया गया है जिसे मैंने अपनी पुस्तक वैदिकज्योति में विशेषरूप में दिखाया है। गाथा में उस विज्ञान को वर्णित किया गया है जिसके द्वारा कल्पित आख्यान किया जाताहै वह किसी व्यक्ति का न होकर जड़ पदार्थों आदि में भी हो सकता है। इसीलिए ब्रह्म अर्थात् मन्त्रों को गाथामिश्र भी कहा गया है जैसे नदी और विश्वामित्र का संवाद। यमयमी और पुरवा-उर्वशी का सम्वाद। नाराशंसी उन ऋचाओं को कहा जाता है कि जिनके द्वारा नर-जाति की प्रशंसा वा वर्णन किया जाता है। यह किसी एक व्यक्ति का नहीं बल्कि माता-पिता, अतिथि, आचार्य आदि की प्रशंसा नाराशंसी है। नरों द्वारा सम्पादित यज्ञ का वर्णन जिसमें हो वह नाराशंसी है। यज्ञ भी नाराशंस कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त एक समस्या बहुत पुराने समय से चली आ रही हैं और वह यह कि वेद मन्त्रों के अर्थ नहीं होते हैं वे केवल यज्ञ में बोलने मात्र के लिए हैं। यास्क और जैमिनि दोनों ने पूर्व पक्ष उठाकर यह सिद्ध किया है कि वेद मन्त्रों का अर्थ है। यदि कोई नहीं जान पाता तो यह उसका अपना दोष है। श्री बाबू सम्पूर्णानन्द ने राजस्थान में एक वेद-सम्मेलन में यह कहा था कि वेद मन्त्र ऐसे भी हैं जिनका कोई भी अर्थ आज तक नहीं हुआ और न हो सकता है। अतः इस विषय पर भी विवेचन करने के लिए मैंने विशेष विषय रखा जब कि अंग्रेजी में मैं इस विषय पर बहुत विस्तृत विवेचन पहले लिख चुका हूं। 'जेम्स आफ आर्यन विजडम' में यह देखा जा सकता है। "चत्वारि शृंगा सृण्येव जर्भरी" आदि मन्त्र इस कोटि में रखे जाते हैं परन्तु इन सबका अर्थ है और दिखाया भी गया है। मन्त्र भी तो शब्दमय है शब्द का धर्म अर्थ है फिर वे अर्थहीन कैसे हो सकते हैं। वे केवल उद्गारात्मक तो हैं नहीं।

संसार में समाज का उद्भव मानवसे होता है। मानव की चेतना का एक धर्म उसका सामाजिक प्राणी होना भी है। वह समाज को बनाता है। समाज कैसा बने इसका स्वरूप क्या है इसके लिये मानव को अपने शरीर की रचना पर ध्यान देना चाहिये। शरीर की रचना का प्रकार ब्रह्माण्ड की रचना के प्रकार से मिलता है अतः उसका परिज्ञान आवश्यक है। शरीर रचना और ब्रह्मांड किस प्रकार समाज पर आधारित है ? वह पुरुषप्रकृत्यात्मक है। केवल पुरुषात्मक अथवा केवल प्रकृत्यात्मक वा भौतिक नहीं है। समाज और समज में भेद है।

समाज मनुष्यों का होता है और समज पशुओं का। समाज में कर्त्तव्य और अधिकार दोनों हैं परन्तु समज में ऐसा नहीं है। यही दोनों का भेद है। जब तक इन बातों को पूरी तरह समझ न लिया जावे समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता है। पुरुष, आत्मा और परमात्मा रूप से दो प्रकार के हैं। ऐजिल्स ने कहा था कि अपने वाद के दार्शनिक सिद्धान्त में कार्लमार्क्स सिर के बल पर खड़ा था उसे हमने सीधा पैर के बल पर खड़ा कर दिया है। अतः समाज के दर्शन में केवल भौतिकता वा आध्यात्मिकता को जगत् की व्याख्या मानकर कोई सिर के बल न खड़ा हो और उसका वास्तविक दर्शन प्रकृति पुरुषात्मक है—इसलिए चारों वेदों में इस दर्शन को बतलाया गया और उसी आधार पर इसे पुरुष सूक्त कहा जाता है। महर्षि दयानन्द और कार्ल-

मार्क्स समकालिक थे। कार्लमार्क्स ने अपना दर्शन—Materialistie Interpretation of history पर आधारित किया और महर्षि ने अपना दर्शन वेद पर आधारित किया जो Spirituo Materialistic Interpretion of history है।

एकेश्वरवाद, (Monotheism) पूर्णतावाद (Absolutism), विश्व शान्ति, मानवता के कल्याण के लिए वेद का सन्देश आदि विषयों पर विशेष रूप से निबन्ध लिखवाने का प्रबन्ध किया जाय। इसीलिए इन विषयों का चयन मैंने किया। सारे विषयों का परिशीलन इस परिणाम पर पहुंचायेगा कि ये सभी विषय बहुत व्यापकता को ध्यान में रखकर निश्चित किये गए हैं।

अंकगणित समय का विज्ञान है जब कि रेखागणित देश का विज्ञान है। गणित का महान् विस्तार समय और देश (Time and space) के सन्निकृष्ट विचार पर आधारित हैं। दर्शन में देश और काल का विशेष स्थान है। काल, देश और कारणता (Time space and Causality) का दर्शन विज्ञान में एक महत्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्य दर्शन में इन पर बहुत विस्तृत विचार किया गया है। अतः यह आवश्यक है कि यह जाना जावे कि वेद इनके विषय में हमें क्या निश्चय और निर्णय प्रदान करता है। इससे हमें गणित विज्ञान आदि की विविध समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिलेगी।

संसार में शान्ति की समस्या एक विकट समस्या है। अशान्ति के कारणों का निराकरण कर शान्ति स्थापना के लिये वैदिक आदेश क्या हैं—इसका प्रकट किया जाना आवश्यक है। वेद से हमें इस विषय में भी समुचित दिशा और सूझ मिल सकती है।

संसार की मानवता में व्याप्त उत्पीडन, शोषण, भ्रष्टाचार आदि का कारण है कि इसमें एक खराब नीति नियम (Bad ethies) प्रचलित और बद्धमूल हो गई है। जब तक इस नीतिमत्ता का कोई मानदण्ड उत्तमता से स्थापित नहीं होगा तब तक मानव त्रस्त और चिन्तित रहेगा। अतः वेद से नीति के सिद्धान्तों को निकाल कर उन्हें संसार के कल्याण के लिए घोषित करना चाहिए। उत्तम नैतिक मूल्यों पर ही मानव समाज के कल्याण की आधार शिला स्थिर हो सकती है।

वेद मानवता के कल्याणार्थ क्या सन्देश देता है इसको हमें विश्व के मानव पर बताना आवश्यक है। वैदिक धर्म संक्षेप में कुछ ऐसे सिद्धान्तों का निर्देश करता है जो इस दिशा में उत्तम दार्शनिक स्तम्भ और प्रकाश पुंज का कार्य करेंगे। इन्हीं के आधार पर विश्व का मानव सुख शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकता है जो इस प्रकार है :—

१—भगवान् एक है, उसी की स्तुति, प्रार्थना, उपासना की जानी चाहिए अन्य किसी की नहीं।
२—भगवान् न कभी मनुष्य बन सकता है और न मनुष्य कभी भगवान् बन सकता है।
३—जीव का शाश्वत अस्तित्व है और वह अपने कर्मों के लिए स्वतन्त्र होते हुये भी उनके लिए उत्तरदायी और फल की व्यवस्था में परतन्त्र है। यही उसके जीवन का अन्तिम उद्देश्य है।
४—विज्ञान और धर्म के समन्वय, लोक-परलोक के समन्वय, भौतिकता और अध्यात्म के समन्वय, व्यष्टि और समष्टि के समन्वय में श्री और सफलता है।
५—मानव एक नैतिक प्राणी है और नीतिमत्ता के बिना जीवन अस्त-व्यस्त रहेगा।
६—मानव में जाति, रक्त, रंग आदि का भेद बनावटी है और वह हानिकारक है।
७—भगवान् और भक्त के मध्य कोई एजेन्सी नहीं है।

★

# शिक्षा जगत् को आर्यसमाज की देन

न्यायमूर्ति
श्री एच. आर. खन्ना

सन् १९७५ में जब महर्षि दयानन्द जी ने आर्यसमाज की स्थापना की थी, उससमय हम हिन्दुओं के अन्दर वहुत-सी कमजोरियां और त्रुटियां आ गयी थीं, और हमारी मानसिक अवस्था ऐसी हो गयी थी कि हम अपनी ऐतिहासिक महानताओं और प्राचीन उपलब्धियों को भूलते जा रहे थे। धर्म की जगह अन्धविश्वास बढ़ता जा रहा था, हमारे अन्दर से आत्म-विश्वास उठता जा रहा था, अपने धर्म पर हमारा गर्व धीमा पड़ गया था। यह एक बहुत ही खराब और खतरनाक अवस्था थी, जिसका दूसरे लाभ उठा सकते थे और कुछ हद तक उन्होंने इसका सचमुच लाभ उठाया भी। ऐसे समय में महर्षि दयानन्द ने हिंदुओं को झकझोरा। हिन्दुओं के अन्दर एक नई भावना पैदा की। इस प्रकार उन्होंने एक सोई हुई जाति को जगाया। उसके अन्दर उत्साह फूंका। महर्षि ने आर्यसाहित्य और वेद-मन्त्रों का गूढ़ अध्ययन करके उन पर नई रोशनी डाली। सबको नया मार्ग और नई दिशा प्रदान की। उन्होंने हिन्दू समाज के अन्दर एक नई जागृति पैदा की। इसका परिणाम यह हुआ कि जो समाज पहले अनमना और कमजोर हो रहा था, वह स्फूर्तिमान और शक्तिशाली समाज बन गया। सारा भारत वर्ष गुजरात का कृतज्ञ है कि उसने पिछली सदी में तीन ऐसी महान् विभूतियों को जन्म दिया, जिन्होंने नव-जीवन की गहरी छाप सारे देश पर छोड़ी। वे महान् विभूतियां हैं—महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी और सरदार पटेल।

महर्षि दयानन्द एक उच्चकोटि के धार्मिक नेता थे। साथ ही वे बहुत बड़े समाज के उद्धारक भी थे। उन्होंने हमें हिन्दू धर्म की महानताओं से परिचित कराया। इसके अतिरिक्त उन्होंने वेद-मन्त्रों के मूल भूत दर्शन का भी हमको ज्ञान दिया। हमारे समाज में जो कुरीतियां आ गयी थीं, उनको हटाने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। बाल-विवाह, विधवाओं की बुरी दशा, छूत-छात आदि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया और उन कुरीतियों को हटाने के लिए हिन्दू समाज को प्रोत्साहित किया।

उत्तरी भारतमें शिक्षा के क्षेत्र में जितना कार्य आर्यसमाज ने किया,शायद ही किसी अन्य संस्था ने किया हो। १९४७ से पहले सबसे ज्यादा कालेज और स्कूल पंजाब में एंग्लो वैदिक थे।

डी० ए० वी० कालेजों के पदाधिकारियों और प्राध्यापकों को पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर पर इतना प्रभाव और नियन्त्रण था कि यह आम कहा जाता था कि लाहौर में पंजाब यूनिवर्सिटी तो डी० ए० वी० कालेजों का ही एक विभाग है। उत्तरी भारत में शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का काम बहुत ही सराहनीय हैं, जिसकी मिसाल कहीं कम ही मिलेगी। डी० ए० वी० कालेजों की स्थापना लाला लाजपतराय और महात्मा हंसराज की अथक कोशिशों से हुई। थोड़े समय में ही सारे पंजाब में इतने स्कूल और कालेज खुल गये कि जैसा मैंने कहा है उनकी संख्या बाकी सब स्कूलों और कालेजों से अधिक हो गयी। इसी तरह स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की, ताकि शिक्षा की प्राचीन गुरुकुल प्रणाली भी जीवित रहे और उसके अनुसार बच्चों और नवयुवकों को शिक्षा मिल सके। इस प्रकार उत्तरी भारत में हिंदुओं में शिक्षा के फैलाव का श्रेय आर्य समाज को ही है।

आर्यसमाज हमेशा इस बात पर जोर देता रहा है कि हम अपने आचार को ऊंचा करें, हम अपने जीवन में सच्चाई और पुरुषार्थ की भावनाओं को प्रज्ज्वलित करें, अपने अन्दर कुरबानी और बलिदान की रुचि और भावना पैदा करें। कहा जाता है कि एक बार जब डी० ए० वी० कालेज की स्थापना हुई तो महात्मा हंसराज जी जो कि कालेज का हिसाब देख रहे थे तो उन्होंने देखा कि हिसाथ में कुछ आनों की गलती थी। जब महात्मा हंसराज जी ने गलती को निकालने में बहुत समय लगाया तो उनके एक मित्र ने कहा कि थोड़े आनों के लिए आप इतना समय क्यों लगा रहे हैं, तो महात्मा हंलराज जी ने उत्तर दिया कि यदि मेरा अपना हिसाब होता तो मैं ख्याल भी न करता, परन्तु क्योंकि यह कालेज का हिसाब है, इसलिए इसमें एक पाई की भी गलती नहीं होनी चाहिये। आर्यसमाज ने इस तरह Dedicated कार्यकर्त्ताओं की बड़ी संख्या पैदा की। इसके अलावा आर्यसमाज ने उच्चकोटि की ईमानदारी वाले हजारों नागरिक उत्तरी भारत में पैदा किये। स्वतन्त्रता संग्राम में जिन लोगों ने हिस्सा लिया, उनमें से बहुत-सों ने डी० ए० वी० कालेजों और स्कूलों तथा गुरुकुलों में शिक्षा पाई थी।

आज जो हम आर्यसमाज की स्थापना की शताब्दी मना रहे हैं, इस अवसर पर हमको अपने अन्दर नजर डालकर अपने आपको टटोलना चाहिये। इसमें से हरेक को अपने आपसे पूछना चाहिये कि हम उन सिद्धान्तों और आदर्शों पर किस हद तक कायम रहे हैं और उन पर अमल करते रहे हैं, जिनकी प्रेरणा हमें महर्षि दयानन्द जी ने दी थी और जिनको आर्यसमाज ने अपनाया था। आज आर्यसमाज नये युग में प्रविष्ट कर रहा है उसमें नये उमंग और उत्साह के साथ प्रविष्ट होना चाहिये। हमें अपने मनों को सुदृढ़ बनाना चाहिये और प्रतिज्ञा लेनी चाहिये कि उस अमर ज्योति के जो महर्षि दयानन्द जी ने प्रज्वलित की थी हम Torcbcrers बने, ताकि उस ज्यौति की रोशनी से न केवल अपने जीवन की राह के अन्धेरों को दूर कर सकें, बल्कि औरों को भी रास्ता दिखा सकें। जैसा कहा गया है समाज किसी निष्प्राण वस्तु का नाम नहीं, वह एक जीवित, गतिशील, क्रियाशील समुदाय का नाम है। आर्यसमाज उन सत्कर्मों, संकल्पों और सद्विचारों का समूह है, जिसके द्वारा समाज का निर्माण हो सकता है। हमको इतिहास के इस सबक को याद रखना चाहिये कि यदि कोई भी देश और जाति बढ़ते हैं और ऊंचे प्रगति की ओर जाते हैं तो वह अपने अन्दर बलिदान की, अनुशासन की, Spirit of dedication की, परिश्रम और पुरुषार्थ की भावना पैदा करते हैं और उस पर अमल करते हैं।

हमें महर्षि दयानन्द के उस बड़े सन्देश को भी नहीं भूलना चाहिये कि हम निर्भय और साहसी बनें। अपने अन्दर से कायरता को हटायें और अपने अन्दर शक्ति और तेज पैदा करें। महर्षि ने इसलिए "आर्याभिविनय" में इस मन्त्र पर बहुत जोर दिया है:—

तेजोऽसि तेजोमयि धेहि ।<br>
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ॥<br>
बलमसि बलं मयि धेहि ।<br>
ओजोऽस्योजो मयि धेहि ॥<br>
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि ।<br>
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥

आर्यसमाज शताब्दी महा पर्व पर इस वेद महासम्मेलन का उदघाटन करते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। इसके साथ मुझे झिझक भी हुई है, क्योंकि वेद सम्बन्धी सिद्धांतों के विवेचन में मैं उन विद्वानों के बीच में जो हिस्सा ले रहे हैं, अपने आपको एक अनपढ़ व्यक्ति जैसा अनुभव करता हूं।

मैं तो सिर्फ यह कह सकता हूं कि वे एक अथाह समुद्र है जिसका अभी तक थाह नहीं पाया गया वह हमारी एक ऐसी विरासत है जिसका कोई मूल्य पता नहीं ले सका।

प्रो॰ सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

# वैदिक ज्ञान-गंगा विश्व के लिए हितकारक

मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस' में एक स्थान पर लिखा है : "अगर मैं विश्व भर में से उस देश को ढूंढ़ने के लिए चारों दिशाओं में आंखें उठाकर देखूं जिस पर प्रकृति-देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम तथा सौन्दर्य खुले हाथों लुटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अंगुली भारत की तरफ उठेगी। अगर मुझसे पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे कौन-सा वह स्थान है जहां मानव के मानस ने अपने अन्तराल में निहित ईश्वर-प्रदत्त अन्यतम सद्भावों को पूर्ण रूप से विकसित किया है, गहराई में उतर कर जीवन की कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है, उनमें से अनेकों को इस प्रकार सुलझाया है, जिसको जानकर प्लेटो तथा कांट का अध्ययन करने वाले मनीषी भी आश्चर्यचकित रह जाय, तो मेरी अँगुली भारत की तरफ उठेगी, और अगर अपने से पूछूं कि हम—यूरोप के वासी जो अब तक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों में पलते रहे हैं, किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी-जीवन का परिशोध करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करे, व्यापक बनाये, सही अर्थों में मानवीय बनाये, जिससे हमारे इस पार्थिव-जीवन को ही नहीं, हमारी सनातन आत्मा को शान्ति मिले, तो फिर मेरी अंगुली भारत की तरफ उठेगी।"

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहार का कथन था कि विश्व के सम्पूर्ण साहित्य-भंडार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन मानव के विकास के लिए इतना हितकर तथा ऊंचा उठानेवाला नहीं जितना उपनिषदों का अध्ययन। इनके अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है, इनके ही अध्ययन से मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति मिलेगी। शोपनहार के इन शब्दों का उल्लेख करते हुए मैक्समूलर ने लिखा है कि अगर शोपनहार की इस भावना का समर्थन करने की आवश्यकता हो, तो दर्शन तथा धर्म के अध्ययन में व्यस्त अपने दीर्घ-जीवन के अनुभव के आधार पर मैं इन शब्दों का सहर्ष अनुमोदन करता हूं।

मैक क्रिंडल ने सिकन्दर के आक्रमणों पर लिखी अपनी पुस्तक में मैगस्थनीज के 'इंडिका'-

ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि जब सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के लिए निकला तब उसके गुरु अरस्तु ने उसे आदेश दिया कि वहां से लौटते हुए दो तोहफे लेते आना—एक था 'गीता' तथा दूसरा, वहां का कोई एक सन्त। सिकन्दर जब लौटने लगा तब उसने ओनियोक्रोटस नाम के अपने प्रतिनिधि को किसी सन्त को ढूंढ़कर साथ ले चलने के लिए भेजा। एक सन्त तो साथ चल पड़ा, दूसरे ने, जिसका नाम 'डैंडमीज' लिखा है, साथ चलने से इन्कार कर दिया। 'डैंडमीज' शब्द दंडी-स्वामी का ग्रीक रूप जान पड़ता है, क्योंकि नाम के साथ 'ईज' लगाना ग्रीक पद्धति थी। दंडी-स्वामी को सिकन्दर के दूत ने कहा कि आप चलेंगे तो जुपिटर का पुत्र सिकन्दर आपको मालामाल कर देगा। दंडी-स्वामी ने हंस कर उत्तर दिया—हमारे रहने के लिये यह शस्य-श्यामला भारत की धरती, पहनने के लिये ये वल्कल-वस्त्र, पीने के लिये कलकल रव करती गंगा की शीतल धार, खाने के लिये एक पाव आटा बहुत है—हम आत्म-धन के धनी हैं, आत्म-धन जो धनों का धन है, उस धन की दृष्टि से दरिद्र सिकन्दर हमें क्या दे सकता है।

औरंगजेब का भाई दारा उपनिषदों पर इतना लट्टू था कि काशी से कुछ पण्डितों को बुलाकर लगातार छः महीने तक उनकी व्याख्या सुनता रहा। १६५६ में उसने इनका फारसी में अनुवाद किया। दारा के इसी भाषान्तर को फ्रेंच विद्वान् एन्क्विटिल डयुपैरों ने पढ़ा, और इसे पढ़कर उसे प्राच्य शास्त्रों को पढ़ने की रुचि हुई। उपनिषदों के फारसी अनुवाद के आधार पर ही एन्क्विटिल डयु पैरों ने १८०१ ईस्वी में इनका लेटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार दारा द्वारा मुस्लिम एवं एन्क्विटिल द्वारा ईसाई जगत में उपनिषदों की विचारधारा का इतना सिक्का जमा कि पूर्व तथा पश्चिम में इन ग्रन्थों को अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ा जाने लगा।

अरस्तु, दारा शिकोह, मैक्समूलर तथा शोपनहार जिस विचारधारा की तरफ आंख उठाकर देख रहे थे उसका आदि-स्रोत वेद हैं। वेदों की विचारधारा ने भारत की भूमि को ही आप्लावित नहीं किया, विश्वभर में यही विचारधार वही, कहीं शुद्ध रूप में और कहीं रास्ते के कूड़ा-करकट को समेटी हुई अशुद्ध रूप में, जैसे गंगोत्री से निकली गंगा की निर्मल धारा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मार्ग में मिले कूड़े-कर्कट के कारण उसके शुद्ध रूप को पहचानना ही कठिन हो जाता है।

आइये, देखें कि भारत की गंगोत्री से उपजने वाली ज्ञान-गंगा की धारा किन-किन क्षेत्रों में पहुंचकर क्या-क्या रूप धारण करती गई है।

जावा की जनता मुसलमान है। ये मुसलमान रामायण तथा महाभारत पढ़ते हैं, और साथ ही कुरान को अपनी धर्म पुस्तक मानते हैं। जावा निवासी मुसलमान रामायण तथा महाभारत को अपनी ही धर्म-पुस्तकें समझते हैं। वहां के मुसलमानों में एक कथानक प्रचलित है। वे कहते हैं कि महाभारत के युद्ध के बाद युधिष्ठिर जावा में एक पहाड़ के ऊपर चढ़कर बैठ गया। उसके पास जीवन के वृक्ष की जड़ थी। पहाड़ पर चढ़ चुकने के बाद यह जड़ एक पुस्तक बन गई और युधिष्ठिर इस पुस्तक को अपने सामने खोलकर सैकड़ों साल तक बैठा रहा। इस पुस्तक के कारण वह अमर हो गया। सदियों बाद एक मुसलमान, जिसका नाम शेख सीती जेनार था उसी पहाड़ी पर चढ़ा जहां उसने युधिष्ठिर को बैठे देखा। दोनों आपस में बड़े प्रेम से मिले। शेख ने धिष्ठिर से पूछा, तुम क्या पढ़ रहे हो? युधिष्ठिर ने कहा, मेरे पास जीवन की पुस्तक है। इसके

प्रभाव से अब तक जीवित हूं, मरा नहीं । शेख ने युधिष्ठिर से पुस्तक मांगी, और देखकर चिल्ला पड़ा—अरे यह तो कुरान है, लाओ, यह पुस्तक मुझे दे दो । युधिष्ठिर ने वह पुस्तक शेख को दे दी और मर गया । इधर शेख ने जावा में कुरान का प्रचार किया । जावा के इस कथानक में वृक्ष की जड़ के पुस्तक बन जाने, उससे युधिष्ठिर के अमर हो जाने, और जड़ से बनी उस पुस्तक के कुरान होने का अलफलैला का किस्सा सिर्फ किस्सा ही नहीं है। अथर्ववेद, ४, ३५, ६ में एक मन्त्र हैं :

**'यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः तेनोदनेन अतितराणि मृत्युम् ।'**

इसका अर्थ है—एक ओदन है, ओदन अर्थात् भात—भात बनता है चावल से, चावल अर्थात् एक तरह का पौधा । उससे **'मृत्युम् अतितराणि'**—मृत्यु को तर जाता हूं । ब्रह्म को यहां एक पौदा कहा गया है जिसमें वेद निहित हैं । जैसे शारीरिक उन्नति के लिए वनस्पति की आवश्यकता है, वैसे ही आध्यात्मिक उन्नति के लिये वेद के ज्ञान की आवश्यकता है—इसी से मृत्यु को तरा जाता है । वेद का यह आध्यात्मिक भाव जावा में एक कथानक बन गया । नहीं तो युधिष्ठिर के हाथ में वृक्ष की एक जड़ थी, वह पुस्तक बन गई, उससे वह अमर हो गया – इन सब बातों की कोई तुक नहीं बैठती ।

पारसियों की धर्म-पुस्तक 'जिन्दावस्था' में परमात्मा कहता है कि मेरा नाम, 'अम्हि' तथा 'अम्हि यदम्हि' है । 'अम्हि'-शब्द संस्कृत के 'अस्मि' का अपभ्रंश है । पारसी भाषा में 'स' को 'ह' हो जाता है । इस समय भी पारसियों के सम्पर्क में रहने वाले गुजराती लोग 'स' को 'ह' बोलते हैं । वे 'तुम्हारा साथी कहां है' को 'तमारो हाथी क्यां छे' बोलते हैं । **'अस्मि'** का अर्थ है—'मैं हूं,' **'अस्मि यदस्मि'** का अर्थ है—'मैं हूं वह में हूं ।' जिन्दावस्था में ही नहीं, यहूदियों तथा ईसाइयों के मान्य धर्म-ग्रन्थ ओल्ड टेस्टमेंट की 'एक्सोडस'-पुस्तक में भी परमात्मा मूसा को कहता है—मेरा नाम 'I am' तथा 'I am that I am' है । यहूदियों ने परमात्मा के लिये ये दोनों नाम पारसियों से लिये हैं । यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में एक स्थल पर **'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'** आता है । **'सोऽहमस्मि'** का ही जिन्दावस्था में 'अम्हि' एवं बायबल में 'I am' बना है । यजुर्वेद के दूसरे अध्याय के २८वें मन्त्र में **'इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि'**—यह आता है इसका वही अर्थ है जो पारसियों के 'अम्हि यदम्हि' अथवा यहूदियों एवं ईसाइयों के 'I am that I am' का है । उपनिषदों में जगह-जगह **'सोऽहमस्मि'** का उल्लेख है । इन सब वाक्यों का तात्पर्य यह है कि मैं अपने शरीर को 'मैं' माने बैठा हूं, मैं शरीर नहीं हूं, 'आत्मा' हूं इन वाक्यों में वैदिक विचारधारा की आत्मा निहित थी, इसलिये इन वाक्यों का वेदों में, उपनिषदों में सर्वतोमहान् महत्व है, इसी महत्व के कारण यह बीज-मन्त्र पारसियों, यहूदियों तथा ईसाइयों में भी पहुंचा, यद्यपि इसके मूलार्थ को वे भूल गये ।

परमात्मा के उक्त नाम के अलावा यहूदियों में परमात्मा का नाम 'जिहोवा' है। वेद में अग्नि को सम्बोधित करते हुए 'यह्व'-शब्द का प्रयोग किया गया है । ऋग्वेद, १० मण्डल, ११० सूक्त का तीसरा मन्त्र है :—

**'आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।**
**त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ।।'**

लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक 'Vedic Chronology and Vedang Jyotish' में इस तथा अन्य मन्त्रों के आधार पर सिद्ध किया है कि यहूदियों का 'जिहोवा' वैदिक मन्त्रों का **यह्व'** ही है। यहूदी अग्नि के उपासक थे, वैदिक आर्य भी अग्निहोत्र करते थे। यही कारण है कि अग्नि को सम्बोधन किया जाने वाला 'यह्व'-शब्द यहूदियों में 'जिहोवा' बन गया। इसके अतिरिक्त **'जुहु'** धातु से 'जुहोति' आदि शब्द बनते हैं जिनसे विकृत रूप 'जिहोवा' बन गया। यहूदी लोग अग्नि के उपासक थे, क्योंकि बायबल के अनुसार जब मूसा उन्हें मिस्र से निकाल कर कैनान ले जा रहा था, तब जिहोवा अग्नि का रूप धारण कर उनका मार्ग-प्रदर्शन कर रहा था।

जिन्दावस्था का एक अध्याय 'होम यष्ट' है। वहां करेशानी नाम के एक राजा का उल्लेख है। वहां लिखा है कि 'होम' ने करेशानी राजा को इसलिये राज्य-च्युत कर दिया क्योंकि उसने अपने राज्य में **'अपां अविष्टिश'** का पाठ करना बन्द कर दिया था। पारसी-धर्म के विद्वान् डा० हाग का कथन है कि 'अपां अविष्टिश' वेदों के **'शन्नोदेवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये'** का सूचक है। इस मन्त्र में 'अभिष्टये आपः' आता है, उसी को उलट कर 'अपां अभिष्ठये' कर दिया गया है। इस प्रकार शब्दों का पलट जाना कोई नई बात नहीं है। संस्कृत के 'वक्र'-शब्द के पलट जाने से अंग्रेजी का 'कर्व-शब्द, 'भूगोल'-शब्द के पलट जाने से अंग्रेजी का 'ग्लोब'-शब्द बना है। हिन्दी में भी कई लोग चाकू को काचू बोल देते हैं। किसी समय ईरान के राजा करेशानी के राज्य में अथर्ववेद का पाठ होता था। महाभाष्य में पतंजलि मुनि ने जहां चारों वेदों को सूचित करने के लिये 'शन्नोदेवी'-मन्त्र का उल्लेख किया है जिसमें अभिष्टये आपः' आता है, जिन्दावस्था का कहना है कि करेशानी राजा को इसलिये पदच्युत कर दिया गया क्योंकि उसने अपने राज्य में 'आपः अभिष्ठये'—अर्थात्, अथर्ववेद का पाठ करना बन्द कर दिया था।

पारसियों के 'नामाह जरदुश्त' में लिखा है कि भारत से एक बड़ा भारी विद्वान् आयेगा जिसका नाम 'व्यास' होगा। वह जरदुश्त के साथ वाद-विवाद करेगा। इसके आगे वे प्रश्न दिये गये हैं जिन पर विवाद होगा। इससे स्पष्ट है कि पारसी धर्म तथा वैदिक धर्म का आपस में काफी सम्बन्ध रहा है। यह सम्बन्ध इतना गहरा रहा है कि पारसियों में भी **इन्द्र, वृत्र, अर्यमा, वरुण, नासत्यौ, भग, नाराशंस, वायु, वृत्रघ्न** आदि सब वैदिक-देवता पाये जाते हैं। इनकी देवमाला को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि किसी समय वैदिक-धर्म की इन दोनों शाखाओं में—पारसियों तथा दूसरे आर्यों में—इतना मतभेद हो गया था कि जहां 'इन्द्र' को वेद में एक बड़ा भारी देवता कहा गया है, वहां जिन्दावस्था में 'इन्द्र' कौ बड़ा भारी राक्षस माना गया है। यह मतभेद इतना बढ़ा कि **'देव'**-शब्द का प्रयोग पारसियों में शैतान के लिये किया जाने लगा। अंग्रेजी का **'डेविल'**-शब्द भी 'देव' से निकला है जिसका देव से उल्टा अर्थ है। वैदिक शब्दों के ये विरोधी प्रयोग सिद्ध करते हैं कि गंगोत्री से निकली गंगा यहां कलकत्ते में जाकर कीचड़ बन गई है।

ग्रीक लोगों का परमात्मा 'जीयस' कहलाता है। शब्द-शास्त्र के अनुसार **'जीयस'** की व्युत्पत्ति 'डियोस' से हुई है। शब्द-शास्त्रियों ने इसे वैदिक-शब्द 'द्यु:' से मिलाया है। संस्कृत में 'स्' के स्थान में विसर्ग हो सकता है, इसलिये 'द्यु:' असल में **द्युस्**'-शब्द है। जिससे ग्रीक लोगों का 'डियोस' या 'जीयस'-शब्द बना है जो ग्रीक तथा वैदिक दोनों के यहां परमात्मा के लिये प्रयुक्त होता है।

रोमन लोगों के यहां परमात्मा का नाम 'जुपिटर' था, इसीलिये सिकन्दर को जुपिटर का पुत्र कहा जाता था। जुपिटर का शुद्ध वैदिक मूल-शब्द 'द्यु: पितर' है—इसमें 'द्यु: और' पितर ये दोनों शब्द मिल गये हैं। 'द्यु:' का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, उसी के साथ 'पितर' के मिल जाने से वैदिक 'द्यु: पितर' से रोमन भाषा का 'जुपिटर' शब्द बना है, जो परमात्मा का नाम है।

वेद की गंगा देश-देशान्तर में कहां तक बही—इसे जानने के लिये भाषा-विज्ञान तथा शब्द-शास्त्र बहुत सहायक हैं। जब वेदों की गंगा दुनिया भर में आप्लावित होने लगी तो उसके साथ बहुत-कुछ वहता चला गया। भारत के स्मृतिकार **'मनु'** महाराज थे। यहूदियों के स्मृतिकार का नाम **'मोजेज'** या **'मूसा'** है। 'मनु:' की विसर्गों को 'स्' कर दिया जाये, तो 'मनुस्' (मोजेज) हो जाता है जो 'मनु:' का अपभ्रंश है। ईजिप्ट का स्मृतिकार **'मेनस्'** था, ग्रीक लोगों का स्मृतिकार **'माइनोज'** था। ये सब शब्द भारत के 'मनु:' के ही रूप हैं।

फिलो नाम के एक ऐतिहासिक हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि ईजिप्ट में एक सम्प्रदाय था जिसका नाम **'थेराप्यूट'** था। ये 'थेराप्यूट' कौन थे? पैलेस्टाइन में एक धर्म प्रचलित था जिसका नाम 'एसेनीज' था। इस धर्म का प्रवर्तक था हजरत मसीह का गुरु जान दि बैप्टिस्ट। 'ऐसेनीज'-धर्म की शाखा ही 'थेराप्यूट'-सम्प्रदाय था। थेराप्यूट शब्द बौद्धों के 'थेरपुत्त' का अपभ्रंश है, और प्राकृत भाषा का 'थेरपुत्त'-शब्द संस्कृत के **'स्थविर-पुत्र'** का विकृत रूप है। बौद्ध-धर्म की एक प्रसिद्ध शाखा अपने को 'थेरपुत्त' कहती थी। **'थेरपुत्त'** जो बौद्ध थे, ईजिप्ट में में जाकर 'थेराप्यूट' कहलाये। उन्हीं से जान दी बैप्टिस्ट ने शिक्षा ग्रहण की, और जो-कुछ उन लोगों से उसने सीखा, उसकी अपने शिष्य ईसामसीह को शिक्षा दी। तभी बौद्धधर्म तथा ईसाइयत अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि सिद्धान्तों की इतनी समानता पायी जाती है, जो मूलत: वैदिक विचारधारा के सिद्धान्त है।

वैदिक-भाषा के एक-एक शब्द में सदियों का इतिहास सिमटा पड़ा है। मध्य-एशिया में एक प्रजाति थी जिसका नाम कस्साइत था। इसने बैबीलोन को जीत कर उसे अपनी राजधानी बना लिया था। यह १६वीं सदी ईसा पूर्व की बात है। इस प्रजापति के देवता 'सूर्य' तथा 'मरुत्' थे, जो वैदिक देवता हैं। इसी कस्साइत जाति के राज्य के उत्तर-पश्चिम में एक मित्तनी तथा दूसरी खतनी जातियां रहती थीं। मितनी तथा खत्तनी जातियां आपस में झगड़ा करती थीं। ईसा से १३८० वर्ष पूर्व इन दोनों जातियों की आपस में सन्धि हो गई। यह सन्धि मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण है। यह सन्धि मित्तनी जाति के राजा दशरथ के पुत्र मतिउत तथा खतनी के राजा सुबुलुलिम के बीच हुई थी पट्टियों पर सन्धि के साक्षी के रूप में **'मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ'** देवताओं का उल्लेख है। वेद में मित्र तथा वरुण एक-साथ आते हैं—**'शन्नो मित्रः शं वरुणः'**। इन देवताओं को लिखा भी अपने विशेष ढंग से गया है। 'मित्र' को मि-इत्-अस्, 'वरुण' को व-अर-रु-उग-उस्, 'इन्द्र' को इन्-द-र, नासत्यौ को ना-स-अति-इय—इस प्रकार लिखा गया है। वैदिक-काल में वैदिक पदों को इस प्रकार लिखने और इसी प्रकार पढ़ने की प्रथा थी जो अब तक दक्षिण भारत में प्रचलित है। ये पट्टियां बोगजकाई नामक स्थान पर मिली हैं। इन पट्टियों से सिद्ध होता है कि मित्तनी तथा खत्तनी प्रजातियां आर्यों की शाखाएं थी, और मध्य-एशिया में वैदिक-धर्म

की ध्वजा फहरा रही थीं, तभी तो ऋग्वेद के देवताओं को साक्षी में रख कर इन्होंने सन्धि की थी।

बोगजकाई में मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण एक पुस्तक मिली है जिसका विषय रथ-संचालन है। इस पुस्तक में पहियों के घूमने के लिए '**आवर्त्तन्न**'-शब्द का प्रयोग हुआ है जो संस्कृत का '**आवर्तन**' शब्द है। इसी प्रकार इस पट्टी पर एक चक्र के लिये '**ऐकवर्तन्न**', तीन चक्रों के लिये '**तेरवर्तन्न**', पांच चक्रों के लिये '**पंजवर्तन्न**' तथा सात चक्रों के लिये '**सत्तवर्तन्न**' शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो सब संस्कृत के शब्द हैं।

वैदिक-विचारधारा शब्दों के माध्यम से ही नहीं, विचारों के माध्यम से भी देश-देशान्तर में फैली है। विचारों के माध्यम से वैदिक विचारधारा जिस प्रकार फैली है, उसे देखते हुए आश्चर्य होता है कि एक ही स्रोत से जन्म लेने वाले विचार और धर्म क्योंकर एक-दूसरे के विरुद्ध रूप धारण कर गये हैं।

विद्वान् लोग संसार की भाषाओं को 'आर्य' तथा 'सेमेटिक'—इन दो भागों में बांटते हैं। इसी प्रकार धर्म भी 'आर्य' तथा 'सेमेटिक'—इन दो भागों में बांटे गये हैं। आर्य-धर्म में भारतीय, पारसी, रोमन, यूनानी आदि धर्म आ जाते हैं, सेमेटिक में यहूदी, ईसाई, इस्लाम धर्म आ जाते हैं। अक्सर यह समझा जाता है कि आर्य तथा सेमेटिक का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु गहराई में जाने से यह बात प्रतीत नहीं होती। आर्य तया सेमेटिक धर्मों में—वैदिक, पारसी, यहूदी, ईसाई, मुस्लिम धर्मों में—कई ऐसी समानताएं पायी जाती हैं जो धर्म के विद्यार्थी को आश्चर्य में डाल देती हैं। ये समानताएं तभी समझ में आ सकती हैं जब यह समझा जाय कि इनका मूल-स्रोत भी वेद ही है।

सेमेटिक-धर्मों में सृष्टि की उत्पत्ति के साथ-साथ खुदा और शैतान दोनों का जिक्र पाया जाता है। शैतान का जिक्र यहूदी, ईसाई तथा मुहम्मदी—तीनों धर्मों में मौजूद है। ओल्ड टेस्टमेंट में लिखा है कि खुदा ने अदन के बगीचे में '**ट्री आफ नौलेज**' को रोपकर आदम से कह दिया कि इसके फल को मत खाना। शैतान ने जिसकी शक्ल सांप की थी, आकर आदम को बहकाकर उसे फल खाने को दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि खुदा में और शैतान में तू-तू मैं-मैं हो गई और खुदा ने शैतान को—सांप को—शाप दिया कि तू जमीन पर जा गिरेगा और पेट के बल रेंगा करेगा। यह कहानी ज्यों-की-त्यों ईसाइयत तथा इस्लाम ने स्वीकार करके इसे अपने-अपने धर्मों में सम्मिलित कर लिया। मूल रूप में यह लड़ाई 'ट्री आफ नौलेज' के लिये हुई। खुदा यह चाहता था कि 'ट्री आफ नौलेज' उसी के पास रहे, शैतान ने—या सांप ने—उसे आदमी तक पहुंचा दिया, इसी से सांप को जमीन पर पटक दिया गया। वेदों में इन्द्र और वृत्र की लड़ाई का जिक्र आता है। इन्द्र लगातार असुरों से लड़ता रहता है, असुरों का मुखिया वृत्र है। वेद में '**वृत्र**' के लिये '**अहि**' शब्द भी आता है। ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ३२, मन्त्र ३ में 'इन्द्र' और '**अहि**' की लड़ाई का जिक्र पाया जाता है। वहां लिखा है:—

**वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।**
**आ सायकं मघवा अदत्त वज्रं अहन्नेनं प्रथमजाम् अहीनाम्।**

अर्थात् 'इन्द्र' ने 'सोम' का पान किया और फिर उसने वज्र लेकर 'प्रथम अहि' को मार डाला। 'अहि' जब मरा तब उसका वेद में इस प्रकार वर्णन किया है:—

**अपादहस्तः अपृतन्यदिन्द्रम्** । (ऋग्वेद, १, ३२, ७)

हाथ-पैर तो हैं नहीं और इन्द्र पर आक्रमण करने चला ! इसका नतीजा यह हुआ कि:—

**अहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः** । (ऋग्वेद, १, ३२, ५)

अर्थात् 'अहि' पृथिवी पर आ सोया, आ गिरा।

सेमेटिक धर्मों में खुदा और सांप का 'ट्री आफ नौलेज' के लिये झगड़ा होता है और सांप पृथिवी पर आ रेंगने लगता है, वैदिक-धर्म में इन्द्र और अहि का '**सोमरस**' के लिये झगड़ा होता है और अहि पृथिवी पर आ सोता है वेद से जो जरा-भी जानकारी रखता है उसे मालूम है कि वेद में 'सोम' का प्रयोग 'जल' तथा 'ज्ञान'—इन दो अर्थों में हुआ है। बायबल में सोम के 'ज्ञान'—इस अर्थ को ले लिया गया है, अन्यथा बायबल का 'ट्री आफ नौलेज' वेद का 'सोम-रस' ही है। इसके अलावा वैदिक-भाषा से परिचय रखने वाले यह भी जानते हैं कि **अहि** का अर्थ **'सांप'** और **'बादल'**—ये दो हैं। बोलचाल की संस्कृत में 'अहि' का अर्थ 'सांप' ही है। 'अहि' की सोम-रस के लिये इन्द्र से लड़ाई हुई, इसका सेमेटिक धर्मों ने यह अनुवाद किया है कि अहि, अर्थात् सांप की, सोम-रस के लिये, अर्थात् 'ट्री आफ नौलेज' के लिये, इन्द्र से, अर्थात् खुदा से लड़ाई हुई। वेद में लिखा है कि अहि के हाथ-पैर नहीं थे, सांप के भी हाथ-पैर नहीं होते। वेद में लिखा है कि अहि जमीन पर आ पड़ा, 'बायबल में लिखा है—'Upon the belly shalt thou go'। इससे स्पष्ट है कि बायबल की खुदा और सांप की कहानी वेद के इन्द्र तथा अहि के सन्दर्भ को न समझकर घड़ ली गई है जिन्दावस्था में भी शैतान का स्वरूप 'अहि' का ही है। उनकी भाषा में **'अहि'** को **'अज्हि'**—कहा है। शायद आप इस बात पर आश्चर्य करें कि वेद में शैतान की कहानी कहां से आ गई। वस्तुतः ऋग्वेद के इस सूक्त को पढ़ जायें, तो स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जो वाष्प उठते हैं, हर समय बादल मंडराते रहते हैं, धुंध छाया रहता है, सूर्य के दर्शन तक नहीं होते, यह उस समय का वर्णन है। तभी आगे चलकर कहा है:—

**'अवासृजः सर्तवे सप्तसिन्धून् ।'**

अहि, अर्थात् बादल, जब पृथिवी पर आ गिरा, तब नदियां बहने लगीं। अहि अर्थात् बादल जल को अपने पास रखना चाहता है, बरसाना नहीं चाहता, परन्तु इन्द्र अर्थात् सूर्य उसके टुकड़े-टुकड़े करके उसे पृथिवी पर ला पटकता है। बादल अपादहस्त होता है—उसके हाथ-पैर नहीं होते। जब वह नीचे आ बरसता है तब उससे नदियां बहने लगती हैं। वेद के इस वर्णन से सेमेटिक धर्मों में सांप की—शैतान की—कहानी से जन्म लिया है, और इसका कारण 'अहि'-शब्द के अर्थ को न समझना है। 'अहि' का अर्थ सांप भी है, बादल भी है। सांप के हाथ-पैर नहीं होते, बादल के भी नहीं होते। इस गलतफहमी से वेदों का आदि-सृष्टि का एक सुन्दर वर्णन सेमेटिक धर्मों में जाकर कुछ का कुछ बन गया है, परन्तु इससे यह बात जरूर सिद्ध होती है कि शुद्ध पानी की धारा गंगोत्री से चली है, जो आगे चलकर कूड़ा-कर्कट लेकर गदला पानी बन गई है।

सृष्ट्युत्पत्ति के बाद सेमेटिक धर्मों में 'नूह' के तूफान का वर्णन पाया जाता है। **शतपथ**

ब्राह्मण में 'मनुः' के तूफान का वर्णन है, जिन्दावस्था में वैवस्वत यम के तूफान का वर्णन है। अगर 'मनुः' का 'म' उड़ा दिया जाय, 'नुः' बन जाता है। 'नुः' की विसर्गो के 'स्' को 'ह्' बोलें तो 'नूह' का तूफान 'मनुः' का तूफान बन जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शतपथ ब्राह्मण का कथानक भिन्न-भिन्न धर्मों में पहुंचा, और उनकी धर्म पुस्तकों में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर गया।

आर्य तथा सेमेटिक धर्मों में जिन उक्त दो कथानकों का हमने वर्णन किया, उनके अलावा एक और कथानक है जो आश्चर्यजनक तौर पर वैदिक-साहित्य के माध्यम से होकर संसार के धर्मों में विकृत होकर पहुंचा है। इसका सम्बन्ध गौ से है।

इस्लाम से थोड़ा-सा भी परिचय रखने वाले जानते हैं कि 'बकरीद' के नाम पर गौ की कुर्बानी दी जाती है। वहां गाय का मारा जाना एक उत्सव का रूप धारण कर गया है। मुसलमानों ने गाय का इस प्रकार मारना यहूदियों की धर्म-पुस्तक 'डिट्रौनिमी' में लिखा है कि यदि कत्ल हो जाय, और उसका कातिल न मिले, तो एक नया ताजा बछड़ा लेकर मारा जाय, और उसके खून से कत्ल हुए व्यक्ति के रिश्तेदार हाथ धोकर कहें कि हमने उक्त व्यक्ति को नहीं मारा, तो वे पाप के भागी नहीं होंगे। यहूदियों में पाप से बचने के लिये गाय का मारा जाना पाया जाता है। मुसलमानों में भी यही बात है। भारत में भी बहुत देर तक 'गोमेध'-यज्ञ होता रहा और इसके नाम पर यज्ञों में गोवध होता रहा। पारसियों में गोमेध के लिये 'गोमेज'-शब्द पाया जाता है, परन्तु उनके धर्म में 'गोमेज' का अर्थ गोकुशी न करके खेती करना लिया गया है। पारसी धर्म के विद्वान् डा० हाग पारसियों की गोमेज-विधि पर लिखते हैं :—

"Geush urva means the universal soul of the earth, the cause of all l fe and gr wth. The literal meaning cf the word 'soul of the earth' implies a simile for the earth is compared to a cow. By its cutting and dividing, ploughing is to be understood."

रोमन साम्राज्य के अधःपतन से २-३ सौ वर्ष पहले वहां एक धर्म फैला हुआ था जिसका नाम 'मित्र'-धर्म था। इस धर्म का विस्तार इतना अधिक था जितना पीछे ईसाइयत का हो गया। ब्रिटिश म्यूजियम में इस धर्म का एक संगमरमर का बुत रखा हुआ है। यह बुत क्या है, 'गोमेध'-यज्ञ की प्रतिमा है। उसमें गाय की एक मूर्ति बनी हुई है जिस पर 'मित्र'-देवता बर्छा लेकर आक्रमण कर रहा है, परन्तु बर्छा खाकर गाय की बगल में से खून की धार बहने के स्थान में गेहूं, जौं और इसी प्रकार के दूसरे अनाज उपज रहे हैं। पारसी-धर्म का 'गोमेज'-शब्द उस समय का है जब गोमेज वा गोमेध से मतलब सिर्फ कृषि समझा जाता था, इसके साथ गोकुशी का कोई सम्बन्ध नहीं था, मित्र-धर्म का संगमरमर का बुत जिसमें गाय के पेट में बर्छा लगने पर धान पैदा हो रहे हैं, उस काल का है जब लोग गोमेध से मतलब गोकुशी समझने लगे थे, परन्तु 'गोमेध' का अर्थ खेती करना है—यह विचार भी मौजूद था, या इस बुत बनाने वाले ने इस विचार को जीवित करने का प्रयत्न किया था। इसके आगे यहूदी तथा इस्लाम धर्म में 'गोमेध' का मूल-अर्थ भुला दिया गया, और उसकी जगह भ्रमवश गौ का मारना हो गया। वैदिक संस्कृत में 'गौ-शब्द के दोनों अर्थ हैं—पृथ्वी भी, गौ भी। जैसे 'अहि' का अर्थ बादल न करके सांप कर लिया गया और इससे सैमेटिक धर्मों में एक गलत कथानक उत्पन्न हो गया, वैसे ही 'गौ' का अर्थ पृथ्वी न करके सास्नादिमती प्राणी—गौ—कर लिया गया, और इससे यहूदी तथा मुहम्मदी मतों में एक भारी गलती

पैदा हो गई। कुरान में भी ऐसे निर्देश हैं जिनसे प्रकट होता है कि गौ को मारने का विचार किसी-न-किसी गलतफहमी से पैदा हुआ है। सूरतुलबकर की ६३ से ६८ आयतों में लिखा है—

"और मूसा ने जब अपने लोगों को कहा कि खुदा ने गाय की कुर्बानी को कहा है तो वे लोग कहने लगे, क्या हमसे मजाक करते हो ? इसके बाद उन लोगों ने तीन बार मूसा पर विश्वास नहीं किया और उसे बार-बार खुदा के पास भेजा और पूछा कि गाय की कुर्बानी से तुम्हारा क्या मतलब है ? जब हर बार मूसा ने गाय की कुर्बानी का ही जिक्र किया तब जाकर उन लोगों ने माना।"

इससे भी ध्वनित होता है कि हजरत मुहम्मद के दिल में यह भाव था कि गाय को मारने के ख्याल में कहीं-न-कहीं गलती है, लेकिन क्योंकि यहूदियों में गोकुशी चल पड़ी थी, इसलिये हजरत मुहम्मद ने इसे ले लिया। असल में, प्राचीन धर्मों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि बकरीद गोमेध का अर्थ कृषि था। 'गो'-शब्द में गलती खाकर वैदिक-धर्म का कृषि का ऊंचा विचार अन्य धर्मों में पहुंचते-पहुंचते कुछ-का-कुछ बन गया। वैदिक-साहित्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि वैदिक-काल में 'गौ' शब्द का मुख्य अर्थ पृथ्वी था। पृथ्वी के संस्कृत नामों की परिगणना करते हुए **'गौ, ग्मा, क्ष्मा'**—आदि शब्द कहे गये हैं जिनमें 'गौ'-शब्द को पहला स्थान दिया गया है। लैटिन आदि भाषाओं से बने अंग्रेजी शब्दों में भी ज्योमेट्री, जियोलोजी आदि शब्दों 'ज्यो' गौ का ही दूसरा रूप है—'ग' को 'ज' हो जाता है। 'गोमेध'-यज्ञ का वैदिक अर्थ कृषि था जो 'गौ'-शब्द का अर्थ न समझने के कारण अनर्थ का कारण बन गया।

अगर आर्य तथा सेमेटिक धर्मों के आधारभूत मूल-तत्वों पर दृष्टिपात किया जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक विचारधारा के मुख्य सिद्धान्तों को किसी-न-किसी रूप में सब धर्मों ने अपनाया है। योग-दर्शन में ५ यमों तथा ५ नियमों का वर्णन है। ये सब मिल दस होते हैं। पांच यम हैं—**अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह**। पांच नियम हैं—**शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान**। योग-मार्ग का अवलम्बन करने के लिये इनके अनुसार जीवन बिताना आवश्यक था। बौद्धों में जब किसी को दीक्षा दी जाती थी, तब उस दीक्षा को उपसम्पदा कहते थे। उपसम्पदा के समय 'बुद्धं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि'—इस मन्त्र का तीन बार पाठ होता था, उसके बाद दस आदेश दिये जाते थे जो प्रायः वही थे जो योग-दर्शन में दिये गये हैं। यहूदियों में भी कथानक प्रचलित है कि जिहोवा ने मूसा को मौन्ट सिनाई पर बुलाकर दो पट्टियों पर 'खुदाई फरमान' लिखा जिसमें दस आज्ञाएं (Ten Commandments) यहूदियों को दी गई थीं। वे दस आज्ञाएं निम्नलिखित हैं—

1. Thou shalt not kill (अहिंसा)
2. Thou shalt not commit adultery (ब्रह्मचर्य)
3. Thou shalt not steal (अस्तेय)
4. Thou shalt not bear false witness (सत्य)
5. Thou shalt not covet (अपरिग्रह)
6. Have no other God but Jihovah (ईश्वरप्रणिधान)
7. Make no image for the purpose of worship (शौच)

8. Not to take Jehovah's name in Vain (स्वाध्याय)
9. Not to work on Sabbath day (तप)
10. Honour thy Parents (सन्तोष)

उक्त दस आज्ञाएं ओल्ड टेस्टमेंट में दी गई हैं। इनमें योग-दर्शन के पांच यमों पर विशेष बल दिया गया है, बाकी योग-दर्शन की दस संख्या की पूर्ति की गई है। हजरत मसीह ने "सरमन आन दी मौउन्ट" में इन्हीं पांच यमों की विस्तृत व्याख्या की है। यहूदी लोग यमों की वह ऊंची व्याख्या नहीं कर सके थे जो ईसा मसीह ने की है। ईसा मसीह ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की जो व्याख्या की है वह योग-दर्शन की व्याख्या के इतना निकट है कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी भारतीय सन्त के सम्पर्क में आया था या भारत में ही आकर उसने इन सिद्धान्तों की दीक्षा यहां के सन्तों या बौद्ध-भिक्षुओं से ग्रहण की थी।

पांचों यमों को इस प्रकार एक ही जगह इकट्ठा कर देना और उनका वैदिक, बौद्ध, यहूदी तथा ईसाई धर्मों में एक-सा पाया जाना सिद्ध करता है कि इस विचारधारा का एक ही स्रोत है, और वह स्रोत वेदों के सिवाय दूसरा कौन-सा हो सकता है, क्योंकि सर्वसम्मति से इनमें सबसे प्राचीन वेद ही हैं ?

वेद के अन्य विचारों की तरह "पुनर्जन्म" का विचार भी वेदों से दुनिया भर में फैला है। अनेक विद्वानों का मत है कि पाइथोगोरस ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की भारत में जाकर शिक्षा पाई थी। जैसे उपनिषदों में—**अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश** तथा **विज्ञानमयकोश** का वर्णन पाया जाता है, वैसे पाइथोगोरस की शिक्षाओं में भी इन कोशों का वर्णन है जिन्हें उसने Sheaths कहा है। पुनर्जन्म के साथ इन कोशों का सम्बन्ध है। प्लेटो भी पुनर्जन्म को मानता था। यहूदी लोग जान दी बैप्टिस्ट को इलिजा का, और अनेक व्यक्ति क्राइस्ट को जान दि बैप्टिस्ट का द्विरागमन मानते थे। सेंट आगस्टाइन ने लिखा है:—Did I not live in another body before entering my mother's womb ?—क्या मैं अपनी माता के गर्भ में आने से पूर्व पहले मौजूद नहीं था ? ऋग्वेद में मन्त्र आता है:—

**'पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौः देवी पुनरन्तरिक्षम्।'**

प्रायः समझा जाता है कि सेमेटिक धर्मों में—यहूदी, ईसाई, इस्लाम में—पुनर्जन्म का विचार नहीं है, परन्तु यह भूल है। यहूदी तथा ईसाई Resurrection को मानते हैं, मुसलमान कयामत को मानते हैं। 'रिसरेक्शन' में Re का अर्थ है—'पुनः', और Surgo एक लैटिन शब्द है जो संस्कृत में 'सर्ग' है—'सर्ग'-शब्द सृज सर्जने धातु से बना है—'सर्ग' अर्थात् उत्पन्न होना। इस प्रकार 'Resurrection' का शब्दार्थ ही 'पुनर्जन्म' है। कयामत भी मर कर फिर से जी उठने को कहते हैं। 'पुनर्जन्म', 'रिजरेक्शन' तथा 'कयामत' में इतना ही भेद है कि पुनर्जन्म मानने वाले तो मरने के बाद फल भोगने के लिये अनेक बार जन्म लेना मानते हैं, परन्तु सेमेटिक धर्मों में फल भोगने के लिये सिर्फ एक बार उत्पन्न होना माना है। 'रिजरेक्शन' तथा 'कयामत' में प्रलय के पुनर्जन्म के भाव को जोड़ दिया गया है, अन्यथा मर कर फिर जी उठने का शुद्ध वैदिक-विचार 'रिजरेक्शन' तथा 'कयामत' दोनों में पाया जाता है, एक तरह से इन दोनों शब्दों का अर्थ ही पुनर्जन्म है। सेमेटिक धर्मों ने पुनर्जन्म के वैदिक-विचार को तो ले लिया, परन्तु उस विचार को अधूरा लेने के कारण गलती खा गये।

एक और बात आश्चर्य की है। मृत्यु के बाद तीन दिन तक आत्मा भ्रान्त अवस्था में रहता है—यह विचार भी सब धर्मों में पाया जाता है, परन्तु इसका मूल भी उपनिषद् में है। जब नचिकेता यम के यहां गया, तब उपनिषद् कहती है कि तीन रात तक उसका मृत्यु से साक्षात्कार नहीं हुआ—**'तिस्रो रात्रीः यदवात्सीः गृहे मे।'** जिन्दावस्था के १९वें फरगार्ड के २८वें भाग में लिखा है कि मरने के तीसरे दिन बाद आत्मा 'मिश्र'—देवता के यहां पहुंचता है। ईसाई लोग भी ईसा का मरने के तीसरे दिन बाद उठना मानते हैं। मुसलमानों में मरने के तीसरे दिन बाद कब्र पर जाते हैं। हिन्दुओं में तीसरे दिन फूल चुने जाते हैं। 'रिजरेक्शन', 'कयामत' आदि शब्दों से यह स्पष्ट है कि मर कर फिर से जी उठने—पुनर्जन्म—का वैदिक-विचार सेमेटिक धर्मों में भी पहुंचा है, भले ही वह विकृत-रूप में पहुंचा हो, इसके साथ उपनिषद् का तीसरे दिन मृत्यु के साथ साक्षात्कार का विचार भी इन धर्मों के साथ जुड़ गया है।

मृत्यु के बाद क्या होता है—इस सम्बन्ध में वैदिक तथा सेमेटिक धर्मों का क्या कहना है, और वे वैदिक विचारों के लिये कहां तक ऋणी हैं? मुसलमानों तथा पारसियों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार स्वर्ग में प्रविष्ट होने से पहले एक पुल पर से गुजरना पड़ता है। मुसलमान उसे 'अल सिरात' कहते हैं, पारसी उसे 'पुल चिनवद' कहते हैं। दोनों के यहां यह पुल लम्बा, चौड़ा नहीं है, छुरे की धार की तरह बारीक है। उपनिषद् में कहा है—**'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।'** अर्थात्, वहां जाना छुरे की तेज धार पर चलने के समान है। जीवन का पथ अत्यन्त कठिन है, अध्यात्म मार्ग पर चलना है—इस वैदिक विचार को सेमेटिक धर्मों ने पुल का नाम दे दिया है। परन्तु, स्वर्ग किसे कहते हैं? वैदिक विचारधारा के अनुसार स्वर्ग और नर्क कोई लोक विशेष नहीं हैं। इस धरती पर स्वर्ग है, इसी धरती पर नर्क है। 'स्व' का अर्थ है—'सुख'। मनुष्य को जिस अवस्था में सुख मिले वह 'स्वर्ग' है, जिस अवस्था में दुःख मिले वह 'नर्क' है। वैदिक विचारधारा के अनुसार इस शरीर में ही स्वर्ग है, इस शरीर में ही नर्क है। अथर्ववेद में कहा है—

> **अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।**
> **तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृत॥ (१०·२·३१)**

अर्थात्, दिव्य गुण वाले व्यक्तियों का यह शरीर अयोध्या है—ऐसी नगरी है जिस पर युद्ध, आक्रमण नहीं हो सकता। इसमें आठ चक्र हैं—**कुंडलिनी मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा** तथा **सहस्रार**—ये आठ चक्र हैं। दो आंख, दो कान, दो नासिका के छिद्र एक मुख, एक गुदद्वार, एक मूत्र द्वार—ये नौ द्वार हैं। हिरण्य का अर्थ है—सुवर्ण, हिरण्यय का अर्थ है—सुवर्ण की प्रभा से युक्त। हृदय में ब्रह्म की अनुभूति होती है, उसी को इस देह की स्वर्ग पुरी का हिरण्यकोश कहा गया है।

क्योंकि वैदिक विचारधारा में कर्मों के फल के आधार पर पुनर्जन्म को माना गया है, कर्मों के अनुसार जन्म बार-बार होता है, इसलिये शुभ-कर्मों से स्वर्ग तथा अशुभ-कर्मों से नर्क इसी देह में माना गया है। इस देह में भी भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से स्वर्ग के दो रूप हैं। अथर्ववेद के ऊपर दिये हुए मन्त्र में आध्यात्मिक-दृष्टि से स्वर्ग का वर्णन किया गया है, जो योगियों को प्राप्त होता है। इस योग का रूप कुंडलिनी-शक्ति का वर्णन-दृष्टि से भी स्वर्ग का वर्णन अथर्ववेद (४।३४) में पाया जाता है। भौतिक-दृष्टि से स्वर्ग का वर्णन करते हुए कहा है:—

**घृतह्रदा मधुकूला सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना, एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना, उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ।**

इस मन्त्र में स्वर्ग का वर्णन करते हुए समाज की ऐसी अवस्था का वर्णन किया गया है जिसमें घी, दूध, शहद की नदियां बहती हैं । इसी प्रकरण में लिखा है : **स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्'** अर्थात्, स्वर्ग लोक में मनुष्य अनेक स्त्रियों के सम्पर्क में आता है । यह सारा वर्णन एक समृद्ध गृहस्थाश्रम का वर्णन है । जिस विचारधारा में कर्मानुसार बार-बार जन्म लेने की बात कही हो, इसी देह को स्वर्ग कहा हो, उसमें इस सृष्टि से बाहर किसी प्रकार के स्वर्ग-नरक की कल्पना कैसे हो सकती है ? गृहस्थाश्रम का स्वर्ग क्या है ? घी, दूध, शहद की नदियां बह रही हों, इनकी कमी न हो, घर धन-धान्य से भरपूर हो, कुनबे में नाना सम्बन्धों वाली स्त्रियां हों, बहनें हों, भावजें हों, लड़कियां हों—इस प्रकार का गृहस्थ भौतिक-दृष्टि से स्वर्ग है—इस को **'बहुस्त्रैण-मेषाम्'** कहा है ।

दूध, दही, शहद की नदियों के बहने का यह अर्थ नहीं है कि बाकायदा इनके दरिया बह रहे हों । इनकी नदियों के बहने का अर्थ इनकी बहुतायत से है । इस प्रकार का कवितामय वर्णन करना अस्वाभाविक नहीं है । बायबल की 'नम्बर्स-नामक पुस्तक के १३वें अध्याय की २७वीं आयत में मूसा के पास वे लोग, जिन्हें उसने कैनान यह देखने के लिये भेजा था कि वह प्रदेश समृद्धि की दृष्टि से कैसा है, लौटकर आकर कहते हैं—'We came into the land whither thou sentest us, and surely it floweth with milk and honey'—हमें जिस प्रदेश को देखने के लिये भेजा गया था हम वहां गये, निस्सन्देह वहां दूध और शहद की नदियां बहती हैं ।

वेदों के भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से वर्णन किये हुए स्वर्ग की क्या दुर्गति हुई यह सेमेटिक धर्मों की स्वर्ग की कल्पना को देखकर समझा जा सकता है । मुसलमानों का कहना है कि 'अल-सिरात' नामक पुल पर से गुजरकर मनुष्य बहिश्त में पहुंचता है । वहां बाग-बगीचे हैं, दूध और शहद की नदियां हैं, और साथ ही हूरें हैं । वेदों में वर्णित किये हुए समृद्ध गृहस्थाश्रम का यह विकृत रूप है । यहूदियों के स्वर्ग की भी यही कल्पना है । पारसी लोग स्वर्ग को 'बहिश्त' कहते हैं, और स्वर्ग की अप्सराओं को 'हूरे-बहिश्त' कहते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि **'हूर'** शब्द संस्कृत के 'अप्सरा' का, तथा **'बहिश्त'** शब्द संस्कृत के **'बहिष्ठः'** का अपभ्रंश है । **'अप्सरा'** का 'अप्' लुप्त हो गया है, 'सरा' यह रह गया है, 'सरा' का 'हरा'—'हरा से **'हूर'** बन गया है । शब्द शास्त्र के अनुसार 'स' को 'ह' हो जाता है, जैसे 'सप्ताह' से 'हफ्ता' बन जाता है । वेद में **'प्सरा'** शब्द रूप के अर्थ में प्रयुक्त होता है । जैसे 'अप्सरा का 'अप्' लुप्त हो जाने से 'हूर' बना है, वैसे 'प्सर' के 'स' के लुप्त हो जाने से **'परी'**—**'फेयरी'** आदि शब्द घटित हुए हैं । 'बहिश्त' शब्द भी वेद 'बहिष्ठः' शब्द से लिया हुआ है । अथर्व के उक्त मन्त्र के सन्दर्भ में **'एष यज्ञानां विततो बहिष्ठः'** (अथर्व, ४, ३४, ५) आया है जिसके वैदिक 'बहिष्ठः' शब्द से अन्य धर्मों के 'बहिश्त' शब्द का निर्माण हुआ है ।

वेदों में जो वर्णन है वह किसी स्वर्ग लोक का वर्णन नहीं, इस लोक का ही वर्णन है—यह बात कठोपनिषद् के नचिकेता के उपाख्यान से भी पुष्ट होती है । मृत्यु नचिकेता के सामने बड़े-बड़े प्रलोभन रखते हुए कहता है :—

इमाः रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिः प्रमत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ (१, २५)

मृत्यु एक आचार्य का नाम है । उन्होंने अध्यात्म के जिज्ञासु नचिकेता की जिज्ञासा की तीव्रता को जानने के लिये कहा कि संसार का सुख लो, मौज वहार करो, अध्यात्म मार्ग बड़ा कठिन है, उसको छोड़ो । यहां पर भी यमाचार्य ने इस लोक की सुख सुविधा, मौज वहार को ही स्वर्ग माना है, यद्यपि अध्यात्म के पिपासु नचिकेता ने इसे ठुकरा दिया है ।

संसार के मुख्य धर्मों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनका स्रोत उनसे कहीं वाहर है । कुरान में सूरतुज्जखरूफ में लिखा है कि 'यह कुरान तो उस वड़ी क़िताव में से जो हमारे पास है, नकल की गई है, वह किताव बहुत ऊंची है, बुद्धिमत्ता से भरी हुई है ।' सूरतुलू वाक़िया में लिखा है कि यह वही कुरान है जो ख़ुदा के पास मौजूद किताव में से ली गई है । इसका सीधा अर्थ यह निकलता है कि कुरान ज्ञान के किसी अन्य भंडार की तरफ संकेत कर रहा है, वह ज्ञान का भंडार जो खुदा के पास है, जिसकी यह नकल है । यहूदी धर्म की पुस्तक 'एक्सोडस' के ३२वें अध्याय की १९वीं आयत में लिखा है कि मूसा जिहोवा से लिखवाकर पत्थर की दो तख्तियां लाया था जिन पर जिहोवा की आज्ञाएं लिखी हुई थीं, परन्तु अपने अनुयायियों को मूर्तिपूजा करते देखकर उसने गुस्से में आकर उन्हें पटक दिया और वे टूट गईं । इसके आगे लिखा है:—

"And the Lord said unto Moses ; Now these two tables of stone like unto the first ; and I will write will upon these tables the words that were in the first tables, which thou breakest

इस प्रकार यहूदी-धर्म भी स्वीकार करता है कि पहले जो कुछ मिला था, वह लुप्त हो गया, उसे फिर दोहराना पड़ा, पहली पट्टियां टुट गईं, दुबारा लिखनी पड़ीं ।

ईसा मसीह ने इस वात को कि ईश्वरीय-ज्ञान पहले लुप्त हो गया था, अब फिर से उसे जीवित किया गया है, और अधिक स्पष्ट कर दिया है । तलाक होना चाहिए या नहीं—इस प्रश्न पर विचार करते हुए मसीह ने 'मैथ्यू'-पुस्तक (१९-८) में कहा है:--

"Moses, because of the hardness of your hearts, suffered you to put away your wives : but from the beginning it was not so."—अर्थात्, मूसा ने तुम्हारे हृदय की कठोरता को देखकर तलाक की आज्ञा दी थी, परन्तु शुरू से ऐसा नहीं था ।

यहां 'शुरू से' का क्या मतलब है ? 'शुरू से' का वही मतलब है जो अभी कहा गया, जिसकी तरफ कुरान ने संकेत करते हुए कहा कि असली किताव तो खुदा के पास है, जिसकी तरफ यहूदी-धर्म ने इशारा करते हुए कहा कि असली पट्टियां तो, जिन पर खुदा की हिदायतें दर्ज थीं, टूट गई थीं, असली वही है जो इन सबका आदि-स्रोत, जिससे देश-देशान्तर में वहने वाली धाराएं आस-पास का गन्द लेकर फूट निकली हैं ।

धर्मों के क्षेत्र में देर से रूढ़िवाद का राज्य रहा है । पण्डित, मौलवी, मुल्ला, पादरी सब मक्खी पर मक्खी मारने में एक-दूसरे से वाजी लेते रहे हैं । इसका नतीजा यह हुआ है कि वेदों

के 'अहि' के वर्णन से शैतान की कहानी पैदा हो गई, 'गोमेध' के वर्णन से गोकुशी चल पड़ी, गृहस्थ-रूपी 'स्वर्ग' के वर्णन से बहिश्त और जन्नत के किस्से चल पड़े। सायण और महीधर ने वेदों के शब्दों के रूढ़ि अर्थ ही किये। अब तक पुराने धर्मों को यही रोग लगा रहा है। इस रोग को इस युग में यदि किसी ने दूर किया तो वे ऋषि दयानन्द थे। ऋषि ने वेदों के रूढ़ि अर्थ करने की प्रवृत्ति को रोक दिया। उन्होंने वेदों के अर्थ यौगिक दृष्टि से किये। उन्होंने बतलाया कि वेद में गौ का अर्थ पृथिवी है, जानवर नहीं, गोमेध का अर्थ कृषि है, गोवध नहीं, अहि का अर्थ बादल है, सांप नहीं, स्वर्ग का अर्थ गृहस्थ का सुख है, आसमान में टंगा कोई बहिश्त नहीं। यह गलती सदियों से चली आ रही थी, तभी वेदों की पवित्र, निर्मल धारा में समय के बीतने के साथ-साथ कीचड़ मिलता चला गया और उदात्त विचारों की नासमझी के कारण उन्हीं से निकम्मे किस्से कहानी निकल आये। अगर यह गलती न हुई होती, तो आज विश्व भर में एक धर्म होता, एक समाज होता और वह धर्म और समाज दूसरा कोई न होकर वैदिक धर्म होता, वैदिक समाज होता, क्योंकि सब धर्मों तथा संस्कृतियों का आदि स्रोत वेद हैं।

# वेद मन्त्र अनर्थक हैं ?

डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

जिस प्रकार लोक में प्रयुक्त हुये प्रत्येक वाक्य एवं शब्द का सार्थकत्व स्वयं सिद्ध है उसी प्रकार वेदमन्त्रों का सार्थकत्व अवश्यम्भावी एवं पूर्ण निश्चित है, ऐसा जानना चाहिये। प्रत्येक सर्ग के आदि में उस महान् प्रभु ने सर्वश्रेष्ठ उत्तम निष्पाप एवं जिससे सृष्टि के समस्त पदार्थों का नाम रखा जा सके, बोध कराया जा सके ऐसे वेदरूपी देववाणी को प्रदान किया है॥। ऐसी वेदवाणी के अनर्थक होने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु जब से वेद-मन्त्रों का अर्थ केवल यज्ञ-परक ही माना जाने लगा, दूसरे शब्दों में जब से केवल अग्नि में आहुति डालने का नाम ही यज्ञ समझा जाने लगा, एवं ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौत, गृह्यादि में यज्ञ परक मन्त्रार्थों तदनुकूल प्रक्रियाओं एवं विनियोगों का अत्यन्त ही विस्तार हुआ, तब से मन्त्र अनर्थक हैं अथवा सभी मन्त्रों के अर्थ नहीं हो सकते इस विचारधारा का भी उदय हुआ, यह दृढ़ता से कहा जा सकता है। तदनुसार ऐसी विचारधाराओं का खण्डन भी तत्तत् स्थानों में प्रबलता से प्राप्त होता है।

निरुक्त शास्त्र में कौत्स प्रवक्ता के द्वारा कहे हुये "मन्त्र अनर्थक हैं" इस पर सात पूर्वपक्ष × उपस्थापित किये गये हैं। उनका क्रमशः खण्डन यास्क मुनि ने बड़ी युक्ति से किया है। यास्क की प्रथम युक्ति मन्त्र के सार्थकत्व में यह है कि—"एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धम्। यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम्" (निरू० १।१६) अर्थात् "यह यज्ञ की समृद्धता है जो उसमें रूपसमृद्धता है जिस क्रियमाण कर्म को ऋक् एवं यजु कहता है उसी का प्रतिपादन ब्राह्मण ग्रन्थ करते हैं।" इससे स्पष्ट है कि यदि वेद के मन्त्रों का सार्थकत्व न होता तो क्रियमाण यज्ञ कर्म में उन मन्त्रों का प्रतिपादन कैसे होता। यास्क की इस युक्ति पर निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य का स्पष्ट लेख है—"ब्राह्मणमपि च मन्त्राणामर्थवत्त्वमेव दर्शयति। अनर्थकाः हि सन्तः कथं कर्माभिवदेयुः, कथं वाऽनभिन्वदन्तः समर्द्धयेयुः" (निरु० दुर्गटीका १।१६)। निरुक्त के इस लेख की तुलना गो० ब्रा० २।२।६ एवं ऐ० ब्रा० १।४।६ से की जा सकती है जहां लगभग ऐसा ही पाठ है। इससे भी अधिक प्रबल एवं स्पष्ट कथन यास्क का सार्थकत्व पक्ष में इस प्रकार है:—

"यथा एतत् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इति। उदितानुवादः स भवति॥

अर्थात् ब्राह्मण वचनों में जो मन्त्र कार्य रूप में विनियुक्त किये गये हैं। इससे मन्त्रों का आनर्थक्य नहीं, बल्कि सार्थक्य ही है, क्योंकि उनकी वह रूपसम्पन्नता मन्त्रों का अनुवाद ही तो है।

---

॥ बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः। (ऋ० १०।७१।१)

× अनर्थकं भवतीति कौत्सः अनर्थकाः हि मन्त्राः तदेतेन उपेक्षितव्यम्............(निरू० १।१५)।

यहां भी दुर्गाचार्य का कथन है—"रूपं नाम लिंगम् । रूपसम्पन्नाः प्रकटलिंगाः ।" अन्त में कौत्स के इस कथन का कि मन्त्र अविस्पष्टार्थक हैं, अतः अनर्थक हैं, कौत्स को बहुत फटकारते हुये यास्क ने उत्तर दिया:—

"यथा एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति । यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥" वेद का मर्म समझने के लिये भूयोविद्यः = बहुत बड़ी विद्या वाला होना आवश्यक है यह बात इस स्थल में बड़ी मार्मिकता से यास्क के द्वारा कही गई है ।

इसी प्रकार मन्त्रानर्थक्य सम्बन्धी पूर्वपक्ष मीमांसा दर्शन १।२।३४ सूत्र से १।२।३६ सूत्रों तक कहा गया है । उपर्युक्त यास्क उद्धृत पूर्व पक्ष से बात कुछ मिलती-जुलती सी है । इसके पश्चात् जैमिनी महर्षि द्वारा इस पाद के अन्त तक के सूत्रों में पूर्वपक्ष का खण्डन एवं इस बात का प्रतिपादन किया गया कि मन्त्र सार्थक हैं, अनर्थक नहीं ।

## मन्त्रों का वास्तविक विनियोग क्या है ?

किसी मन्त्र को बोलकर उसके पश्चात् जो क्रिया करनी होती है उसका नाम है विनियोग । इस प्रकार मन्त्र के अर्थ और उसके द्वारा की गई क्रिया की एक-वाक्यता आवश्यक है अर्थात् मन्त्र जो कुछ कह रहा हो तदनुसार क्रिया होनी चाहिये इस कसौटी में कसने पर जो मन्त्र जिन यागों में अर्थानुसारी विनियुक्त हैं वे तो ठीक हैं, किन्तु जिन मन्त्रों का अर्थ कुछ और कह रहा हो एवं उसको बोलने के पश्चात् विनियोग-क्रिया कुछ और की जा रही हो वह विनियोग अवश्य हो व्यर्थ है, किन्तु मन्त्रों को अनर्थक बतलाने वाले लोगों ने उन व्यर्थ के विनियोगों को गलत नहीं बताया, मन्त्रों को अनर्थक कहने लगे यह कितनी विचित्र बात है । ये विनियोग पद्धतियां निश्चय ही अर्वाचीन हैं एवं याज्ञिक लोगों के द्वारा चलायी गयीं । वास्तविक विनियोग तो मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषियों ने मन्त्रों के अर्थों का दर्शन कर जो विचार किया तदनुरूप उसका विनियोग हो गया, यही है जो कि अन्वेष्टव्य है । सायणाचार्यादि भाष्यकारों के अनर्गल भाष्यों से वह ऋषियों द्वारा दृष्ट वास्तविक मन्त्रार्थ ढक गया है । महर्षि दयानन्द ने हमें इन व्यर्थ के विनियोगों के पचड़े से निकालकर दिव्य मन्त्रार्थ का दर्शन कराया है यह मानना पड़ेगा । उदाहरणार्थ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का सम्पूर्ण १६२ वां सूक्त सायणभाष्य में अश्वमेध यज्ञ अश्वस्तुति आवपन में विनियुक्त है इस सूक्त के नवें मन्त्र—

**यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति ।**
**यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥**

(ऋ० १ । १६२ । ९)

का अवलोकन करें । सायणाचार्य कृत भाष्य—

घोड़े के कच्चे मांस के अङ्गों को जो मक्खियां खाती हैं जो रक्तादि काटते समय काटने वाले के हाथ में एवं नाखूनों में लिप्त है जो रक्त सर्वत्र टपक रहा है वह सब कटा हुआ मांस हे घोड़े ! देवों के सन्तोष के लिये है । पाठक देखें यह इस मन्त्र का कितना जघन्य विनियोग है । यहां महर्षि दयानन्दजी कृत इस मन्त्र का भावार्थ देखें विस्तार भय से पदार्थ नहीं दिखाया जा रहा ।

"भृत्यों को घोड़े दुर्गन्ध लेप रहित शुद्ध मारवी और डांश से रहित रखने चाहिये। अपने हाथ तथा रज्जु आदि से उत्तम नियम कर अपने इच्छानुकूल चाल चलवाना चाहिये ऐसे घोड़े उत्तम काम करते हैं।" यहां एक भाष्यकार ने इस मन्त्र का अर्थ घोड़े को काटने में लगाया, दूसरे ने घोड़े की रक्षा करने में लगाया है, सो घोड़े को मारने वाला अथवा घोड़े की रक्षा करने वाला कौन सा विनियोग हृदयग्राह्य एवं व्याकरण प्रक्रियादि सम्मत हो सकता है, इसको मैं आप सबके निर्णय पर ही छोड़ता हूं।

इतना ही नहीं वेदमन्त्रों का विनियोग कहीं-कहीं देवतानुसारी* भी नहीं किया गया। कहीं-कहीं तो देवता कुछ है विनियोग कुछ है। तद्यथा निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने अग्नि देवताक "अग्निमीडे" मन्त्र का विनियोग बताते हुये लिखा—आश्विने विनियोग।

(निरु०। दुर्ग० टीका ७। १५ पृ० ५६३)

इस प्रकार इन अर्वाचीन ग्रन्थों में जिन-जिन मन्त्रों का विनियोग प्रदर्शित किया गया उसका बहुत सा हिस्सा इस प्रकार के अपलापों के कारण आर्ष सम्मत न होने से व्यर्थ एवं अनावश्यक है। हमारी दृष्टि में यह अनावश्यक एवं व्यर्थ है उनकी दृष्टि में ये सारा कूड़ा-कर्कट सार्थक है किन्तु रत्नों की खान सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान के केन्द्रभूत जिनसे मनुष्य केवल यज्ञ ही नहीं बल्कि आत्म संयम, चरित्रोत्थान, भक्ति, नीतिशास्त्र, व्यवहार विद्या एवं सभी प्रकार की जीवनोपयोगी शिक्षायें ग्रहण कर सकता है ऐसे वेद के मन्त्र अनर्थक हैं ? वस्तुतः ऐसा प्रलाप करने वालों के लिये वे मन्त्र बिल्कुल अनर्थक ही है जिनका विनियोग श्रौतादि ग्रन्थों में नहीं कहा गया है क्योंकि याज्ञिक प्रकिया के अतिरिक्त उनके लिये मन्त्रों का कोई उपयोग ही नहीं, किन्तु महर्षि दयानन्द "वेदों में ईश्वर से लेके पृथ्वी पर्यन्त, सब पदार्थों का यथावत् ज्ञान है"× ऐसा मानते हैं, यही सिद्धान्त ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त ऋषियों का है जिन्हें महर्षि प्रमाण मानकर चलते हैं। तदनुसार ऋग्वेद के १०५८९ मन्त्र जिनका ऋषिवर ने भाष्य किया है उनमें १५० (१३४) मन्त्रों का तो ऋषि ने स्त्री शिक्षा परक ही अर्थ किया है। शेष मन्त्रों का विज्ञान परक एवं सामाजिक शिक्षादि परक अर्थ किया है। यजुर्वेद के कुल १९७५ मन्त्रों में लगभग ९७ मन्त्रों का अर्थ स्त्री शिक्षा परक, शताधिक मन्त्रों का गृहस्थ सुधार परक एवं राष्ट्र रक्षा, ब्रह्मचर्य, यज्ञादि परक अर्थ किया है जब कि सायणाचार्य पूरे ऋग्वेद का अर्थात् १८५८९ मन्त्रों का भाष्य करके भी याज्ञिक प्रक्रिया के आडम्बर में ग्रस्त रहने के कारण स्त्री शिक्षा, विज्ञान या सामाजिक सुधार ऋग्वेद में नहीं दिखा सके हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद के उव्वट-महीधर भाष्य में प्रायेण याज्ञिक विधियां ही वर्णित होने से पशु हिंसा एवं अश्लीलार्थों की भरमार है। उदाहरणार्थ देखें—यजु० २३ वें अ० के ३९, ४०, ४१ मन्त्र एवं छठा लगभग सम्पूर्ण अध्याय तथा ३० वां सम्पूर्ण अध्याय।

वेद में अनित्य इतिहास की गन्ध मात्र न होने पर भी बहुत सी आख्यायिकायें एवं विग्रहवती देवता सायणाचार्यादि ने मानी हैं। उदाहरणार्थ देखें ऋक् ४। २४। ७ एवं ४। २७। १ के मन्त्रों को "जहां कोई ऋषि श्येन होकर गर्भ में पड़ा हुआ इस मन्त्र को बोला "ऐसा कहा है।

---

* या तेन उच्यते देवता

× ऋग्वेद भूमिका पृ० ९।

७ । १०४ । १७ में एक अव्यक्त राक्षसी की कल्पना की है जिसे सोम कूटने वाले अपने शब्दों से भगा दें ऐसा कहा है । सायणाचार्य ने कतिपय स्थानों में शब्दों को योगज मानते हुये (उसकी व्युत्पत्ति करते हुये) भी उसका रूढ़ि अर्थ दिखाते हुये इतिहास दिखाया है जो कि और भी आश्चर्य-जनक है तद्यथा—८।१८।१३ में शृंगवृषा नाम कश्चित् ऋषिः, तस्य चेन्द्रः स्वयमेव पुत्रतया जज्ञ इत्याख्यायिका" लिखकर शृणन्तीति शृंगाणि रश्मयः । तैवर्षतीतिशृंगवृट् आदित्यः ऐसी व्युत्पत्ति भी की है । किन्तु उनकी समझ में इतिहास परक अर्थ व्यापक व्युत्पत्तिपरक अर्थ से अधिक मुख्य है तभी तो "यद्वा" कहकर आख्यायिका कथन के अनन्तर व्युत्पत्ति भी गौणिक भाव से दिखाई है ।

इस प्रकार के अर्थों की शृंखला में पाश्चात्य लेखकों ने तो और भी चमत्कार दिखाया है । लेख का कलेवर बढ़ने के भय से केवल एक उदाहरण प्रस्तुत है—यजुर्वेद २० । १४ मन्त्र के महीधर भाष्य में वर्णित कूष्माण्ड शब्द का अर्थ बेबर महाशय ने इण्डियन लिटरेचर में अत्यन्त ही अनिंद्य अश्लील किया है, जब कि ऐसा अनिंद्य अर्थ किसी भाष्यकार ने नहीं किया है ।

इस प्रकार की व्यर्थ की मन्त्रार्थ शैली के संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् यहां अतिसंक्षेप से एक अन्य शैली को भी प्रदर्शित किया जा रहा है जो अत्यावांचीन एवं अद्‌भुत भी है । इस पद्धति का ध्येय है कि किसी भी प्रकार अपने मिथ्यावाद को वेद से सिद्ध कर देना है । इनको अपने अर्थ की सुपुष्टि में ब्राह्मण एवं श्रौत ग्रन्थों के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, न ही आवश्यकता है कि पूरा मन्त्र उनके मन्तव्यों की पुष्टि कर सके । कहीं से मन्त्रगत किसी शब्दसामान्याद्वा, अक्षर-सामान्याद्वा को लेकर वे अपने मन्तव्य को जोड़ लेंगे एवं अपनी बात को लोगों की श्रद्धा प्राप्त करने के लिये वेदानुकूल सिद्ध कर लेंगे । तथा चत्वारि शृंगा त्रयो (यजु० १७।९१) मन्त्र में आये वृषभ शब्द से ऋषभदेव की उत्पत्ति वेदमूलक बतानी, शन्नो देवी (अथ० १ । ६ । १) मन्त्र से शनैश्चर की पूजा करवानी तथा "जातवेद—से सुनवाम" (ऋ० १ । ९९ । १) मन्त्र में आये दुर्गाणि शब्द से दुर्गा की पूजा बताना है । इस प्रकार के उदाहरण बहुत संख्या में गिनाये जा सकते हैं ।

वेदों के सांगोपांग अध्ययन के नष्ट हो जाने से ही इस प्रकार के अनर्थवाद उठ खड़े हुये, जिन्हें अब इस युग में ऋषि दयानन्द के बताये मार्ग के अनुसार रोकना ही होगा । तभी सच्चे अर्थों में हम अपने जीवन में उद्देश्य को पूरा कर सकेंगे ।

# क्या वेद में ऐसे मन्त्र भी हैं जिनका कोई अर्थ नहीं ?

## ऐसे मन्त्रों का विवेचन और अर्थ संगति

श्री मोहनलाल मोहित, प्रधान आर्य सभा मोरिशस

**आर्य** समाज स्थापना शताब्दी समारोह समिति के आदेशानुसार मैंने जो सुदूर द्वीप मारीशस का निवासी हूं, एक वेद विषयक निवन्ध लिखने का साहस किया है। मैंने ६वें शीर्षक को या "क्या वेद में ऐसे मन्त्र भी हैं जिनका कोई अर्थ नहीं ? ऐसे मन्त्रों का विवेचन और अर्थ संगति", चुना।

### मानस में वेद का उल्लेख

मारीशस इस कारण से प्रसिद्धि प्राप्त है कि वहां साढ़े आठ लाख की जन संख्या में लगभग ६ लाख प्रवासी भारतीय हैं जिन्हें गोस्वामी तुलसीदास का काव्य रामचरित मानस प्रिय रहा। मैं भी उस पुस्तक का किसी युग में पाठ करता था। उस कवि ने वेद का नाम वार-बार आदर के साथ लिया है। वे वेदों को निगम नाम से याद करते हैं।

वेदों का थोड़ा-बहुत अवलोकन करने के पश्चात् मैं उन विद्वानों से सहमत हुआ कि उत्तम कवि होने पर भी गोस्वामी तुलसीदास वेद के ज्ञाता न थे, यद्यपि उनकी उस पवित्र ग्रन्थ में पूरी आस्था थी।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उन्हीं के समान उनके युग में या महर्षि दयानन्द के युग से तीन शताब्दी पूर्व अधिकांश में भारतीय विद्वान वेद के नाम लेवा मात्र थे।

उस युग में ऋग्वेद के लगभग १० हजार मन्त्रों में से और शेष तीन वेदों के १० ही हजार मन्त्रों में से कई हजार ऐसे जनों की दृष्टि में अर्थ रखने वाले न थे। इस प्रकार के मन्त्रों के बीच उनको भी लाया जा सकता है जिनके गलत अर्थ किये गये हैं क्योंकि भूल होने का मुख्य कारण है वेद समझने की अक्षमता।

### मुख से उत्पन्न मानव

मैं आरम्भ में उन्हीं मन्त्रों को लेना चाहता हूं जिन को लोग बार-बार पढ़ते या सुनते रहे हैं। इनके अन्तर्गत एक यजुर्वेद का वह प्रसिद्ध मन्त्र हैं जिसमें समाज की तुलना मनुष्य की देह से की गई है।

मेरा संकेत उस वेद मन्त्र की ओर नहीं है जिसमें कहा गया है कि मनुष्य का शरीर एक वृक्ष के समान है जिस पर दो पक्षी दृष्टिगोचर होते हैं। यह तो इतने सरल विचार से भरा है कि

यूरोपीय तक इसका अनुवाद करने में गलती नहीं करते थे। आप मनीषियों को बताना न होगा कि इसमें भी देह की ओर इशारा किया गया है।

### अजायत

जिस मन्त्र का अभी उल्लेख किया गया है, उसमें "आसीत्" क्रिया पद है जो भूत काल में है। वेद में विशेषता यह है कि न केवल तीन पुरुषों में से एक को दूसरे का स्थान दिया जाता है, अर्थात् मैं की जगह में तू या वह प्रयोग किया जाता है, प्रत्युत भूतकाल के स्थान पर वर्तमान या भविष्यत्काल आता है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में ऐसा नहीं है। लौकिक संस्कृत और वैदिक भाषा में अन्तर है। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् कहना ब्राह्मणे मुखमास्ति कहने के बराबर है। आसीत् से जो भूतकाल में है, अस्ति का द्योतक होता है जो वर्तमान काल में है।

मन्त्र का अर्थ है कि जिस भांति मानव तन में मुख सब से ऊपर है उसी भांति समाज में सर्वोपरि विद्वान या ब्राह्मण होता है। अभिप्राय यह हुआ कि ब्राह्मण को प्राथमिकता देनी चाहिए। वह सर्वोच्च पद पर आसीन है।

इस मन्त्र में

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**
**ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥**

का जो दयानन्द युग में मन्त्रों से अर्थ प्रायः किया जाता था, वह एक दम भद्दा था, सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में इसे समझाना पड़ा था। यह यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वां मन्त्र है जो १० वें मन्त्र का उत्तर स्वरूप है। वास्तव में यह अन्य वेदों में भी मिलता है।

ऋ० ८।४।१९, अथर्व० १६—१-६

इस स्थल विशेष पर यज्ञ पुरुष का गुणानुवाद किया जा रहा है। बात अधिक स्पष्ट होती है जब कहा जाता है कि समाज या जनता रूपी पुरुष के अवयव हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इसके अन्त में जो "अजायत" क्रिया है, उसके कारण भयंकर भूल हुई। यह जन् धातु से बनती है। यह अर्थ लगाना सूझा कि शूद्र पुरुष के पांवों से जन्मे तो वैश्य उनके उस भाग से जो कटि के अधोभाग से लेकर जानु के उपरिस्थ भाग तक जाता है, क्षत्रिय उनके बाहु तथा ब्राह्मण उनके मुख से। क्या इस कतर-व्योंत-से ब्राह्मण आदि का जन्मना होना सिद्ध होता है? इस प्रकार का अर्थ करने से कहीं अच्छा था कि मान लिया जाता कि इस मन्त्र का कोई मतलब नहीं है।

वास्तविक अर्थ है—"ब्राह्मण इसका मुख है, क्षत्रिय इनके बाहु बने, इस अवस्था में, वैश्य जंघा तथा शूद्र पैर।"

मुखम् बाहू तथा ऊरू प्रथमा विभक्ति में (कर्त्ता कारक हैं) न कि पंचमी विभक्ति में। मतलब यह कि "मुखात्" या "मुख से" नहीं कहा गया। "पद्भ्याम्" पंचमी विभक्ति में अवश्य है। उसका "व्यत्यय" मानना चाहिए।

पैरों से न किसी का जन्म कभी हुआ और न होगा। सेवक सबकी सु-सेवा करने हैं। जिस प्रकार सुदृढ़ पाद समस्त शरीर को ढोते हैं। सेवक समाज में सम्मान पाते हैं, समादृत होते हैं

उन्हें समाज सेवी कह कर स्मरण किया जाता है । समूची मानव समाज में शिक्षक, शाक, व्यापारी तथा सेवक विद्यमान हैं । यह व्यवस्था स्वाभाकि है । वैदिक धर्म सार्वभौम है ।

"अजायत" का इस व्याख्या के आलोक में अर्थ हुआ "आसीत" "कृतः" इसीलिए बने "हुए" या "हैं" ये उस क्रिया के मानने यौग्य अर्थ हैं । पूर्वापर देख कर अर्थ करना अभीष्ट है ।

क्या सामवेद का प्रचलित मन्त्र,

**उपह्वरे गिरीणां, संगमे चनदीनाम् ।**
**धियो विप्रो अजायत ।। (साम, पून अ० १ ऋ० ५, ६)**

जिसमें नदियों के संगम स्थान और पर्वतों की अधित्यकाओं पर कर्म और ज्ञान शक्ति के संगम से मेधावी ज्ञानी तैयार हुआ करते हैं, यह कहा गया है, उसमें पायी जाने वाली "अजायत" क्रिया से यही सूचित होता है कि विप्र, विद्वान संगम स्थान से जन्म लेते हैं ?

वेद मन्त्रों के जो सुन्दर अर्थ होते हैं, उनको अस्वीकार कर कुछ वेद के निकृष्टमना भाष्यकारों ने वेदों के विषय में यह लिखने की प्रेरणा दी कि वेद बच्चों की बिलबिलाहट और गड-रियों के गीत हैं ।

## ग्रिफिथ साहब का ऋग्वेद

महर्षि दयानन्द के समसामयिक ग्रिफिथ नामक अंग्रेज ने बनारस में एक दो दिन स्वा० श्रद्धानन्द को पढ़ाया था । वे आपे से बाहर हुए जब महर्षि ने बताया कि "अग्नि" ईश्वर का भी नाम है । वे ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के द्वितीय मन्त्र का अंग्रेजी में उल्था कर रहे थे जब कि कह उठे कि वेदों से पूर्व कुछ ग्रन्थ पाये जाते थे । "पुरातन" शब्द उनकी घबराहट का कारण था ।

यह मन्त्रः—

**अग्नि पूर्वेभि ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।**
**स देवां एह वक्षति ।।** ऋ० १—१—२

विशेष समझाना असम्भव हो गया था । जो इसका सुन्दर तथा स्पष्ट अर्थ है, वह ग्रिफिथ को न सूझा सही अर्थः—

"ईश्वर पूर्व (दैव्य) तथा नूतन (श्रुत्) दोनों प्रकार के ऋषियों द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं । दैव्य ऋषियों का प्रादुर्भाव सृष्टि के प्रभात काल ही में एक बार हुआ करता है । जैसे सर्गारम्भ में चार ऋषियों का हुआ था । वे बार-बार नहीं होते जब कि श्रुत ऋषियों की समय-समय पर होने की सम्भावना है ।" हम जोड़ सकते हैं कि ऋषि दयानन्द श्रुत ऋषियों के वर्ग में आते हैं ।

## अर्थ संगति

अर्थ संगति लगाये बिना हम भी ग्रिफिथ के समान गलती के शिकार बन सकते हैं । वेद में कभी ईश्वर बोलते दिखाई देते हैं तो कभी भक्त । प्रथम मन्त्र में मनुष्य कह चुका था या यों कहिए मनुष्य के मुंह में ये शब्द रख दिये गये थे, "मैं प्रकाश स्वरूप परमात्मा अग्नि की स्तुति करता हूं ।" वे प्रशंसनीय कार्य करते हैं, अतः हम उनकी स्तुति करते हैं । ऐसी उत्तम प्रतिक्रिया

हमारी ओर से न हो तो हमारे सिर पर कृतघ्न होने का दोष सहज में मढ़ा जा सकेगा। उन्होंने हमें ज्ञान रूपी प्रकाश दिया है। हमारे हृदय में उनके प्रति कृतज्ञता होनी चाहिए।

वे ज्ञान कब और कैसे देते हैं, यह भी परि प्रश्न उपयुक्त होता है। इसका उत्तर है कि जब-जब सृष्टि होती है और असंख्य मानव, न कि सिर्फ दो, प्रकट होते हैं उनमें से चार ऋषि होते हैं जो अन्तः प्रेरणा पाते हैं जिस तरह कवि गण प्रेरित होकर कविता रचते हैं। वे चार ऋषि वेद ज्ञान दिया करते जिसके बिना हम अन्य प्राणियों की ही भांति केवल खाने, पीने, सोने, बैठने आदि के लायक रहते हैं। उनसे मन्त्र सुनकर प्रत्येक पीढ़ी उनको सुनाती जा रही है। सिलसिला टूट जाता तो आज जिस महान देश में ऋषि ने आर्यसमाज की नींव रखी थी कौन वेदों का रहस्य खोलता? ग्रन्थ वहुत मिलते रहे, पर वे सब विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये।

वेद मन्त्रों के अनेक अर्थ हुआ करते है। इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए वेद के अध्येता विद्वानों ने वताया है कि जव कभी ऋषि वेद सुनाते हैं वे ही पुरातन कहलाते हैं जव कि नूतन सुनने वाले कहे जाने के योग्य होते हैं। यह अर्थ किया जाय तो चार ही ऋषियों को पुरातन कहना आवश्यक नहीं रहता।

## भाष्यकारों की असेवा या कुसेवा

पश्चिम में सायणाचार्य पर निर्भर करके १८५० से ही सम्पूर्ण ऋग्वेद का भाषान्तर होने लगा था। स्वा० दयानन्द तव २५ वर्ष की अवस्था के थे। मेरी जन्म-भूमि मारीशस में एक फ्रेंच ऋग्वेद आया, जो राजधानी पोरलुई के प्राचीन पुस्तकालय में विद्यमान हैं। लांग्लवा फ्रेंच वेदज्ञ अनुवादक थे।

उस वेद का अवलोकन करके जहां कई व्यक्तियों को खुशी हुई वहां कई लोगों को हिन्दुओं पर आक्रमण करने के लिए भरपूर सामग्री प्राप्त हुई।

## यह कैसा जन्तु है?

सर्व विदित है कि १८५० से पहले यूरोपीय भारतीय साहित्य से परिचित थे। वे विष्णु शर्मा का पंचतन्त्र पढ़ कर ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के ५८वें सूक्त के तृतीय मन्त्र में "चत्वारि शृंगा"।

**चत्वारि शृंगा त्रयो अस्यपादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।**
**त्रिधाबद्धो वृषभोरोरवीति, महां देवो मर्त्यां आविवेश॥**

ऋ० ४, ५८, ३

की चर्चा पा कर सोचने लगे कि चार सिंगवाला कोई विलक्षण जन्तु वेदवालों को प्रिय रहा होगा। उन्हें परीकथाओं का स्मरण होता था। वास्तव में अभिप्राय चार वेदों से है। वेद ज्ञान रूपी प्रकाश से पूर्ण हैं। अज्ञान रूपी घने अन्धकार का यह ज्ञान भेदन करता है। सिंग नुकीला होता है, बींधने का काम उत्तम रीति से कर सकता है। इस मन्त्र से इस शंका का भी समाधान होता है कि वेद तीन नहीं हैं। यह मन्त्र दुहरा लाभ पहुंचाता है। क्या ही अच्छा हो, यदि मन्त्रों के शुद्ध अर्थ किये जायें जिससे प्रमाणित हो कि वेद ज्ञान का भण्डार है।

## पशुओं का उल्लेख

इतने व्यक्तियों ने वेदों में पशुबलि का उल्लेख पाया जहां कि वह है ही नहीं, कि सदियों तक सर्व साधारण के बीच यह भ्रामक विचार रहा कि यज्ञ हिंसा किये बिना सम्पादित हो ही नहीं सकता है। बकरी के बच्चे या "अज" का बलिदान किया जाना वेद सम्मत माना गया। एक अज परमेश्वर का वाचक है। जन्म का विषय फिर आया। महर्षि दयानन्द के प्रधान शिष्य महा पंडित श्याम जी कृष्ण वर्मा से आर्थिक सहायता प्राप्त कर फ्रेंच संस्कृतज्ञों ने जो संस्कृत-फ्रेंच कोश प्रकाशित किया है, उसमें अज का अर्थ अजन्मा किया गया है। अज का साथ-साथ आत्मा और अजा का प्रयोग प्रकृति के अर्थ में होता है।

आज हमारा मतलब तीनों अर्थों में से किसी एक से नहीं है। अज का अर्थ बीज भी है, वह बीज जिस से यज्ञ किया जाता है। वायु पुराण तक में यही अर्थ दिया गया है जैसे इस श्लोकार्द्ध के हिन्दी भाषान्तर से विदित है:—

"हे सुर श्रेष्ठ! उन बीजों से यज्ञ करो जिनमें हिंसा नहीं है।"

**यज बीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते। ५७, १००**

यह अर्थ न लेकर पशुहिंसा करने पर तुले लोगों ने इस शब्द का "बकरी का बच्चा," अर्थ लिया। इसमें सन्देह नहीं कि अज बकरे का वाचक है, किन्तु इस सन्दर्भ में नहीं।

ये यजुर्वेद के छठे अध्याय का वह श्रुति मधुर मन्त्र:—

**वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि इत्यादि ॥**

भी उपस्थित करने लगे जिसका उनके मतानुसार यह मनगढन्त अर्थ है:—

यज्ञ में मारे गये पशु के मुख, नेत्र, कर्ण इत्यादि अवयवों को जल से शुद्ध करके यजमान पत्नी कहती है, मैं तुम्हारी वाणी, आंख, कान आदि को शुद्ध करती हूं।

एक तो बकरा इस वाणी को समझता नहीं, दूसरे जीवित बकरे से नहीं, मृत से यह सब कहा जाता है। मुझे यहां नचिकेता की कथा याद आ रही है जो यमाचार्य के आश्रम में पधारे थे। इस शिक्षार्थी के लिए गुरु अथवा गुरुपत्नी के मुख से उपयुक्त शब्द जो आशीर्वचन हैं, निकले थे।

ऋषि दयानन्द ने उक्त मन्त्रका भाष्य करके हमारे सन्देह को हमेशा के लिये दूर कर दिया है। उनके ये शब्द हैं:—

यह वचन मृत पशु को सम्बोन्धित करके नहीं कहा जा रहा, किन्तु कुमारों और कुमारियों को सम्बोधन करके गुरुओं तथा गुरुपत्नियों को चाहिए कि वेदादि की शिक्षा से देह, इन्द्रिय अन्तःकरण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमारों या कुमारियों को अच्छे अच्छे गुणों में प्रवृत्त कराएं तथा उन्हें शुद्ध चरित्रवाला बनाएं।

वेद को जो विद्वानों का कण्ठहार रहा, खूब कलंकित किया गया। न केवल पुराण अपितु पंचतन्त्र भी इस मामले में वेद की पुष्टि करता है। पंचतन्त्र के रचयिता कठोर शब्द व्यवहृत करने से बाज न आये। उन्होंने लिखा:—

"ये याज्ञिक यज्ञकर्म में पशुओं को मारते हैं। वे मूर्ख वेद वचन के ठीक (सत्य) अर्थ को

नहीं जानते । वेद में कहा है—अजों से यज्ञ करना चाहिये । अज सात वर्ष पुराने व्रीहि कहे जाते हैं, न कि पशु विशेष (बकरा) ।"

**एतेऽपि याज्ञिका यज्ञ कर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेन जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तम्-अजैर्यष्टव्यम् । अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः (पंचतन्त्र) ।।**

जिससे वेद मन्त्र का अर्थ न बन पाया, उसी ने बिना संकोच कि ये पशु बलि की प्रथा को वेदसम्मत बनाने में विलम्ब न किया । विष्णुशर्मा ने पशुहिंसा का पुरजोर खण्डन किया, यह प्रबल साक्ष्य प्रस्तुत किया कि अध्वर कहे जाने वाले यज्ञ से पशु बलि सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । यह प्रकरण अस्पष्ट रहेगा यदि सायणाचार्य द्वारा ऋग्वेद के दशम मण्डल के २६वें सूक्त के ६ठे मन्त्र—

**आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च ।**
**वासो वायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत ।।**

के किये गये अर्थ पर कुछ कहा न जाय । उन्होंने न जाने कैसे पूषा नामक देव को बकरी-बकरे या अजा-अज की सवारी करते पाया ।

**आधीषमाणायाः आत्मार्थं धीयमानायाः शुचायाश्च दीप्ताया अजायाश्च पतिः स्वामी । न केवलं स्त्रीमात्रस्य किन्तु शुचस्य दीप्तस्य पुंपशोश्च परिरित्यर्थः ।।**
**एवं भूतः पूषा देवः अवीनाम उणानां सम्बन्धिभी रोमभिः वासोवायः दशापिवत्रादीनि वस्त्राणि प्रेरयन, वासांसि रजकशोध्यानि तानि बस्त्राणि आ मर्मजत, आ समन्तात् प्रकाशोष्णाभ्यां शोधयन् भवति । (सायणाचार्य)**

मन्त्र का सीधा और सरल अर्थ है कि—"सब पदार्थों की पुष्टि करने वाले जगदीश्वर पूषा सब चमकीली वस्तुओं के स्वामी हैं ।

### पुरुषमेध

जब पूषा के वाहन तक ढूंढ कर निकाले गये क्योंकर पशुबलि तक ही हिंसा सीमित की जाती ?

यजुर्वेद के समस्त ३०वें अध्याय में पुरुषमेध देखने का जघन्य कृत्य किया गया । निबन्ध कहीं अधिक न बढ़ जाय, इस डर से इस विषय की थोड़े शब्दों में स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा । उक्त अध्याय में एक मन्त्र है "विश्वानि देव सवितः" जो प्रार्थना मन्त्र है और दूसरा गायत्री या गुरु मन्त्र है । किसे ज्ञात नहीं कि गायत्री में, बुद्धि में परमपिता परमात्मा से प्रकाशित रहने और उसे शुभ कर्मों में प्रेरित करने की प्रार्थना है? पहले मन्त्र में भक्त भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि दुर्गुणों को दूर किया जाय और जो उत्तम या भद्र है, वह दिया जाय ।

हम हवन करते समय अपनी निर्बलता पर ध्यान देते हैं । उसे उसी प्रकार अति दूर फेंकना चाहते हैं ठीक जिस प्रकार रंगरेज मैले कपड़े के पुराने रंग को धो डालता है । एक को अर्थात् मल को दूर करना है और दूसरे को जो भद्र है प्राप्त करना है ।

इन मन्त्रों का बच्चा-बच्चा पाठ करता है । इनसे सिद्ध करना कि भगवती श्रुति नर

मेध का समर्थन करती है इस अनुपम ग्रन्थ के साथ घोर अन्याय करना है। उलटे अर्थ करने वाले उस मन्त्र को पाकर जो इस प्रकार खुलता है:—

**प्रजापतिश्चरति गर्भे**

विश्वास करने लगते हैं कि अवतार की इसमें असंदिग्ध ढंग से चर्चा है। इस विचित्रता का कारण है सत्यार्थ करने में असमर्थ होना। पश्चिम में धर्म से विमुख होना साधारण सी बात है। अवतार माने जाने वाले ईसा को पश्चिम के व्यक्तियों ने सदियों तक अवतार के रूप में देख लेने के पश्चात् तर्क के युग में यही निर्णय किया कि अवतारवाद ईश्वर की सत्ता से इन्कार कराने वाला वाद है। इसका दोषपूर्ण होना सूर्यवत् स्पष्ट हो गया है। मन्त्र का असली अर्थ जो तार्किकों को स्वीकार्य है, निम्न प्रकार है:—

"प्रजाओं का स्वामी परमात्मा सब के बीच होकर वर्तमान है, वह स्वरूप से अप्रकट हुआ अपने कार्यों द्वारा अनेक प्रकार से प्रकट हो रहा है।"

ईश्वर का अस्तित्व उनके कार्यों द्वारा प्रमाणित होता है। शुद्ध अर्थ करने पर ऐसी प्रबल युक्ति मिलती है जो नास्तिकों को घबराहट में डालती है। पश्चिमीयजन ईसा को तिलांजलि देकर इस तर्क पूर्ण मन्त्र को पढ़ पाते तो वास्तविक धर्म की ओर क्यों न झुकते ?

## सायं प्रातः बोले जानेवाले मन्त्र

वे वेद मन्त्र जिनको हम सायं और प्रातः हवन करते समय उच्चारित करते हैं, अभी तक न समझे जाने वाले वेद मन्त्रों के बीच या उन मन्त्रों में गिनाये जा सकते हैं जिनका कोई अर्थ नहीं है। मेरा संकेत मन्त्रों के शब्द, "कस्मै देवाय हविषा विधेम" की ओर है। इस मन्त्रांश के अन्त में प्रश्न चिन्ह नहीं हैं। इस चिन्ह को क्यों घुसेड़ दिया गया ? लगता है कि संस्कृत प्रेमी यूरोपीय संस्कृत व्याकरण का अध्ययन करके "कः" को सर्वनाम समझ कर जहां-जहां पर वह आता है वहां-वहां वे वाक्य को प्रश्नात्मक ही मानते हैं। और तो और उनकी देखा-देखी अनेक भारतीय विद्वान् भी "क" का एक ही अर्थ करते हैं, अर्थात् "कौन" ? कहना न होगा कि मन्त्रों को अंग्रेजी में रूपान्तरित करते वक्त वे उलझन में पड़ जाते हैं। तर्क करके लिखते हैं कि आर्य पूछ-ताछ करके ही किसी भी बात को माना करते थे, अतएव उन्होंने इसीलिए प्रश्न किया कि किस देव के लिए हवि अर्पित करते हैं ? क्या पागलों के प्रलाप के समान हम हवन करने बैठते हैं और परमात्मा का किसी मन्त्र से गुणानुवाद करके अन्त में प्रश्न करेंगे ?

सायणाचार्य तक ने "कः" को ईश्वर अर्थ का बोधक होना स्वीकारा है। "क" सुखदाता परमात्मा का नाम है। मन्त्रांश का इस दशा में अर्थ हुआ, "हम सुखदाता परमात्मा को हवि अर्पित करते हैं।"

"कः" को संज्ञापद माना न गया। सर्वनाम को ही लेने का विचार हो तो "सः" लेकर उस परमात्मा को भुलाया न जाय जो आत्मदा हैं। चतुर्थी विभक्ति में "कः" 'कस्मै' हो जाता है तो "सः" का 'तस्मै' रूप हो जाता है। महाभारत में "तस्मै" का प्रयोग शान्ति पर्व के उस श्लोक में हुआ है जिसका हिन्दी रूपान्तर किये देता हूं:—

"अग्नि जिसका मुख है, द्युलोक शरीर, आकाश नाभि, चरण क्षिति, सूर्य चक्षु है और

दिशाएं कर्ण हैं, उस लोकात्मा पुरुष को नमस्कार है।"

**यस्याग्निरास्य द्यौर्मुर्धा नाभिश्चरणो क्षितिः ।**
**सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ।।** शान्ति पर्व ४७, ६८

उन वेद मन्त्रों का यहां सहसा स्मरण होता है जिनके अन्त में "तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः," ये शब्द आते हैं। जो वाक्य रचना वेदों में पायी जाती है, वही महाभारत में दीखती है। वेदों के सही अर्थ की पुष्टि जहां कभी-कभी पुराण और पंचतन्त्र में होती है वहां कोई आश्चर्य नहीं, यदि वह कभी-कभी और कहीं-कहीं महाभारत में भी हुआ करती है। इन लघु और वृहत् ग्रन्थों का सदा न सही, यदा कदा वेदों से तालमेल बैठाया जा सकता है। महाभारत का श्लोक याद दिला सकता है कि सम्पूर्ण मन्त्र का वास्तविक अर्थ है। "हम उस परमपिता परमात्मा को हवि का दान करते हैं जो हमें यह ज्ञान देते हैं कि हमारे अन्दर आत्मा है, बल या शक्ति विद्यमान है।"

## प्रश्न में उल्लिखित वेद मन्त्र

हम जैसे वेद के साधारण विद्यार्थियों की दृष्टि में कोई मन्त्र न रहा जिसका कोई अर्थ नहीं। महर्षि ने ऋग्वेद के एक बड़े अंश का तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य किया। वे ढाई वर्ष ही और इस संसार में यदि जीवित रहते तो चारों वेदों का भाष्य कर डालते।

सौ वर्ष लगा कर आर्यसमाज के महापण्डितों ने छोड़े गये कार्य को सुचारु रूप से पूरा किया। उनकी आज शतमुख से प्रशंसा करनी चाहिए। जब हम प्राप्त भाष्यों का अवलोकन करते हैं हमें अपना कृपाभाजन बनाने वाले ईश्वर द्वारा प्रदत्त पावन ग्रन्थ वेदों में ऐसा कोई मन्त्र दृग्गत नहीं होता जिसका सत्य अर्थ करना सम्भव न रहा। भाष्यों का समूह जो हमें उपलब्ध हुआ, सच-मुच परिवर्तन की घड़ी लाने की अद्‌भुत शक्ति रखता है। उसके रहते हम धृष्टता करके कैसे इस २०वीं शती के उत्तरार्द्ध में यह कहने का दुस्साहस कर सकते हैं कि कुछ मन्त्र फिर भी रह गये जिन का कोई अर्थ नहीं ?

मुझ अल्पज्ञ प्रवासी भारतीय का उन लोगों का दृष्टिकोण उपस्थित करने के सिवा कोई चारा न रहा जो मन्त्रों के गलत अर्थ जान बूझकर या अनजान में करके केवल यह प्रमाणित करने में समर्थ सिद्ध हुए कि कुछ मन्त्र विद्यमान हैं जिनके अर्थ किये नहीं जा सकते। मैं सांप का पांव ढूंढने के कार्य में लगा, मैं जो वस्तुत है ही नहीं उसे खोजने में लगा।

वेदों का प्रचार-प्रसार होता रहा। बीच में अवरोध अवश्य हुआ। 'तुलसीदास काल को अवरोध का काल बताना अनुपयुक्त न होगा। हमारे दुर्भाग्य से सायण भाष्य की शरण ली गई और जब उन्होंने 'कः' का शुद्ध अर्थ किया उसे स्वीकार किया न गया।

## उल्टे अर्थ का उपयोग

यह अस्वीकार करके कि पश्चिम में वेद मन्त्रों के उलटे अर्थ किये गये पश्चिमीयों ने वेद के अपने निकृष्ट अनुवाद के सहारे भारतीयों को अपने धर्म से विमुख करने की कुचेष्टा की।

अपने देहावसान से कुछ ही दिन पहले मैक्समूलर साहब ने अपनी पत्नी को लिखा:—यह (मेरा) ऋग्वेद (या ऋग्वेद का अंग्रेजी में किया गया अनुवाद) उस पुस्तक का रूपान्तर है जो उन

भारतीयों के धर्म का मूल है, और अपने मूल से परिचित कराना मेरी राय में उस सबके उन्मूलन का एक सही तरीका है जो इस पर पहले ३ हजार वर्षों में उगा हुआ है।"

क्योंकि भेद खुल गया है यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यदि सायण भाष्य का इन्हें सहारा न मिलता, उसके स्थान पर कोई उत्तम वेदभाष्य हाथ लगता तो ये वेदानुवाद करते ही नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हें अपना उल्लू सीधा करना था।

मूलर के युग में आम तौर पर ख्याल था कि ईसाईमत एक मात्र धर्म है, जो दोषरहित है। जब इसे लोगों पर थोपा जाता था यही विचार काम करता था कि उनका उपकार किया जाता था। मूलर का ऋग्वेद उस जाली वेद से भिन्न नहीं है जो फ्रेंच में रचा गया था और जिसका "एजुर वेदम्" नाम रखा गया था। अच्छे से अच्छे भारत मित्र बुने गये जाल में फंस गये थे। बेचारे जाली को असली मानते रहे। मूलर ने जिस उद्देश्य को लेकर परिश्रम किया था वह पूरा होता तो वेद को तृण के समान उड़ाने में सफल होते।

तीन हजार वर्षों से ही नहीं, उससे कहीं अधिक वर्षों से जो परम पवित्र वेद भारत में आदृत होता रहा, उसमें भारतवासियों की आस्था मुलरोत्तर युग में भी रही। दयानन्द भाष्य उन सूर्य की रश्मियों की तरह अज्ञान रूपी घटाटोप अन्धकार को बेधने लगा जो मूलर के वेदानुवाद के दशकों पश्चात् प्रकाशित हुआ। शतवर्षीय आर्य समाज के जनक महर्षि दयानन्द के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप मूलर योजना पर पानी फिर गया। मेहनत सामयिक और समीचीन सिद्ध हुई। दयानन्द भाष्य की आधुनिकता के विषय में दो राय हो नहीं नकती। विलक्षण अर्थ करने वाले प्राचीन तथा अर्वाचीन भाष्यकारों के दो उत्तर भाष्यों को प्रस्तुत करके ही मैंने इस लम्बे निबन्ध में इस प्रश्न का उत्तर दिया कि:—

"क्या वेद में ऐसे मन्त्र भी हैं जिनका अर्थ नहीं" ?

उत्कृष्ट अर्थ करने वाले वेद व्यसनियों को ध्यान में रख कर उत्तर देता तो उत्तर होता, "ऐसा कोई मन्त्र विद्यमान नहीं है," तब "मन्त्रों का विवेचन और अर्थ संगति" करने का सवाल ही नहीं उठता। निबन्ध इतना छोटा होता कि स्वीकार्य न होता। समाप्त करने से पूर्व आशा करता हूं कि मेरे इस निबन्ध को, जो एकमात्र स्वाध्याय पर आधारित है, नवीनता के उपासक कभी पढ़ने का कष्ट करेंगे तो देखेंगे कि पुरानी लीक पीटने के दोष से रहित हूं।

# शेष लेखों, विषयों का परिचिन्तन

[आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, संयोजक एवं सम्पादक]

मैं अपने वक्तव्य में वेद सम्मेलन के संयोजक के रूप में जो कह चुका हूं उसके अनुसार जिन विषयों पर लेख नहीं आये थे उन पर यहां प्रकाश डाल रहा हूं। लेख दो भागों में हैं --हिन्दी और अंग्रेजी में। हिन्दी के विषयों पर हिन्दी भाषा में विचार व्यक्त किया जायेगा और अंग्रेजी भाषा में दिये गये विषयों पर अंग्रेजी भाषा में। यहां पर हिन्दी भाषा में जो विषय लिखे जाने थे उन पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत किया जाता है।

## (१) शिक्षाशास्त्र का मूलाधार वेद

शिक्षा छः अङ्गों में एक अङ्ग है। उसका सम्बन्ध वर्ण और उसके उच्चारण आदि से है। वर्ण दो प्रकार के हैं। एक स्वर और दूसरे व्यंजन। 'स्वयं राजन्त इति स्वराः' अर्थात् जो स्वयं उच्चारण किये जाते हैं वे स्वर हैं। जिनके विना स्वर के उच्चारण नहीं होता है वे व्यंञ्जन हैं। वर्णों की संख्या ६३ है। परन्तु "अग्निमीले पुरोहितम्, में आप 'ळे' वर्ण ६४ वां वर्ण हैं। स्वरों की मात्रायें सूचिका होती है और व्यंजनों को उन मात्राओं से उच्चारित किया जाता है। अ, आ आदि स्वर हैं। इन्हें जब मात्रा के रूप में प्रयुक्त नहीं करते तब ये वर्ण के रूप में अ, आ, ई, उ, आदि लिखे जाते हैं अन्यथा सब स्वर मात्रा के रूप में होते हैं तब ा, ि, ु आदि रूपों में प्रयुक्त किया जाता है। इन स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और उदात्त, अनुदात, स्वरित भेदों से अनेक 'भेद' हो जाते हैं। शिक्षा शास्त्र इनका वर्णन करता है। यह धारणा वेद से ली गई है। यथा

**गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुमेव वाकम्।**
**वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणी॥**

अथर्व० ९। ८। २॥

यहां इस मन्त्र में पद् और चतुष्पद् आदि के साथ 'अक्षर' पद का प्रयोग है जो वर्णों का सूचक है। सात प्रकार के छन्दों वाली मंत्रात्मक वाणी अक्षर से मापकर बनाई गई हैं। पुनः अथर्व ६। ६। १८ में कहा गया है कि 'ऋचः पद मात्रया कल्पयन्तः। अर्थात् ऋचाओं के पदों को मात्रा से कल्पित करते हुये। इस प्रकार वर्ण का परिश्रम करने की प्रवृत्ति हुई।

वर्णों का चाहे वे स्वर हो चाहे व्यंजन, उच्चारण हमारे मुख में किसी न किसी भाग से होता है। इनको स्थान कहा जाता है। ये है—तालु, कण्ठ, मूर्द्धा, दन्त, ओष्ठ और नासिका आदि। अ, क, ख आदि का कण्ठ से उच्चारण होता है, उ, प, फ आदि का ओष्ठ से, ङ, ञ्, म, न, ण् आदिक तत्तत् वर्गों के स्थानों और नासिका से उच्चारण होता है। ये अनुनासिक हैं।

जिस प्रकार वर्णों के उच्चारण के तालु आदि स्थान हैं उसी प्रकार इनके प्रयत्न भी हैं। जो प्रयत्न वर्णों के उच्चारण में होते हैं उनका भी वर्णन शिक्षाशास्त्र में किया जाता है। यह विज्ञान इन सभी बातों की अपेक्षा रखता है। वेद के ये मन्त्र इस बात पर प्रकाश डालते हैं।

**वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः ।**
**हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिङ्गाः ॥**

ऋग्वेद १० । ७२ । ६ ॥

**सम्यक् सरन्ति सरितो न धेता अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः० ॥**

ऋ० ४ । ५८ । ६ ॥

इन मन्त्रों में वर्ण आदि का हृदय से होकर मन द्वारा वाणी आदि उच्चारित होना बताया गया है। इस प्रकार शिक्षा शास्त्र में इन विषयों को वेद से ही लिया रया है, यह सुतराम् सिद्ध है।

प्रयत्न भी आभ्यन्तर और बाह्य भेद वाले होते हैं, और इसी प्रकार अन्य एतद्विपयक पल्लवन भी शिक्षा शास्त्र में पाया जाता है।

स्वर जो उदात्त आदि भेदों वाले हैं उन पर भी बल दिया जाता है, और यह कहा जाता है कि स्वरतः वर्णतः मिथ्या प्रयुक्त शब्द, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नहीं बताता है। वह उसका हनन करता है। महा भाष्यकार ने वैदिक "इन्द्र शत्रुः" पद को स्वर के मिथ्या प्रयोग से विपरीतार्थक होने का उदाहरण माना है। यह बहुव्रीहि भी है और तत्पुरुष समास भी है। बहुव्रीहि में यह मेघार्थक है और तत्पुरुष में यह इन्द्र वा सूर्य का घोतक है। कई लोग जो स्वरानभिज्ञ है वे इसका षष्ठी तत्पुरुष लगा लेते हैं और समस्या उल्टी हो जाती है। षष्ठी तत्पुरुष करने पर भी मेघ ही अर्थ होता है। अतः इस अर्थभेद के लिए हैं। इन्द्रश्चासौ शत्रुरिन्द्र शत्रुः अथवा इन्द्रः शत्रुरिवेति इन्द्र शत्रुः। ऐसी सामासिक व्युत्पत्ति करनी चाहिए तब इसका अर्थ इन्द्र वा सूर्य होगा।

इस प्रकार शिक्षाशास्त्र जो एक अङ्ग है छः वेदाङ्गों में उसका आधार वेद है।

## (२) कल्पविज्ञान का मूलाधार वेद

कल्प शास्त्र को भी छः अंगों में एक माना गया है। यह एक विज्ञान है। इसका तात्पर्य इस सम्बन्धी ग्रन्थों से नहीं अपितु इस विज्ञान से है। कल्प के चार भेद हैं। गृह्य, श्रौत, शुल्व और धर्म। इन्हीं के आधार पर गृह्य सूत्र, श्रौतसूत्र, शुल्व सूत्र और धर्म सूत्रों की रचना हुई है जो कल्पनाम से गृहीत किये जाते हैं। मन्त्रों का अर्थ विचार पूर्वक गृह्य, श्रौत कर्मों एवं यज्ञ कर्म वा यज्ञाङ्गों में विनियुक्त करना और वर्णाश्रम के धर्म और पदार्थों के धर्म का विचार करना कल्प-विज्ञान का काम है। गृह्य में होने वाले संस्कार आदि कर्म और यज्ञ गृह्य कर्म है। अश्वमेध, राजसूय, अग्नि होत्र, वाजपेय, राजसूय दर्शपौर्णमास आदि श्रौत कर्म हैं। इन यज्ञों में कुण्ड आदि किस प्रकार का बने और उसकी माप आदि क्या और कैसी हो इत्यादि शुल्व कर्म है। कौन से लोग यज्ञों को करें उनका वर्ण क्या हो, आश्रम क्या हो और देवताओं को जो यज्ञ के देवता कहे जाते हैं उनका अस्तित्व क्या है, वे केवल ज्ञानात्मक है वा सत्तात्मक हैं, किस प्रकार उनकी सत्ता का निर्णय हो और मूलतः कितने पदार्थ हैं—इत्यादि क्रिया धर्म और पदार्थ धर्म का वर्णन, धर्म कर्म है। इन्हीं को लेकर कल्प में चार प्रकार के सूत्रों की रचना है।

कल्प विज्ञान का आधार वेद ही है—यह निम्न मन्त्रों से स्पष्ट होता है:—

**१—यज्ञेयज्ञे स मर्त्यो देवान् त्सपर्यति । यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आ विवासत्येनान् ॥**

ऋ० १० । ८३ । २ ॥

२—त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः ।
तुभ्यं यज्ञो वितायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतः० ॥
अथर्व० १७ । १ । १८ ॥

३—यो देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया देवेभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम् ।
इमं यज्ञं सहपत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥
अथर्व० १९ । १ । १२ ॥

४—समिधा अग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन्हव्याजुहोतन ॥

इन वेद मन्त्रों में प्रथम से लेकर चार तक क्रमशः निम्न बातों की प्रेरणा पायी जाती है—

यज्ञ में वेदों के निमित्त यज्ञ और विद्वान् देवों का सत्कार मनुष्य करे और इससे वह पापों से बचता है, यज्ञों में देवता होते हैं और आहुति उन्हीं के निमित्त दी जाती है, परमेश्वर की आज्ञा के पालनार्थ यज्ञ किये जाते हैं, यज्ञदेव दो प्रकार के हैं आहुति वाले और विद्वान् देव (दक्षिणा आदि वाले) तथा यज्ञ में ऋत्विज्, यजमान और यजमान की पत्नी कार्य करते हैं, समिधा से अग्नि प्रज्वलित करें, घृत से आहुति द्वारा प्रदीप्ततर करें और सामग्री डालें। ये सब यज्ञ की ही प्रेरणा देते हैं।

अथर्ववेद ११ । ७ । ५-१२ मन्त्रों में यज्ञांग, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अश्वमेध, अग्न्याधेय, दीक्षा, उत्सन्न यज्ञ, सत्र, अग्निहोत्र, दक्षिणा, इष्ट, पूर्त, एकसत्र, द्विरात्र, चतूरात्र, पंचरात्र, षड्रात्र, षोडसी आदि का वर्णन नामशः आया है।

इसी प्रकार यजुर्वेद में 'इयं वेदि' आदि मन्त्रों में वेदी और इष्टका आदि का वर्णन भी है। साथ ही अथर्व० १९ । ६८ । १ में यह कहा गया है कि हम बुद्धि तर्क से व्यापक और अव्यापक के भेद को खोलकर ज्ञान प्राप्त करते हैं और उस ज्ञान से कर्मों, कर्त्तव्यों का आरम्भ करते हैं। पुरुषसूक्त आदि से दार्शनिक विचारधारा का यज्ञ के साथ-साथ उद्गम होता है—ऐसा विचार मिलता है। अतः संक्षेप में यही कहना चाहिए कि कल्प विज्ञान का मूलाधार भी वेद ही है।

## (३) छः दर्शनों का मूल छः अङ्गों में कौन सा अङ्ग है ?

दर्शन विद्या का मूल स्रोत भी वेद ही है। परन्तु दर्शन को उपांग कहा जाता है। अतः उपांग का भी तो किसी अंग से कुछ न कुछ सम्बन्ध होना चाहिए। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में इन्हें कल्पसूत्रों में माना है। इससे स्पष्ट है कि ये कल्प सूत्रों से सम्बन्ध रखते हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दः, निरुक्त और ज्यौतिष—ये वेद के छः अंग हैं। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त ये छः दर्शन हैं और उपांग है। छः अंगों में क्षिक्षा, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त के साथ तो इनका सम्बन्ध हो नहीं सकता है। केवल कल्प अंग ही एक ऐसा है कि जिसके साथ सम्बन्ध हो सकता है। कल्प के अन्दर धर्म सूत्र भी आते हैं। धर्म सूत्र वर्णाश्रम धर्म, राजनीति, कर्त्तव्य आदि का भी वर्णन करते हैं। कर्म कई समस्याओं का उत्तर चाहता है, जब कि उसके फल और उसके रहस्य पर विचार किया जाता है। कर्म में कौन सा कर्म करणीय है और क्यों है ? इत्यादि समस्यायें खड़ी होती हैं। इनका समाधान करने में कर्मकर्त्ता, जगत् और जगत् के अंचल में कार्य करने वाली शक्ति परमेश्वर का विचार सर्वथा अपेक्षित है। इन्हीं विषयों का

विचार धर्म सूत्रों और उन पर बनी स्मृतियों में पाया जाता है। दर्शन में इनका पूरा ऊहा-पोह किया गया है। बिना सृष्टि विज्ञान और कर्म फल आदि की व्यवस्था के निर्णय के कर्त्तव्य की मीमांसा नहीं की जा सकती है। दर्शन इनका विचार करते हैं अतः ये कल्प से सम्बद्ध हैं। मीमांसा दर्शन तो सीधा ही यज्ञादि का प्रतिपादन करता है इस प्रकार कल्प के साथ दर्शनरूपी उपांगों का सम्बन्ध सुतराम् सिद्ध है ?

## (४) वेद मन्त्रों में वर्णित इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का वास्तविक विवेचन

वेदों में व्यक्ति विशेषों का कोई इतिहास नहीं है। व्यक्ति विशेष से तात्पर्य वस्तु, नाम, स्थान और मनुष्य व्यक्ति विशेषों से है। वेदों में इनका इतिहास नहीं पाया जाता है। परन्तु जब वेदमन्त्रों में ही इतिहास पुराण आदि शब्द पाये जाते हैं तब सन्देह उत्पन्न होता है कि ये क्या हैं ? इनकी इस प्रकार नित्य वेद में क्यों वर्णन है ? अथर्व० १५। ६। ११ में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का वर्णन आता है। पुनः अथर्ववेद ११। ७। २४ में 'पुराणं यजुषा सह' पाठ आया है इन शब्दों का स्पष्टीकरण यहां पर किया जाता है।

इतिहास का तात्पर्य सृष्टि की शक्ति भूतदेवों से सृष्टि किस प्रकार पैदा होती है इसका विज्ञान है। इति+ह+आस" इस प्रकार की वर्णन शैली का नाम इतिहास है। गाथा वे ऋचायें हैं जो संवाद के रूप में मालूम पड़ती हैं और व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती हैं। नाराशंसी वे मन्त्र हैं जिनमें मानव सम्बन्धी अर्थात् माता, पिता आचार्य आदि की बातें कही गईं हैं। ये भी व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखने वाले नहीं हैं। नाराशंस नाम यज्ञ का भी है। इस सम्बन्धी भी मन्त्र नाराशंसी कहलायेंगे। कल्प और ब्राह्मण यज्ञ सम्बन्धी विज्ञान हैं। वर्तमान कल्प ग्रन्थ और ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं। पुराण का अर्थ सृष्टि विद्या है। अथर्व० ११। ८। ७ मन्त्र जो निम्न प्रकार है इस पर प्रकाश डालता है:—

> येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
> यो व तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥

'पुराणं यजुषा सह' में पुराण से सृष्टिविद्या अभिप्रेत है। यजुर्वेद का ३१, ३२ वां अध्याय पुराण विज्ञान है। इस प्रकार इन शब्दों का तात्पर्य एतत्प्रकार वा नामवाले विज्ञानों से है। लोक में अति प्रसिद्ध रूढ़ार्थों से नहीं।

## (५) पुरुषसूक्त नाम का वास्तविक रहस्य

चारों वेदों में पुरुष सूक्त पाया जाता है। यह नाम इसलिए सूक्त का कहा जाता है कि इनमें पुरुष का वर्णन है। पुरुष पद का अर्थ निम्न प्रकार किया जाता है:—

१—पुरियों अर्थात् शरीर में शयन करने वाला पुरुष=जीवात्मा।
२—पुरी अर्थात् ब्रह्मांड में विराजमान पुरुष=परमेश्वर।
३—पूर्णता करता वा कमी का भरण करता है वह पुरुष है अर्थात् जीवात्मा।
४—पूर्णता का प्रतीक एक मात्र पूर्ण परमेश्वर।
५—समाज में इकाई के रूप में समष्टि का पूरक जीव।
६—जगत् की रचना की पूर्ति करने वाला पूर्ण कारण परमेश्वर।

इसी प्रकार 'पुरी' का भी अर्थ भिन्न-भिन्न है जो निम्न प्रकार है:—

१—पुरी का अर्थ शरीर है।
२—पुरी का अर्थ समाज वा राष्ट्र है।
३—पुरी का अर्थ ब्रह्माण्ड है।
४—पुरी का अर्थ परमपूरक प्रकृति भी है।

अतः पुरुष के वर्णन के प्रसंग से पुरुषसूक्त में निम्न बातों का वर्णन पाया जाता है:—

१—शरीराधिष्ठाता, समाज निर्माता, कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता और भौतिक वस्तुओं के मूल्य का मापदण्ड जीवात्मा।
२—ब्रह्माण्डाधिष्ठाता, जगत् का कर्त्ता, हर्त्ता, शरीरों का निर्माता, कर्मफल दाता, ज्ञानदाता तथा शाश्वत नियमों का नियामक परमेश्वर।
३—जगत् से जीव और परमेश्वर का सम्बन्ध।
४—शरीर के साथ जीव और परमेश्वर का सम्बन्ध।
५—समाज, राष्ट्र और उसका निर्माण तथा जीव का उससे सम्बन्ध और परमेश्वर की प्रेरणा।
६—जो सृष्टि में है वही शरीर में है और इन दोनों के ज्ञान को लेकर ही समाज का उत्तम निर्माण हो सकता है।
७—जीव और परमेश्वर के विना सृष्टि की समस्या का समाधान केवल प्रकृति से नहीं किया जा सकता है। जगत् की रचना प्रकृति पुरुषात्मक है, शरीर भी प्रकृति पुरुषात्मक है अतः समाज की रचना भी प्रकृति=भौतिकता और पुरुष=अभौतिकता को लेकर ही सम्पन्न होगी।
८—भौतिक वस्तुओं के मूल्यांकन, ज्ञानों प्रमाणीकरण, भौतिक साधनों और चेतना के समन्वय का आधार पुरुष है।
९—समाज कर्त्तव्य और अधिकार पर खड़ा चेतनों का संघटन है जो विना चेतन जीव और परमेश्वर को प्रकृति के अतिरिक्त माने हुए हो नहीं सकता है।

अतः शरीर की रचना और प्रत्येक अंग, प्रत्यंग के कार्य कलापों को देखते हुए समाज का निर्माण होना चाहिए। अधिकार कर्त्तव्यों के आधार पर हों। कर्त्तव्य विना भगवत् प्रेरणा और आत्मा के कर्त्तृत्व एवं स्वातन्त्र्य को माने हो नहीं सकते हैं। भोग की वस्तुओं को मूल्य भोक्ता से मापा जाता है। यदि किसी वस्तु का कोई भोक्ता ही न हो तौ उसका कोई मूल्य बनेगा नहीं। शरीर और सृष्टि की रचना के ज्ञान के आधार पर समाज के कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का निर्धारण हो सकता है। केवल प्रकृति से नहीं। पुरुष की इस प्रधानता को देखते हुये इस सूक्त का नाम पुरुष सूक्त रखा गया है।

# वेद और छन्दः शास्त्र

( श्री सच्चिदानन्द शास्त्री )

वेदों के ६ अंग कहे जाते हैं उनके नाम नीचे लिखे हैं:—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
छन्दसा लक्षणं चेति षडंगानि विदुर्बुधाः ॥

इन शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द नाम के वेदांगों में से यहाँ छन्दः शास्त्र के विषय में कहा गया कि—

"छन्दः पादौ तु वेदस्य"

अर्थात् वेद को एक पुरुष रूप में कल्पित किया जावे तो वेद के छन्द वेद के पैरों के समान है अर्थात् जिस प्रकार पादहीन लंगड़ा व्यक्ति चल नहीं सकता या लड़खड़ा कर चलता है ऐसे ही छन्द को गलत ढंग से प्रयोग कर देने पर वह रचना लड़खड़ाने लगती है । इसको हम एक लौकिक उदाहरण देकर समझाते हैं ।

यथा—शिखरिणी छन्द में १७ अक्षर होते हैं । वहां ६ अक्षर अलग करके बोले जाते हैं । अगर ६ तक बोल कर कुछ विराम पूर्वक लम्बा उच्चारण करो फिर शेष छन्द बोलो बड़ा अच्छा लगेगा । इसके विपरीत बोलकर देख लो छन्द रचना लंगड़ी लगेगी । उदाहरणार्थ—

दयानन्दं वन्दे, भुवि सकल पाखण्डदलनम् ।

ये छन्द दो प्रकार में विभक्त हैं ।

(१) लौकिक छन्द । (२) वैदिक छन्द । लौकिक छन्द मात्रा छन्द आदि भेद से नाना प्रकार के हैं । उनमें से कुछ छन्द प्रचलित हैं और उनके नाम भी रख दिये गये हैं । शेष और छन्द बनाये जा सकते हैं और उनके नाम भी रखे जा सकते हैं पर वे सब मर्यादा में ही हैं । उनकी मात्रा गुरु या लघु स्थिति निश्चित है । जैसे तीन अक्षर वाले छन्द सात ही बन सकते हैं इसको प्रस्तार से बनाया जाता है । इन लौकिक छन्दों के ग्रन्थ 'वृत रत्नाकर' छन्दोमंजरी आदि हैं । वे छन्द हमारे प्रस्तुत लेख का विषय नहीं है । वैदिक छन्दों के विषय में यहां लिखना है ।

कुछ छन्द ग्रन्थ केवल लौकिक छन्दों का ही वर्णन करते हैं जिनका हमने ऊपर नाम लिखा है । कुछ ग्रन्थ वैदिक छन्दों का ही वर्णन करते हैं । जैसे ऋग्वेद प्राप्तिशाख्य आदि पर जयदेव की छन्दों विचिति और पिंगल छन्द सूत्र, लौकिक वैदिक दोनों छन्दों को बताते हैं । पठन-पाठन विधि में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पिंगल कृत छन्द सूत्र को पाठ्य ग्रन्थों में रखा है ।

**वैदिक छन्दों के ग्रन्थ :—**

१—पिंगल छन्दः सूत्र और २—जयदेव कृत छन्दः सूत्र में वैदिक, लौकिक दोनों छन्दों का

वर्णन है। इनके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो केवल छन्द ग्रन्थ नहीं हैं प्रत्युत उन ग्रन्थों में और विषयों के साथ वैदिक छन्दों पर भी कुछ पृष्ठ लिखे हैं। पिंगल और जयदेव के ग्रन्थ तो केवल छन्द ग्रन्थ ही है जो और ग्रन्थ हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

३—ऋक्प्रातिशाख्य-कर्ता शौनक, ४—ऋक्सर्वानु क्रमणी-कर्ता कात्यायन, ५—निदान सूत्र-कर्ता पतंजलि, ६—उपनिदानसूत्र-कर्ता गार्ग्य, ७—शाखांयन श्रौत-कर्ता शांखायन, अपने ऋग्वेद भाष्य के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में वेंकट माधव ने कुछ श्लोक लिखे हैं। उसमें एक छन्दोनुक्रमणी भी लिखी है।

इन उपयुक्त ग्रन्थों में वैदिक छन्दों का पूरा वर्णन है।

**प्राचीन छन्दः शास्त्र प्रवक्ता :**

इतिहास के पृष्ठों में अनेक छन्दः शास्त्र निर्माता आचार्यों का पता चलता है जिनके सम्भाव्य नाम हम नीचे देते हैं।

१. नन्दी, २. गुह, ३. सनत्कुमार, ४. बृहस्पति, ५. इन्द्र, ६. शुक्र, ७. कपिल, ८. माण्डव्य, ९. वशिष्ठ, १०. सैतव, ११. भरत, १२. कौहल, १३. यास्क, १४. रात, १५, कौस्तुकि,१६. कौण्डियन्स १७. ताण्डी, १८. अश्वतर, १९. कम्बल, २०. काश्यप, २१. पांचाल, २२. शौनक, २३. गरूड़, २५. गार्ग्य, २५. देवनन्दी, २६. गण स्वामी, २७. पाल्पकीर्ति, २८. दमसागर। आदि आचार्य भी छन्दः शास्त्र के प्रवक्ता हुए है।

**वैदिक छन्दः शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय :**

कुछ लौकिक ही हैं, कुछ छन्द वैदिक ही हैं पर कुछ छन्द लौकिक वैदिक साधारण हैं। हम यहां केवल वैदिक छन्दों का वर्णन करेंगे। छन्द दो प्रकार के होते हैं मात्रिक छन्द और अक्षर छन्द, उनके भेद अक्सर संज्ञा सहित लिखे जाते हैं।

**छन्दों के भेद :**

**प्रथम सप्तक :**

१. गायत्री २४ अक्षर, २. उष्णिक् २८ अक्षर, ३. अनुष्टुप ३२ अक्षर, ४. बृहती ३६ अक्षर, ५. पंक्ति ४० अक्षर, ६. त्रिष्टुप ४४ अक्षर, ७. जगती ४८ अक्षर।

**द्वितीय सप्तक :**

१. अतिजगती ५२ अक्षर, २. शक्वरी ५६ अक्षर, अतिशक्वरी ३. अक्षर, ४. आष्टि ६४ अक्षर, ५. अत्याष्टि ६८ अक्षर, ६. धृति ७२ अक्षर, ७. अतिधृति ७६ अक्षर।

**तृतीय सप्तक :**

१. कृति ८ अक्षर, २. प्रकृति ८४ अक्षर, ३. आकृति ८८ अक्षर, ४. विकृति ९२ अक्षर, ५. संस्कृति ९६ अक्षर, ६. आमकृति १०० अक्षर, ७. उत्कृति १०४ अक्षर। इत्यादि अनेक भेद छन्दों के हैं।

**षड्ज आदि स्वर :**

सात स्वर होते हैं:—

१. षड्ज, २. ऋषभ, ३. गान्धार, ४. मध्यम, ५. पंचम, ६. धैवत, ७. निषाद।

ये जो हमने ऊपर तीन सप्तक छन्दों के लिखे हैं उनमें प्रत्येक सप्तक में ये सात स्वर क्रम से समझे जैसे—गायत्री का षड्ज स्वर। उष्णिक का ऋषभ, स्वर अनुष्टुप का गान्धार स्वर। वृहती का मध्यम स्वर। पंक्ति का पंचम स्वर। त्रिष्टुप का धैवत स्वर और जगती का निषाद स्वर है। इसी प्रकार अगले सप्तकों में क्रमशः षड्ज आदि स्वर समझ लें। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपने वेद भाष्य में हर मन्त्र के साथ उसका छन्द और स्वर दिखाया है। वहां ध्यान से देख लो। वैदिक यन्त्रालय अजमेर के छपे मूल वेदों में भी यह स्वर सब मन्त्रों के छपे हुए हैं।

**छन्दों में अक्षर न्यूनता या अधिकता :**

जो ऊपर हमने अक्षर संख्या प्रत्येक छन्द की दिखाई है यदि उसमें एक अक्षर कम हो तो उसको निचृत् कहते हैं और यदि दो अक्षर किसी छन्द में कम हो तो उसको विराट् कहते हैं। इसी प्रकार एक अक्षर किसी छन्द में नियत संख्या से अधिक हो तो उसको भुरिक् कहतेहैं और दो अक्षर अधिक हो तो उसको स्वराट् कहते हैं। जैसे गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। यदि एक अक्षर कम हो तो उसको निचृद् गायत्री कहते हैं दो अक्षर कम हो तो उस गायत्री को विराट् गायत्री कहते हैं। इसी प्रकार एक अक्षर अधिक हो तो उसको भुरिक् गायत्री कहेंगे और दो अक्षर अधिक हो तो उसको स्वराट् गायत्री कहते हैं इसी प्रकार सब छन्दों में समझें।

**छन्दोज्ञान से वेदार्थ में सहायता :**

जिस प्रकार व्याकरण, निरूक्त आदि वेदांगों के ज्ञान से वेदार्थ में सहायता मिलती है इसी प्रकार छन्द के ज्ञान से भी मन्त्र के अर्थ करने में सहायता मिलती है या नहीं इस विषय में दो मत हैं। स्कन्द आदि वेद भाष्यकार कहते हैं कि छन्द वेदार्थ में उपयोगी नहीं है।

जैसा कि स्कन्द कहता है कि—

**तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधते उपयुज्यमानत्वात् ते**
**दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वत्॥**

अर्थात् अर्थज्ञान के लिये ऋषि देवता तो उपयोगी है उनको तो दिखाया जावेगा। पर क्योंकि छन्द का अर्थ ज्ञान में कोई उपयोग नहीं है अतः वेद भाष्य में छन्दों को दिखाने की आवश्यकता नहीं है।

परन्तु सायण, जयतीर्थ आदि भाष्यकार छन्दोज्ञान को भी वेदार्थ में उपयोगी,सिद्धांत रूप से मानते हैं पर उसको सिद्ध नहीं कर सके। श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने एक ग्रन्थ वैदिक छन्दोमीमांसा लिखा है उसमें उन्होंने छन्दोज्ञान को वेदार्थ में उपयोगी तो बताया पर जो वेद-भाष्यकार छन्दोज्ञान को वेदार्थ में उपयोगी नहीं मानते उनका उपहास करते हुए पं० युधिष्ठिर जी लिखते हैं कि—

"हमारे विचार से वैदिकों के इस भ्रान्त धारणा का मूल लौकिक काव्यों का गर्हित रचना प्रकार है।" ( वै० द० पृष्ठ ६५ )

चिरकाल से कवियों की धारणा है कि छन्दोज्ञान का उपयोग केवल नवीन काव्यसर्जन तक ही सीमित है। उनका काव्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ( वै० द० पृष्ठ ६३ )

## छन्दोमीमांसा के कर्त्ता की धारणा भ्रान्तिमूलक है :

इस ग्रन्थ कर्त्ता के लेख के पढ़ने से ज्ञात होता है कि इसने न तो अलंकार शास्त्रों का अध्ययन किया और न नवीन के साहित्य के अन्य महाकवियों के ग्रन्थ ही पढ़े हैं। उसका कारण केवल यह है कि इसने आर्ष शैली से पढ़े हैं। अनार्ष ग्रन्थ वे पढ़ नहीं सकते तो अच्छा होता कि वर्तमान अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों के बारे में कोई राय भी नहीं देते। इन्हें ज्ञात होना चाहिये कि नवीन साहित्य के ग्रन्थों के लिखने वालों ने छन्दों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया है।

छन्दों का शृंगार आदि रसों के साथ सम्बन्ध जोड़कर उनका विवेचन किया है। जैसे रघुवंश का एक श्लोक है जो वियोग में कहा हैं—

**गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।**
**करुणा विमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥**

इस श्लोक को पढ़कर देख लो इस छन्द में रोया जा सकता है पर वीर रस और हास्य रस की रचना इस छन्द में नहीं हो सकती है। छन्दों के अर्थों का सम्बन्ध नवीन कवियों के संसार में कितना सूक्ष्म विवेचन पूर्ण है इस पर ग्रन्थ लिखा जा सकता है उसको बिना पढ़े नवीन साहित्यकारों का उपहास करना उन ग्रन्थों के अनध्ययन को ही प्रकट करता है। हम इस विचार से सहमत हैं कि छन्दोज्ञान वेदार्थ में सहायक है। पर उसका प्रकार और है।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के ग्रन्थों के भाष्यकार वेदाचार्य श्री आचार्य विश्वश्रवा: जी, स्वामी जी के ऋग्वेद भाष्य की व्याख्या करते हुए जो 'ऋग्वेद महाभाष्य' लिखा है उसमें उन्होंने न केवल छन्दों को वेदार्थ में सहायक बताया प्रत्युत जो एकाक्षर न्यूनतादि के कारण जो निचृत् आदि भेद हैं, वे भी मन्त्रार्थ में सहायक हैं। श्री आचार्य विश्वश्रवा: जी के ऋग्वेद महाभाष्य से हम एक उदाहरण देते हैं।

ऋग्वेद का मन्त्र है कि—

**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।**
**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥**

इस मन्त्र में त्रिष्टुप छन्द है त्रिष्टुप छन्द के प्रत्येक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं। एक अक्षर कम होने से यह छन्द निचृत् है। वह एक अक्षर तब पूरा होता जबकि सन्धि को पृथक् कर के इस प्रकार किया जावे कि—

**बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानामाहुः ॥**

अतः बहुधा वदन्ति अलग वाक्य है और आगे दूसरा वाक्य है और दोनों के पृथक्-पृथक्

विषय है। इत्यादि नाना प्रकार से छन्दों के ज्ञान से वेदार्थ में सहायता मिलती है। परन्तु पं० युधिष्ठिर जी के अनुसार पाद की समाप्ति पर प्रत्येक बार अर्थ समाप्ति मानना और फिर दूसरे पाद के शब्द की अनुवृत्ति मानना और अन्वय करने में कोई विशेषता नहीं है और पं० युधिष्ठिर जी ने जो यथा के प्रयोग निपात और उदात्त के दिखाये हैं वे भाषा प्रवाह के कारण है न कि पाद की की दृष्टि से। प्रत्येक अवस्था में छन्द वेदार्थ में सहायक अवश्य हैं।

### पिंगल सूत्रों की रचना

पिंगल रचित छन्द सूत्रों की रचना आरम्भ से इस प्रकार की है कि उसमें कुछ उपदेश भी हैं जैसे—

"धी श्री स्त्री" अर्थात् जब बुद्धि होगी तब सम्पत्ति होगी, जब सम्पत्ति होगी तब विवाह ठीक है इत्यादि विशेषता छन्दो ज्ञान के साथ-साथ सूत्रों मैं है। ऋषियों की प्रत्येक रचना अनृषियों की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है।

## ऋषि ने कहा था—

१—सर्वशक्तिमान जगदीश्वर आप मुझे और सब पढ़ने-पढ़ाने हारे तथा सब संसार पर अपनी कृपा दृष्टि से सभ्य विद्वान् शरीर और आत्मा के बल से युक्त और परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्ध कराने में चिरायु स्वस्थ्य, पुरुषार्थी उत्साही करे कि जिससे इस परमात्मा की सृष्टि में उसके गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभावों को करके धर्मार्थ काम और मोक्ष की सिद्धि कर-करा के सदा आनन्द में रहें।

२—हे परमेश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें।

३—जिस परमात्मा का यह ओ३म् नाम है उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे शरीर मन और आत्मा का त्रिविध दुःख जो कि अपने दूसरे से होता है नष्ट हो जावे और हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त्त के धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयं आनन्द से रहकर सबको आनन्द में रखें। (संस्कारविधि से)

१—हे परमैश्वर्यवान् भगवन्! धर्मार्थ काम मोक्षादि तथा विज्ञानादि दान से अत्यन्त मुझ को बढ़ा। (आर्याभिविनय से)

# व्याकरण विद्या का मूलाधार वेद

(लेखकः—श्री पं० काशीनाथ शास्त्री, एम०ए०, साहित्यालंकार, गोंदिया)

**व्या**करण वह विद्या है जिससे किसी भाषा के शब्दों के प्रकारों और प्रयोग के नियमों आदि का निरूपण होता है। व्याकरण के मुख्यतः तीन विभाग हैः—(१) वर्ण विभाग, (२) शब्द विभाग, (३) वाक्य विभाग।

**वर्ण विभाग** (Orthography) में अक्षरों के आकार और उच्चारण का विधान है।
**शब्द विभाग** (Etymology) से शब्दों के भेद, रूप आदि का बोध होता है।
**वाक्य विभाग** (Syntax) में वाक्यों के बनाने का विधान है।

वास्तव में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द वेद का अंग है और इसीं लिये ये वेदांग कहलाते हैं। वेद का अध्ययन अंगोपांग सहित ही यथावत हो सकता है। महर्षि पतजंलि महाभाष्य में स्पष्ट लिखते हैंः—

**ब्राह्मणेन निष्कारणो षडंगो वेदोऽध्येय ज्ञ`यश्च।**

इन वेदाङ्गों में निरुक्त और व्याकरण वेदार्थ के मुख्य साधन हैं। इसीलिये यास्क मुनि निरुक्त शास्त्र के प्रयोजन दर्शाते हुए लिखते हैंः—

**अथापीदमन्तरेण मन्त्र ष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।**
**अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्द`शस्तिदवं विद्या स्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च ॥१॥**

**अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते, अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति तद्देतेनोपेक्षितव्यम्।**
**अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च ॥२॥**

अर्थात्—(१) इस निरुक्त शास्त्र के बिना अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। जो अर्थ नहीं जानता वह स्वर संस्कार (प्रकृति प्रत्यय रूप) का यथावत् अवधारण नहीं कर सकता। अतः यह शास्त्र अर्थ परिज्ञान का साधक होने से निर्वचन विद्या का स्थान है तथा व्याकरण शास्त्र की पूर्णता करने वाला और मन्त्रार्थ वोध का साधक है।

(२) निरुक्त के बिना पद विभाग सम्बन्धी ज्ञान नहीं हो सकता, तथा यज्ञ कर्मों में देवता द्वारा बहुत से विधि-निर्देश किये जाते हैं, वह देवता सम्बन्धी ज्ञान इस निरुक्त शास्त्र द्वारा ही जानना होगा। जो अर्थज्ञ होता है उसी की संसार में प्रशंसा होती है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि महामुनि यास्क के मत में निरुक्त और व्याकरण वेदार्थ के मुख्य साधन हैं। वस्तुतः निरुक्त और व्याकरण का समवाय सम्बन्ध है। सम्भवतः महर्षि स्वामी दयानन्द ने भी वेदार्थ के सम्बन्ध में जो धारणा निर्धारित की वह "व्याकरण" (अष्टाध्यायी और

महाभाष्य) तथा "निरुक्त" इन दो के आधार पर ही निश्चित की। अन्य ब्राह्मण,उपांगादि सहायक सामग्री कहे जा सकते हैं।

अब आइये लेख के प्रमुख विषय की ओर, जब व्याकरण वेदांग है तो व्याकरण विद्या का मूलाधार वेद तो हैं ही। वैसे भी जब वेद सब सत्य विद्याओं के भंडार हैं तो फिर व्याकरण विद्या का मूलाधार वेद क्यों न होंगे। वेदों में व्याकरण विद्या के समस्त प्रमुख अंगों का अत्यन्त विशद वर्णन एवं विवेचन है।

## वैदिक व्याकरण की विशेषतायें

वैदिक व्याकरण अपनी पूरी वर्ण माला, धातु पाठ, प्रत्यय, नियम, तीन लिंग, तीन वचन, आठ विभक्ति, दशालंकार, सन्धि कौशल और स्वर विज्ञान में पूर्ण समर्थ है। जब इन समस्त प्रत्यंगों का वाक्यों में प्रयोग होता है, तब वे वाक्य निश्चित और अटल बन जाते हैं। उस समय उन वाक्यों में जो कुछ जिससे कहा जाता है वह उसके पास उसी रूप में पहुंचता है जिस रूप में वह वक्ता के पास था। सहस्रों वर्ष तक उस वाक्य का वही अर्थ निकलता रहेगा जो उसके निर्माण के समय निश्चित हुआ था। इसका कारण यही है कि वह वाक्य अपनी वर्णमाला, स्वर, धातु तथा व्याकरण के अन्य नियमों में अच्छी तरह ग्रन्थित कर दिया गया है।

वैदिक व्याकरण की यह विशेषता संसार के अन्य किसी व्याकरण में नहीं है। वैदिक व्याकरण में संकोच का दोष नहीं है प्रत्युत विस्तार का गुण है। वैदिक व्याकरण भाषा विस्तार में सहायक है, बाधक नहीं। साथ ही वैदिक व्याकरण भाषा को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है यदि वैदिक व्याकरण में यह विशेषता न होती तो आज वेदों की भाषा का क्या रूप होता और उसका अर्थ हो सकता या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता।

वैदिक व्याकरण में सबसे महत्वपूर्ण बात स्वर विज्ञान की है, जो संसार की किसी अन्य भाषा में नहीं है। वेद-भाषा स्वरों के द्वारा अर्थ को निश्चित करती है इसीलिये वेद अपनी वर्ण-माला, लिपि, व्याकरण और पाठ्यक्रम के कारण अत्यन्त प्राचीन होने पर भी आज वैसे ही पढ़े जाते हैं, जैसे वे अपने जन्म-काल में पढ़े जाते थे और उनकी वह भाषा अब तक वैसी ही बनी हुई है जैसी वह अपने जन्म समय में थी। किन्तु परिवर्तन रहित और पूर्ण वर्णमालायुक्त भाषा की रचना बिना परमेश्वरीय प्रेरणा के आप ही आप नहीं हो सकती।

वैदिक भाषा के अपौरुषेय होने में जिस प्रकार यह प्रबल युक्ति है कि उसकी वर्णमाला अपौरुषेय है उसी प्रकार यह प्रबलतम युक्ति है कि उसकी वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण सार्थक है अर्थात् वर्ण और शब्द के बीच में तथा शब्द और वाक्य के बीच में वैज्ञानिक सम्बन्ध हैं, जो अर्थ ध्वनि के साथ कार्य और कारण भाव दर्शाता है। शब्द रूपी अंगी उसी प्रकार ग्रन्थित है, जिस प्रकार धड़ के साथ शिर और हाथ-पैर, जो भाषायें अकस्मात् उद्भूत होती हैं उनमें कारण-कार्य की विशेषता नहीं होती। परन्तु वेद का प्रत्येक शब्द वर्णानुसार अर्थ रखता है और वर्ण अपनी बनावट से अर्थ सूचित करता है।

## वैदिक व्याकरण का अक्षर विज्ञान

वैदिक व्याकरण में कुल ६४ वर्ण (अक्षर) हैं। इनके दो भेद हैं:—(१) स्वर, (२) व्यंजन।

**स्वरः—**

उन वर्णों को कहते हैं जिनका उच्चारण सहज एवं स्वतन्त्रता से होता है और व्यंजनों के उच्चारण में सहायक होते हैं ।

**व्यंजनः —**

वे वर्ण हैं जिनके उच्चारण में स्थान और प्रयत्न दोनों की आवश्यकता पड़ती है एवं जो स्वर की सहायता के बिना नहीं बोले जा सकते ।

बात कुछ शालेय शिक्षा की सी हो जाती है किन्तु ६४ वर्णों की परिगणना एवं व्युत्पत्ति की ओर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया होगा । अस्तु इस पर कुछ प्रकाश डालना अनावश्यक न होगा ।

वास्तव में वैदिक व्याकरण में मुख्यतः १७ अक्षर हैं । इन १७ अक्षरों में अ, इ, उ, ऋ और लृ पांच स्वर हैं । क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प और व दस व्यंजन हैं तथा ं (अनुस्वार) और : (विसर्ग) दो मध्यस्थ हैं । इन्हीं १७ अक्षरों के परस्पर मिश्रण और संयोग से ६४ अक्षर हो गये हैं । (अ+अ) से आ, और (आ+अ) से आ ३ (प्लुत) बना है । इसी प्रकार इ, उ, ऋ और लृ का भी विस्तार है । इस तरह ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत-भेद से इनके तीन-तीन रूप हो जाते हैं । इस प्रकार अ से लृ तक इनकी संख्या १५ है । पुनः ए, ए ३, ऐ, ऐ ३, ओ, ओ ३, औ, औ ३, तथा अं, अः ये १० स्वर और हैं । इस तरह कुल मिलाकर सब स्वरों की संख्या २५ होती है । इनमें अ, इ, उ, ऋ और लृ स्वतन्त्र हैं, परन्तु ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः मिश्रित हैं । अ और इ के मिश्रण से ए, (आ+इ) से ऐ, (अ+उ) से ओ तथा (आ+ऊ) से औ बना है । इसी तरह अ और ं से अं तथा अ और : से अः बना है । ञ, ण, न, ङ, म ૅ और ँ आदि समस्त सानुनासिक वर्ण अनुस्वार से और ह, स, श, ष, आदि वर्ण विसर्गों से ही बने हैं । विसर्गों में 'अ' जोड़ने से 'ह' बन जाता है । 'ह' अर्थात् विसर्गों का ही 'स' हो जाता है और यही 'स' टवर्ग के साथ होने से 'ष' तथा चवर्ग के साथ होने से 'श' हो जाता है । क, ग, च, ज, ट, ड, न, द, प और व में 'ह' जोड़ने से क्रम से ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ हो जाते हैं । (इ+अ) से 'य', (ऋ+अ) से 'र' (लृ+अ) से 'ल' और (उ+अ) से 'व' बना है । इसी प्रकार (क+ष) से क्ष, (त+र) से त्र और (ज+ञ) से 'ज्ञ' बना है । इसी तरह २५ स्वर के, २५(क वर्ग आदि) पांच वर्गों के और (य, व, र, ल, श,ष, स, ह, क्ष, त्र, ૅ और ऊं आदि) १३ स्फुट के मिलाकर ६३ अक्षर होते हैं । इन्हीं में एक अर्ध चन्द्र ँ सम्मिलित करने से कुल ६४ अक्षर हो जाते हैं । यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र प्रथम लिखे गये उन्हीं १७ मूलाक्षरों के स्पष्ट निर्देशक हैं:—

**१—अग्निरेकाक्षरेण·········अश्विनौ द्वयक्षरेण ।**<br>
**विष्णुस्त्र्यक्षरेण·········सोमश्चतुरक्षरेण ॥**

**२—पूषा पञ्चाक्षरेण·········सविता षडक्षरेण ।**<br>
**मरुतः सप्ताक्षरेण·········बृहस्पतिरष्टाक्षरेण ।**

**३—मित्रो नवाक्षरेण·········वरुणोदशाक्षरेण ।**<br>
**इन्द्र एकादशाक्षरेण······विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण ॥**

**४—वसवस्त्रयोदशाक्षरेण.........रुदश्चतुर्दशा-**
**क्षरेण.........आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण ।**
**अदितिः षोडशाक्षरेण.........प्रजापतिः**
**सप्तदशाक्षरेण ॥** (यजु० ६ । ३१—३४)

महर्षि पाणिनि ने भी लिखा है कि "त्रिषष्टिः चतुः षष्टिर्वा वर्णा शम्भुमते मताः ।" अर्थात् शम्भु (परमात्मा) के वैदिक मत के ६३ या ६४ वर्ण हैं । यजुर्वेद के जिन मन्त्रों को ऊपर उद्धृत किया गया उनमें न केवल उक्त १७ मूलाक्षरों की विद्यमानता है अपितु शेष सभी प्रमुख स्वरों और व्यंजनों का समावेश है । अकेले पहिले मन्त्र (यजु० ६।३१) में हीं ६ स्वर और २३ व्यंजन स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं । इसी प्रकार सभी वेदों में वैदिक व्याकरण की पुष्कल सामग्री का आदि से अन्त तक समावेश है । उदाहरणार्थ ऋग्वेद मंडल १ के प्रथम मन्त्र "अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।" में ही ८ स्वर तथा १७ व्यंजन हैं ।

## वैदिक व्याकरणस्थ धातु विज्ञान

वैदिक व्याकरण में एक ही अक्षर प्रत्यय, अव्यय, संज्ञा या धातु रूप में व्यवहृत होने पर अनेकार्थवाची होता है । प्राचीन वैदिक ऋषि अक्षरार्थ का ज्ञान रखते थे और अक्षरों के अर्थ तथा स्वरों की शैली से ही मन्त्रार्थ करते थे । ऊपर जिन ६४ अक्षरों का वर्णन किया गया है, उन्हीं से धातुएं बनी हैं और उन्हीं धातुओंसे शब्द तथा उन्हीं शब्दों से ही वाक्य अर्थात् वेदों के मन्त्र भी बनेहैं ।

किस प्रकार एक-एक अक्षर अपना वैज्ञानिक अर्थ रखता है और किस प्रकार वह अपनी ध्वनि, बनावट, प्रभाव और लिपि से विज्ञान युक्त सिद्ध होता है इसे विस्तार भय से न लिखकर यहां इनना ही दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है कि उन्हीं वर्णार्थों से किस प्रकार धात्वर्थ निकलता है । सबसे पहिले हम कुछ अक्षरों के अक्षरार्थ लिखेंगे और पुनः कुछ धातुओं से उनका सम्बन्ध दिखावेंगेः—

अ—पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, अभाव, शून्य ।
इ—गति, निकट
ए—गतिहीन, निश्चल, पूर्ण, अव्यय ।
उ, ऊ—ऊपर, दूर, वह, तथा इत्यादि ।
आ—चारों ओर से ।
ओ —अन्य नहीं, वही, दूसरा नहीं ।
ऋ—सत्य, गति, बाहर ।
लृ—सत्य, गति, भीतर ।
क—बांधना, बलवान्, बड़ा, प्रभावशाली, सुख ।
ख—आकाश, पोल, खुला, छिद्र ।
ग—गमन, हटना, स्थान छोड़ना, पृथक् होना ।
च—फिर, पुनः, अन्य, भिन्न इत्यादि ।
द—गति देना, कम करना ।
न—नहीं ।
प—रक्षा करना ।

भ—प्रकट, बाहर, प्रकाश ।
म—नहीं ।
र—देना, रमण करना ।
ल—लेना, रमण करना ।
ह—निश्चय, अन्त, अभाव, संकोच, निषेध ।

वास्तव में अक्षरार्थ में ही अनेकों अर्थों का भाव लक्षित और व्यंजित होता है । किन्तु जब कई अक्षर एक में मिलकर धातु रूप धारण करते हैं तो उस मिश्रण से और भी अनेक भाव (अर्थ) उत्पन्न हो जाते हैं । इसलिये यह न समझ लेना चाहिये कि धातुओं का अर्थ जितना धातु पाठ में है उतना ही है अधिक नहीं । इसीलिये पतंजलि मुनि ने महाभाष्य में लिखा है कि "बह्वर्थापि धातवो भवन्ति ।" अर्थात् धातुयें बहुत अर्थ वाली भी होती हैं । इस पर महर्षि स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के पृष्ठ ३६० में लिखा है कि "बह्वर्थापि" महाभाष्यकार के इस वचन से यह बात समझनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं । जैसे 'ईड' धातु का स्तुति करना अर्थ तो धातु पाठ में है पर 'चोदना' आदि अर्थ भी समझे जाते हैं ।

इस स्थल पर कतिपय धातुओं के वर्ण विश्लेषण करके यह दिखाने का प्रयत्न किया जावेगा कि वे किस प्रकार अक्षरार्थ के अनुकूल हैं:—

भग्—भ=प्रकाश, गति अर्थात् गतिमान् प्रकाश (ऐश्वर्य)
आप्—आ=चारों ओर से, प=रक्षा करना अर्थात् चारों ओर से रक्षा करना ।
अद्—अ=नहीं, द=देना अर्थात् नहीं देना, रख लेना ।
भू—भ=प्रकाश, ऊ=दूर तक अर्थात् दूर तक प्रकाश ।
आप्लृ—आ=हर तरफ, प=रक्षा करना, लृ=भीतर
अर्थात् हर तरफ से भीतर रक्षा किये हुये ।
चर—च=बारबार, र=बाहर गति अर्थात् बार-बार बाहर गति=(चलना) ।
मर—म=नहीं, र=रमन, अर्थात् रमन नहीं, क्रिया नहीं, अस्तित्व नहीं=(मरना)
मख्=म=नहीं, ख=छिद्र अर्थात् छिद्र या त्रुटि रहित श्रेष्ठतम कर्म (यज्ञ)
हन्—ह=निश्चय, न=नहीं अर्थात् निश्चय पूर्वक नहीं, बिल्कुल अभाव ।

## संधि विज्ञान

वैदिक व्याकरण में संधि विज्ञान की रचना भी बड़ी बुद्धिमत्ता पूर्वक की गई है । संधि विज्ञान दो बातों पर स्थिर है—एक तो वर्ण मैत्री पर और दूसरे सुखोच्चारण पर । वर्ण मैत्री का सिद्धान्त अधिकतर एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों में पाया जाता है, किन्तु सुखोच्चारण का सिद्धान्त सरलता पर अवलम्बित है ।

### वर्ण मैत्री का सिद्धान्त

टकार की जब सकार के साथ सन्धि होती है, तो सकार का रूप 'ष' हो जाता है । इसी प्रकार ऋ के निकट जब 'स' आता है तो उसका भी रूप 'ष' हो जाता है । जैसे:—कष्ट, रुष्ट, पुष्ट तथा ऋषि, वर्षा, वृक्ष आदि । इसका कारण यही है कि ऋ, ट और ष के उच्चरित होने का एक ही स्थान है ।

इसी तरह 'च' के साथ 'श' का उच्चारण एक ही स्थान से होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग का प्रत्येक वर्ण अपने ही वर्ग के अनुनासिक से मिलता है, अन्य से नहीं। जैसे:—गंगा, चंचल, पण्डित आदि। परन्तु जिन वर्णों के पास कोई निज का सानुनासिक नहीं है, वे आवश्यकता पड़ने पर अनुस्वार के ही साथ मिलते हैं। जैसे:—संसार, वंश, हंस आदि।

**सुखोच्चारण का सिद्धान्त :**

सत् और चरित्र एक साथ बोलने में कठिनाई होती है, क्योंकि 'त' दंत्य है। इसका उच्चारण दांत के पास से होता है और 'च' तालव्य है, उसका उच्चारण तालु से होता है। इस कठिनाई को हटाकर सुखोच्चारण बनाने के लिये तकार को भी चकार कर लिया गया और सत्+चरित्र का सच्चरित्र हो गया। इसी प्रकार बृहत्+जातक का बृहज्जातक और सत्+इच्छा का सदिच्छा आदि प्रयोग किये जाते हैं।

इसी प्रकार वर्ग का तृतीय अक्षर 'ह' के योग से वर्ग का चतुर्थ अक्षर हो जाता है। जैसे:—बृहद्+हवन का बृहद्धवन। अग्नि+आधान का अग्न्याधान आदि प्रयोग भी सुखोच्चारण के लिये ही किये गये हैं। भाषा की प्रशस्त रचना उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही हुई है, क्योंकि वर्णार्थ वाली भाषा की सन्धि में यदि सुखद और स्वाभाविक वर्ण विपर्यय की गुंजाइश न की जाती तो भाषा की दूरुहता अत्यधिक बढ़ जाती। भाषा को अविचल और सार्थक रखने के लिये ही इतने कौशल के साथ अक्षर विज्ञान, धातु विज्ञान और संधि विज्ञान का आयोजन किया है। इसीलिये वैशेषिक दर्शनकार कणाद् ऋषि का कथन है कि:—

"बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे" अर्थात् वेदवाणी की रचना परमेश्वर ने बुद्धिपूर्वक की है।

## उपसंहार

अन्त में लेख के उपसंहार के रूप में इतना लिखना असंगत न होगा कि वेद अपौरुषेय (ईश्वर कृत) हैं। जैसा कि ऋग्वेद में कहा भी गया है—'देवी वाचमजयन्त देवाः।' अर्थात् वेदों की भाषा देव भाषा है और विश्व की समस्त भाषाओं की जननी है। यास्क ने लिखा है प्रवरों ने अवरों को यह ज्ञान दिया। किन्तु ईश्वर से पूर्व कोई गुरु नहीं था, वही आदि गुरु है। महर्षि पतंजलि जैसे आप्त पुरुषों ने भी यही मत व्यक्त किया है।

निघण्टु में वैदिक शब्दों का संग्रह है। इसे वैदिक शब्द कोष कहा जा सकता है। निघण्टु की व्याख्या निरुक्त है। निरुक्तकार यास्क ने निघण्टु के प्रत्येक शब्द को लेकर उसकी बिद्वत्तापूर्ण व्युत्पत्ति की है। यास्क से पूर्व अनेक वैयाकरण रहे होंगे, क्योंकि यास्क ने अपने ग्रन्थ में अनेक पूर्ववर्ती या समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया। यास्क के पश्चात् और पाणिनि से पूर्व भी अनेक वैय्याकरण हुये क्योंकि पाणिनि ने अपने उणादि कोषादि ग्रन्थों में कतिपय प्राचीन वैय्याकरणों का भी उल्लेख किया है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' व्याकरण का एक सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है।

भाषा सम्बन्धी सबसे बड़ा आविष्कार यह समझा जाता है कि किसी भाषा के लाखों शब्द परिमित संख्या की धातुओं में परिवर्तित किये जावें। किन्तु जिस किसी ने पाणिनि का धातु पाठ पढ़ा है वह जानता है कि यह आविष्कार भारतवर्ष में आज से लाखों वर्ष पूर्व हो चुका था।

★

# व्याकरण विद्या का मूलाधार वेद

लेखिका––वेदाचार्य श्रीमती देवी शास्त्री, एम० ए०

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तं ।
विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ॥ ऋ० ८।१००।११

अर्थात्—देव जिस दिव्य वाणी को प्रकट करते हैं, उसी को साधारण जन बोलते हैं।

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः ॥

महाभारत शान्ति पर्व २३१।५६

अर्थात्—अनादि और अनन्त नित्य वाणी जो परमात्मा से प्रकट हुई उसी से सब व्यवहार चले।

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

अर्थात्—सब पदार्थों के नाम और उन नामों के अर्थ तथा संस्था-रचना-विशेष सब विभक्ति वचनों के रूप-कृत, तद्धित आदि प्रकार सब वेदों से निर्धारित करके ब्रह्मा ने प्रारम्भ किये।

यद् वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषषाद मन्द्रा । ८।१००।१०

अर्थात्—यह दैवी वाणी सब अविज्ञातार्थों को प्रकट करती है। इत्यादि प्रमाणों पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि—

१—वर्णध्वन्यात्मक वेद सबसे प्रथम संसार में आया ।

२—और यह वेद स्वयम्भु भगवान् द्वारा प्रदत्त है।

३—आरम्भ में शब्द व्यवहार वेद से ही प्रवृत्त हुआ ।

४—वेद से सबके नाम रखे गये ।

५—ब्रह्मा जो व्याकरण शास्त्र का प्रथम प्रवक्ता है। उसने वेद से ही शब्द, धातु, उनके रूप, कारक, कृत, तद्धित, स्त्री प्रत्यय आदि सब रचनाएं वेद से ही समझीं और व्याकरण शास्त्र का निर्माण किया।

यह ब्रह्मा व्याकरण शास्त्र का प्रथम प्रवक्ता है जैसा कि लिखा है—

ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय,
भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः ॥ ऋक्तन्त्र १।४

यह व्याकरण शास्त्र की परम्परा है कि सबसे पहला प्रवक्ता ब्रह्मा, फिर बृहस्पति, उसके बाद इन्द्र, इन्द्र के बाद भरद्वाज, भरद्वाज के पश्चात् ऋषि लोग तदनु ऋषियों ने ब्राह्मणों को व्याकरण शास्त्र पढ़ाया। (सबका आदि मूल वेद)

भारतीय साहित्य में यह बात समान रूप से पाई जाती है कि प्रत्येक विद्या का ग्रन्थ यह लिखता है कि यह विद्या हमने वेद से सीखी। जैसे विमानशास्त्रकार लिखता है कि—

**निर्मथ्य यद् वेदाम्बुधि भरद्वाजो महामुनिः ।**
**नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्व रूपकम् ॥**

अर्थात्—यह यन्त्र विद्या भरद्वाज मुनि ने वेदरूपी सागर को मथ कर प्राप्त की। इन्हीं सब आधारों पर महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सिद्धान्त स्थापित किया कि—

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है।"

अब मैं व्याकरण शास्त्र को वेद से किस प्रकार सीखा, इस पर क्रमशः प्रकाश डालती हूं। व्याकरण में निम्न लिखित विषय प्रधानतया होते हैं।

१—सन्धियां, २—नामरूप, ३—धातु रूप, ४—कारक, ५—कृत, ६—तद्धित, ७—स्त्री प्रत्यय।

१—सन्धियां हमने वेदों से सीखी हैं, सन्धियां कई प्रकार की होती हैं।

(क) स्वर सन्धि, (ख) व्यञ्जन सन्धि, (ग) विसर्ग सन्धि आदि ।

ये सब सन्धियां वेद मन्त्रों से सीखी गई हैं। जैसे—

**सक्ष्वा देव प्रणस्पुरः ।** ऋ० १।४२।१
**अग्निमीळे पुरोहितम् ।** ऋ० १।१।१

में देखा कि एक स्थान पर पुरः है, वही शब्द दूसरे स्थान पर 'पुरो' हो गया। अतः पता चला कि विसर्ग की दो प्रकार की स्थिति है विसर्ग और 'ओ'।

**पुर एता भवा न ।** ऋ० १।७६।३

मैं विसर्ग का लोप स्वर परे होने पर देखा। अतः पता चला कि विसर्ग का विशेष स्थिति में लोप भी हो जाता है।

**यथा नो अदितिः करत् ।** ऋ० १।४३।२
**अदिति र्धायसे वेः ।** ऋ० १।७२।६

जिस अदिति को एक स्थान पर विसर्गान्त देखा उसी अदिति को र् वाला देखा। अतः विदित हुआ कि यह विसर्ग र् रूप में भी परिणत हो जाता है।

इस प्रकार विसर्ग की चार स्थितियां मालूम हुईं ।

क—विसर्ग रूप में।

ख—लोप रूप में।

ग—ओ रूप में।

घ—र रूप में।

कहां कैसा रूप रहता है यह सब वेद मन्त्रों के उदाहरणों से निश्चित किया जा सकता है। विस्तारभय से नहीं लिखा है अभी आगे अन्यं बातों पर भी प्रकाश डालना है।

## अच् सन्धि

**प्रजया सचेमहि ।** ऋ० १।१३६।६
**सचेमह्यभिष्याम ।** ऋ० २।८।६

यहां सचेमहि के इकार को दो स्थितियों में देखा एक इ रूप में दूसरा यकार रूप में अतः सिद्धान्त का पता चला कि इ को य होता है ।

**इन्द्रो वसु दयमानः । ऋ० १।१०।६**
**वस्वाजावद्रिम् । ऋ० १।५१।२**

वसु के उकार को दो रूप में देखा एक उ के रूप में और दूसरा व् के रूप में अतः उ को व होता है यह ज्ञात हुआ ।

**इन्दवो वामुशन्ति हि । ऋ० १।२।४**
**य ईं चकार । ऋ० १।१६४।३२**

यहां हमने हि और ईम् को स्वतन्त्र रूप में देखा । पद—

**सद्यो जलानो विहीमिद्धोऽख्यत् । यजु० १२।६**

यहां हमने हि+ईम् को हीम् अवस्था में देखा पता चला कि दो इवर्ण मिलकर दीर्घ हो जाते हैं ।

**प्र चेतयति केतुना । ऋ० १।३।१२**
**अवः पश्यन्ति विततम् । ऋ० १।८३।२**

यहां हमने अ और अवः को स्वतन्त्र रूप में देखा फिर—

**आवो वाजेषु वाजिनतम् । ऋ० १।४।८**

यहां हमने आवः मिला हुआ देखा अतः निश्चय हुआ कि अ+अ मिलकर दीर्घ आ हो जाता है । इसी प्रकार सब सवर्ण सन्धियां हो जाती हैं ।

इस प्रकार सब सन्धियां वेद मन्त्रों के उदाहरण देकर दिखाई जा सकती हैं ।

## नाम रूप

**अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो । ऋ० १।१।२**
**भ्राजन्तो अग्नयो यथा । ऋ० १।२०।३**
**मन्त्रं वोचेमाग्नये । ऋ० १।७४।१**
**अग्निना रयिमश्नवत् । ऋ० १।१।३**
**विश्वेभिरग्ने अग्निभिः । ऋ० १।२६।१०**
**प्र ते अग्नयो अग्निभ्यः । ऋ० ७।१।४**
**अग्निमीळे पुरोहितम् । ऋ० १।१।१**
**प्रो त्ये अग्नयोऽग्निषु । ऋ० ५।६।६**
**सेदग्निरग्नीन् । ऋ० ७।१।१४**
**अग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः । ऋ० १०।७८।३**
**मन्त्रं वोचेमाग्नये । ऋ० १।७४।१**
**अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानाम् । ऋ० १:२४।२**
**उषां उच्छन्ती समिधाने अग्नौ । ऋ० १।१२४।५**

इत्यादि स्थलों पर हमने अग्नि शब्द को—

अग्निः । अग्निम् । अग्निना ।
अग्नये । अग्नेः । अग्नौ ।
अग्नयः । अग्ने । अग्नीम् ।
अग्निभिः । अग्निभ्यः । अग्निषु । अग्नीन् । अग्नीनाम् ।

अनेक रूपों में देखा । उससे पता चला कि नाम के रूप चलते हैं इस प्रकार सब नामों के उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

## धातु रूप

स इद् देवेषु गच्छति । ऋ० १।१।४
घर्दीं गच्छन्ति । ऋ० १।१४५।४
सर्वांस्तां इन्द्र गच्छसि । ऋ० ८।९३।६
यत्रा रथेन गच्छथः । ऋ० १।२२।४
अश्विना वेह गच्छताम् । ऋ० १।२२।१
इन्द्रं गच्छतु ते मदः । ऋ० ६।६३।२२
देवान् गच्छन्तु वो मदाः । ऋ० ६।१०१।४
गच्छामित्रान् प्रपद्यस्व । ऋ० ६।७५।१६
वातः स्वसराणि गच्छतम् । ऋ० १।३४।७
यत् ते जघ्नुषो भीरगच्छत् । ऋ० १।३२।१४
अगच्छः सोमिनो गृहम् । ऋ० १०।१७१।२
अगच्छतं कृपमाणं परावति । ऋ० १।११६।८
भूनागच्छत सवितुः । ऋ० १।११०।२

इत्यादि अनेक रूप गच्छ की आकृति के वेदों में है अतः ये:—

गच्छति । गच्छन्ति । गच्छसि ।
गच्छथः । गच्छताम् । गच्छतु ।
गच्छन्तु । गच्छ । गच्छतम् ।
आगच्छत् । आगच्छः । अगच्छतम् । अगच्छत ।

प्रकट करते हैं कि धातुओं के भी रूप चलते हैं ।

## अव्यय

चारों वेदों में कुछ शब्द ऐसे पाये जाते हैं जिसमें वेदों के समस्त २०३४९ मन्त्रों में कहीं भी उनकी आकृति में परिवर्तन नहीं देखा जाता है । जैसे—

इव । न । चित् । नु । वा । खलु । शश्वत् । नूनम् । मा । किल । सीम् ।
कम् । ईम् । इत् । उ । अह । ह । च ।

ये शब्द इसी आकृति में पाये जाते हैं । इनमें व्यय अर्थात् परिवर्तन नहीं है अतः ये अव्यय या निपात कहाते हैं ।

## उपसर्ग

बेदों में कुछ शब्द ऐसे हैं जो धातु या नाम के साथ जुड़े दिखाई देते हैं, वे बार-बार आते हैं। जैसे—

प्र सुश्रुतम् । ऋ० ८।५०।१
परा शृणीहि तपसा यातुधानान् । ऋ० १०।८७।१४
अप तस्य बलं तिर । अथर्व ६।३
सं वज्रं पर्वशो दधुः । ऋ० ८।७।२२
अनु विश्वे अददुः सोमपेयम् । ऋ० ५।२६।५
अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणाम् । ऋ० २।४२।३
तिरंहतिभ्यो मरुतो ग्रणानाः । ऋ० ५।५५।१०
दुराधर्षं वरुणस्य । ऋ० १०।८५।१
वि कोशं मध्यमं युव । ऋ० ६।१०८।६
आ वलशेषु धावति । ऋ० ६।१७।४
नि गावो गोष्ठे असदन् । ऋ० १।१६१।४
अधि तिष्ठन् नवं रथम् । ऋ० ८।६६।१५
अपि नह्याम्यास्यम् । अथर्व ७।७०।४
अभि कण्वा अनूषत । ऋ० ८।६।३४
अति द्वेषांसि तरेम । ऋ० ३।२७।३
अति व्रवाणि वर्तयते अश्रु । ऋ० १०।९५।१३
सु प्रमतिं वावृधाति । ऋ० १।३३।१
उत् क्राम महते सौभगाय । यजु० ११।२१
उप तप्यामहे तपः । अथर्व ७।६१।१
परिणः पाहि विश्वतः । अथर्व २।७।३

उपर्युक्त २० पद क्रिया या नाम के साथ लगाकर अर्थ में विशेषता बताते हैं। अतः ये उपसर्ग कहाते हैं। इन २० उपसर्गों को भी हमने वेदों से ही सीखा है।

## कारक

कारकों को भी हमने वेदों से ही सीखा है। यथा—

नमः शम्भवाय च ।

आदि के देखने से विदित होता है कि नमः के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है।

अग्नये स्वाहा । यजु० ४।७

आदि के देखने से पता चलता है कि स्वाहा के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है।

याभिर्वा सूर्यं सह । ऋ० १।२३।१७

इसके देखने से मालूम होता है कि सह के योग में तृतीया विभक्ति होती है। ऐसे ही अन्य सब जानो।

## स्त्री प्रत्यय

पुंलिग शब्दों को जब स्त्रीलिंग बनाया जाता हैं तब उन शब्दों की आकृति में विशेष परिवर्तन हो जाता है। यह भी वेद से सीखा गया है। जैसे यजुर्वेद में एक मन्त्र है—

**त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तूर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। यजुर्वेद १८।२६**

**षष्टवाट् च मे पष्ठौही च मे उक्षा च मे वशा च मे ऋषभश्च मे वेहच्च मे ऽनड्वांश्च मे धेनुश्च में यज्ञेन कल्पन्ताम्। यजुर्वेद १८।२७**

इन मन्त्रों में स्त्री प्रत्यय दिखाये हैं।

**टाप्—त्रिवत्स त्रिवत्सा**
**ङीप—त्र्यविः त्र्यवी, पञ्चावि पञ्चावी।**

विशेष परिवर्तन ऊठ आदि—

**दित्यवाट्, दित्यौही, तुर्यवाट, तुर्यौही, पष्ठवाट्, पष्ठौही**

पुंलिग स्त्रीलिंग के पृथक् पृथक् शब्द—

**उक्षा (पुं०), वशा (स्त्री) ऋषभ (पुं०), वेहत्, अनड्वान्, धेनु।**

अर्थात्— वशा, वेहत् धेनु ये शब्द स्वतन्त्र स्त्रीलिंग है। इनके पुंलिग में पृथक् शब्द हैं। बड़ा सुन्दर विवेचन स्त्रीलिंग का इस मन्त्र में है।

## कृत् प्रत्यय

कुछ शब्द वेदों में देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके अन्तिम भाग समान हैं। जैसे—

**१—होतारम्। ऋ० १।१।१**
**२—दातारम्। यजु० ११।८३**
**३—सपत्नहा, अभिमातिहा। यजु० १२।५**
**४—दुरोणसत्, अन्तरिक्षसत्, शुचिषत्, वेविषत्, दुरोणषत्, नृषत्, वरसत्, ऋतसत्, व्योमसत्। यजुर्वेद १२।१५**
**५—अब्जा, गोजा, ऋतजा, अद्रिजा। यजुर्वेद १२।१४**

इन शब्दों के देखने से शब्दों के अन्त में एकाकार प्रतीति होती है।

**होतारम्—दातारम्**
**सपत्नहा—अभिमातिहा**
**दुरोणसत्—अन्तरिक्षसत्**
**अब्जा—गोजा**

इससे यह निश्चय होता है कि यहाँ कोई ऐसा प्रत्यय है जो सब धातुओं से हो सकता है। होतारम्, दातारम् आदि में तृ प्रत्यय, सपत्नहा, अभिमातिहा में क्विप् बरसत् वेदिषत्, में क्विप्, अब्जा गोजा में विट् प्रत्यय।

इसी को कृत् प्रकरण कहते हैं, यह भी वेद से सीखा है।

## तद्धित प्रत्यय

नाम शब्दों में प्रत्यय होने पर जो रूप बनता है वह तद्धित प्रकरण कहाता है। हम वेद से इसको भी सीखते हैं। जैसे—

> अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनः।
> अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणम्।
> अयं पश्चात विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्व व्यचसम्।
> गायत्री, वासती, त्रिष्टुप् ग्रैष्मी, जगती, वार्षी। यजुर्वेद १३।५४,५५

यहां भुवः से भौवायनः, विश्वकर्मा से वैश्वकर्मणम्, विश्वव्यचा से वैश्वव्यचसम्, वसन्त से वासन्ती, ग्रीष्म से ग्रैष्मी, वर्षा से वार्षी शब्द बने प्रतीत होते हैं।

यह नाम से प्रत्यय होकर जो शब्द बनते हैं यही तद्धित प्रकरण कहाता है।

## समास प्रकरण

हम वेदों में पृथक्-पृथक् शब्द देखते हैं, उन्हीं को कहीं मिला भी देखते हैं। जैसे—इन्द्र और वायु को हमने वेद में अनेक स्थानों पर पृथक्-पृथक् देखा, पर ऋ० १।२।४ में 'इन्द्रवायू' इस रूप में देखा।

कवि और क्रतु शब्द को पृथक्-पृथक् देखा, पर ऋ० १।१।५ में कविक्रतू इकट्ठा देखा। इसी को समास कहते हैं। यह भी वेद से सीखा कि शब्दों को मिलाकर भी बोला जाता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि—व्याकरण विद्या का मूलाधार वेद है।

# व्याकरण शास्त्र का मूलाधार वेद

डा० कपिलदेव द्विवेदी, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, महाविद्यालय, ज्ञानपुर (वाराणसी)

प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद सभी ज्ञान और विज्ञान का स्रोत माना जाता है। वेदों में सभी मौलिक तत्त्वों की उद्भावना की गयी है। कला और विज्ञान की सभी प्रक्रियाओं का सूत्र-रूप में वैदिक साहित्य में दर्शन होता है। केवल व्याकरण ही नहीं, अपितु दर्शन, विज्ञान, गणित, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र, मनोविज्ञान, आयुर्वेद आदि का यथा-स्थान विस्तृत विवरण मिलता है। महर्षि दयानन्द ने इसी प्राचीन ऋषि-सम्मत व्यवस्था का उल्लेख आर्यसमाज के तृतीय नियम में किया है कि—"वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।" महर्षि दयानन्द के इस कथन की पुष्टि हमें सबसे पहले यास्क के निरुक्त और पतंजलि कृत महाभाष्य में उपलब्ध होती है।

सर्वप्रथम व्या+कृ का व्याकरण, विवेचन या विश्लेषण अर्थ में प्रयोग यजुर्वेद में प्राप्त होता है।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ यजु० १९-७७

इसमें प्रथम व्याकरण प्रजापति अर्थात् परमात्मा को माना गया है। उसने ही सर्वप्रथम सत्य और अनृत का व्याकरण (विवेचन, विश्लेषण) किया। तात्त्विक दृष्टि के द्वारा उसने सत्य में श्रद्धा (ग्राह्यता) और असत्य या अनृत में अश्रद्धा (त्याज्यता या हेयता) रखी। यही सत्य और असत्य का विश्लेषण बाद में प्रकृति और प्रत्यय का विश्लेषण होकर व्याकरण बना। यही प्रकृति और प्रत्यय का विश्लेषण प्रकृति (प्राकृतिक तत्त्व, धातु का अंश या स्थूल तत्त्व) और प्रत्यय (ज्ञान, सूक्ष्म तत्त्व) का दार्शनिक विवेचन होकर व्याकरण-दर्शन को जन्म देता है। इसमें शब्द, वाक्य और पद का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

१—व्याकरण के दार्शनिक पक्ष के विवेचन के लिए देखो—(क) भर्तृहरि रचित वाक्य-पदीय, (ख) लेखक-रचित 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन'।

वेदों के आविर्भाव के बाद ही इस बात की आवश्यकता अनुभव की गयी कि वेदों की पूर्ण रूप से सुरक्षा का प्रबन्ध हो। वेदों की सुरक्षा, मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण, उनके अर्थ का ठीक-ठीक निर्धारण और परिज्ञान तथा उनके विनियोग आदि के लिए ६ अंगों की उत्पत्ति हुई। उनके नाम हैं:—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें भी व्याकरण को वेदरूपी पुरुष का मुख माना गया है। 'मुखं व्याकरणम् स्मृतम्।' जिस प्रकार मुख व्यक्तियों के भावों और विचारों का प्रकाशन करता है, उसी प्रकार व्याकरण वेद-मन्त्रों के भावों को स्पष्ट करता है। अतएव महर्षि पतंजलि ने व्याकरण के ५ उद्देश्यों में से सर्वप्रथम उद्देश्य वेदों की रक्षा बताया।

**रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्** । महाभाष्य नवा० १

व्याकरण के अन्य उद्देश्य—(१) ऊह (तर्क) यथास्थान विभक्ति-परिवर्तन, वाच्य-परिवर्तन आदि, (२) आगम —'स्तुता मया वरदा वेदमाता०' । आदि वैदिक आदेशों की पूर्ति, (३) लघु—संक्षिप्त ढंग से शब्दज्ञान, (४) असन्देह—सन्देह का निवारण भी मुख्य रूप से वैदिक साहित्य के उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं ।

महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में सर्वप्रथम इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि व्याकरण का उद्भव वेदों से ही हुआ है । वेदों में सर्वप्रथम व्याकरण के मौलिक तत्त्वों का उल्लेख मिलता है । उदाहरणार्थ—

**चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।**
**त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥** ऋग्० ४।५८।३

इस मन्त्र का महर्षि यास्क ने निरुक्त १३-७ में यज्ञपरक अर्थ किया है । किन्तु पतंजलि ने महाभाष्य में इसका व्याकरणपरक अर्थ किया है । शब्द (व्याकरण-रूपी) वृषभ के चार सींग हैं—नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात । इसके तीन पैर हैं—तीन काल अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य । इसके दो सिर हैं शब्द के दो स्वरूप नित्य और कार्य अर्थात् व्यंग्य और व्यंजक । इसके सात हाथ हैं—प्रथमा आदि सात विभक्तियां । यह तीन स्थानों पर बंधा हुआ है—उरस (छाती), कण्ठ और सिर । यह शब्द ही महादेव है और मनुष्यों में व्याप्त है । इस मन्त्र में व्याकरण के आवश्यक अंगों का विवेचन हुआ है । भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसमें वर्णोच्चारण के लिए आवश्यक तीनों अंगों का उल्लेख पाया जाता है । वाक्पदीयकार भर्तृहरि ने इस महादेव को शब्द ब्रह्म या परमेश्वर कहा है । व्याकरण को जानने वाला उस महादेव का सायुज्य प्राप्त करता है ।

**अपि प्रबोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।**
**प्राहुमर्हान्तमृषयं येन सायुज्यमिष्यते ।।** वाक्य० १—१३२

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में वाणी के व्यक्त और अव्यक्त चार रूपों पर प्रकाश डाला गया है ।

**चत्वारि वाक्परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।**
**गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥** ऋग्० १।१६४-४५

यह मन्त्र अथर्ववेद ६।१०।२७, तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।८।५, शतपथ ब्राह्मण ४।१।३।१७, निरुक्त १३।६ में भी आया है । यास्क ने भी चत्वारि की व्याख्या में लिखा है कि—"कतमानि तानि चत्वारि पदानि । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः ।" (निरुक्त १३-६) इसी आधार पर पद-विभाजन चार रूप में किया जाता है । नाम, आख्यात,उपसर्ग और निपात । वाणी के तीन भेद परा, पश्यन्ति और मध्यमा ये सूक्ष्म रूप में रहते हैं । वैखरी नामक वाणी का चतुर्थ भेद प्रयोग में आता है और इसके द्वारा ही लोक-व्यवहार चलता है । परा वाणी ब्रह्म में हैं । इसकी प्राप्ति निर्विकल्पक समाधि का विषय है ।

एक अन्य मन्त्र में व्याकरण के ज्ञान का महत्त्व बताते हुए कहा है कि जो व्याकरण को

नहीं जानता, वह वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है और उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। परन्तु जो वाक्तत्त्व को जानता है और शब्दवित् है, उसके लिए वाणी अपने स्वरूप को उसी प्रकार प्रकट करती है, जैसे स्त्री अपने स्वरूप को अपने पति के लिए—

**उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।**
**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ॥** ऋग्० १०।७१।४

ऋग्वेद में व्याकरण के द्वारा विवेचन और विश्लेषण की उपमा चलनी द्वारा सत्तू छानने से दी गयी है। जिस प्रकार चलनी द्वारा छानकर उपयोगी अंश ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार व्याकरण के द्वारा शब्द को परिष्कृत करके तात्त्विक रूप में ग्रहण किया जाता है। शब्द-परिष्कार है, अतः शब्द-ब्रह्म के उपासक के मुख में श्री का निवास बताया गया है। इस मन्त्र में यह भी संकेत किया गया है कि व्याकरण वस्तुतः सत्य और असत्य का विवेचन करके सत्य अंश को अपनाने का आदेश देता है।

**सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।**
**अत्रासखायः सख्यानि जानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥**

ऋग्० १०।७१।२

एक अन्य मन्त्र में सात सिन्धुओं के रूप में सात विभक्तियों का उल्लेख किया गया है। ये सदा तालु को प्राप्त होकर प्रकाशित होते हैं। इसमें वर्णोच्चरण में होने वाले स्थान और प्रयत्नों की ओर संकेत किया गया है। सात विभक्तियां शब्दरूपों की सूचक हैं।

**सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।**
**अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥** ऋग्० ८।६९।१२

व्याकरण एवं भाषाविज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण अंग अर्थविज्ञान की ओर भी वेद में विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया गया है। अर्थज्ञान के बिना मन्त्र-ज्ञान व्यर्थ है। अर्थज्ञान से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है।

**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।**
**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥**

ऋग्० १।१६४।३९, अथर्व० ९।१०।१८, तै० ब्रा० ३।१०।९।१४, तै० आ० २।११।१
निरुक्त १३।१०।

इसी अभिप्राय को पतंजलि ने निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया है।

**यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दते।**
**अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥** महा० आ० १

अर्थज्ञान और उच्चारण-शुद्धि पर जितना महत्त्व वेद और व्याकरण ने दिया है, उससे न केवल बाह्य शुद्धि अपितु उससे आन्तरिक शुद्धि भी होती है। शब्द ब्रह्म का प्रतीक है। शब्द-शुद्धि आन्तरिक शुद्धि का आधार है। आन्तरिक शुद्धि शब्द-तत्त्व, वाक्तत्व या ब्रह्म के साक्षात्कार

का साधन है। अतएव पतंजलि और भर्तृहरि ने उसके महत्त्व पर बल देते हुए कहा है कि--"एक शब्द का ठीक ज्ञान और ठीक ढंग से प्रयोग मनुष्य की स्वर्गप्राप्ति का साधन है। ठीक अर्थज्ञान और उसके ठीक प्रयोग के द्वारा अनन्त विजय प्राप्त होती है।

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति।
महा० ६।१।८४

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।। महा० आ० १

भर्तृहरि ने अतएव शब्दज्ञान को और उसकी शुद्धि को परमात्मा प्राप्ति का साधन माना है।

तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृतितत्वज्ञः तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ।। वाक्य० १।१३३

भर्तृहरि ने स्पष्टरूप से वेदों को सभी ज्ञानों का और विशेष रूप से व्याकरण का आदि स्रोत माना है। उनका कथन है कि वेदत्रयी बीजरूप से सभी आगमों का आधार है।

न जात्वकर्तृकं किंचिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वागमोपाये त्रय्येवादौ व्यवस्थिता ।। वाक्य० १।१३४

यजुर्वेद में वेदत्रयी के स्वरूप का संकेत किया गया है कि ऋग्वेद में वाक्तत्त्व का विवेचन है, यजुर्वेद में मनस्तत्त्व का और सामवेद में प्राणतत्त्व का। इस प्रकार तीनों वेद वाक्तत्त्व, मनस्तत्त्व और प्राणतत्त्व का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये, साम प्राणं प्रपद्ये। यजु० ३६।१

व्याकरण दर्शन में जिस शब्दब्रह्म, वाक्तत्त्व या स्फोटब्रह्म का वर्णन किया गया है, उसका सूक्ष्म रूप में उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। अतएव ऋग्वेद को वाक् या वाग्वेद कहा गया है। इस कथन की पुष्टि अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों के वाक्यों से होती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऋग्वेद को वाक्तत्त्व का स्वरूप माना गया है।

वागेव ऋग्वेदः। शतपथ० १४।४।३।१२
वागिति ऋक्। जै० उप० १।६।२
वागेव ऋचश्च सामानि च। मनएव यजूंषि। शत० ४।६।७।५

मनस्तत्त्व और वाक्तत्त्व के समन्वय से ही वैखरी वाणी का आविर्भाव होता है। मनस्तत्त्व सूक्ष्म तत्त्व है और वाक् उसका स्थूल रूप है। अतएव मन शब्दब्रह्म का आन्तरिक रूप प्रकट करता है और वाणी उसे स्थूल रूप देकर लोकोपयोगिता की दृष्टि से उपयोगी बनाती है। ये मन और वाणी ही उस शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति के साधन हैं। इसको ही ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। वाक्, मन और प्राण इन तीनों के विभाजन के आधार पर वेदों का वेदत्रयी के रूप में विभाजन है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसका इस रूप में प्रतिपादन है।

**त्रैधा विहिता हि वाग् ऋचो यजूंषि सामानि** । शत० ६।५।३।४
**वाग् वै मनसो ह्रसीयसी** । शत० । १।४।४।७
**अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्** । शत० १।४।४।७
**मनो ह पूर्वं वाचो यद्धि मनसाभिगच्छति तद् वाचा वदति** । ताड्य० ११।१।३

वाणी और मन एक-दूसरे से अविभाज्य हैं, अतः इन्हें मिथुन या जोड़ा कहा गया है। इसी प्रकार वाणी का प्राणतत्त्व घनिष्ट सम्बन्ध है। इसको ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस रूप में प्रस्तुत किया गया है।

**वाग्वै मनश्च देवानां मिथुनम्** । ऐत० ५।२३
**तस्य (मनसः) एषा कुल्या यत् वाक्** । जै० उप० १।५८।३
**वाक् च प्राणश्च मिथुनम्** । शत० १।४।१।२

वाक्तत्त्व के इस महत्त्व का वर्णन बहुत विस्तार से ऋग्वेद मंडल १० के १२५ सूक्त में किया गया है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान के प्रोफेसर सईस ने 'साइंस आव लैंग्वेज' भाग १ पृष्ठ १ पर ऋग्वेद के इस सूक्त पर भाषा-विशेषज्ञों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। सईस का कथन है कि इन मन्त्रों में वैदिक ऋषि का वाक्तत्त्व के विषय में जो वक्तव्य है, वह बहुत ही गम्भीर विचारपूर्ण, भाषाविज्ञान की दृष्टि से सत्य और बहुत दूरदर्शितापूर्ण है। इस सूक्त का ऋषि वाक् आम्भृणी है। इसमें वाक्तत्त्व का विस्तृत वर्णन है। इसमें वाक्तत्त्व का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि वाक्तत्त्व ही विश्व का उद्भव-स्थान है, वही संसार की सृष्टि करता है। उसका ही महत्त्व है कि संसार में ज्ञान की ज्योति है। वही मानव को ऋषि, देवता, सन्त, कवि, विद्वान् और महर्षि बनाता है। वही विश्व में नाना भाषाओं का रूप धारण करके भावों के आदान-प्रदान का आधार बनी हुई है।

**अहं राष्ट्री संगमानां प्रसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।**
**तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्** ॥ ऋग्० १०।१२५।३
**अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।**
**यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्** ॥ ऋग्० १०।१२५।५
**अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।**
**परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना संबभूव** ॥ ऋग्० १०।१२५।८

भर्तृहरि ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

**शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।**
**छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्त** ॥ वाक्य० १।१२१

व्याकरण का मूल आधार शब्द-व्युत्पत्ति है। वेदों के अनेक मन्त्रों में शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट रूप से दी गई है। इसके द्वारा इस बात पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है कि अमुक स्थान पर इस शब्द या धातु का इस अर्थ में प्रयोग किया गया है, इस धातु का यह अर्थ है। यहां पर यह धातु और यह प्रत्यय है। इस प्रत्यय का किस अर्थ में प्रयोग हुआ है। उस शब्द के नामकरण का क्या आधार है? इत्यादि का स्पष्टीकरण स्वयं वेद से ही हो जाता है। जैसे—

**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।** ऋग्० १।१६४।५० यज्ञ शब्द यज् धातु से है।
**वृत्रं हनति वृत्रहा।** यजु० ३३।९६ वृत्रहन् वृत्र + हन्।
**केतपूः केतं नः पुनातु।** यजु० ११।७ केतपू, केत + पू।
**उदानिषुर्म हीरिति तस्मादुदकमुच्यते।** अथर्व० ३।१३।४ उदक, उद् + अन्।

ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याकरण का और विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। ओम् की निरुक्ति पर गोपथ ब्राह्मण का वक्तव्य अनुशीलन के योग्य है।

> **ओंकारं पृच्छामः, को धातु, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम् का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थान नादानुप्रदानानुकरणम्।** गोपथब्राह्मण पूर्व० १।२४

गोपथ ब्राह्मण के कथन से ज्ञात होता है कि उस समय व्याकरण अपने व्यवस्थित रूप को प्राप्त हो चुका था। सभी आवश्यक प्रश्न और विवेचन गोपथ में सन्निहित हैं।

मैत्रायणी शाखा में विभक्ति संज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है। 'तस्मात् षड् विभक्तयः', मैत्रा० १।७।३। इसमें विभक्तियों की संख्या ६ बताई गई है। ऐतरेय ब्राह्मण में वाणी का विभाजन ७ भागों (विभक्तियों) में किया गया है। 'सप्तधा वै वागवदत्' (ऐत० ७।७)। ब्राह्मण-ग्रन्थों में शब्दों के निर्वचन के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि वेद न केवल व्याकरण का ही आदिस्रोत है। अपितु वेद व्याकरण दर्शन का भी आधार हैं।

# नैरुक्त-विज्ञान का मूलाधार वेद

आचार्य विश्वश्रवाः व्यास

आधुनिक भाषा-विज्ञान तथा विकासवाद, निराधार केवल कल्पना पर आश्रित हैं। वास्तविक स्थिति इस प्रकार है: —

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंम्वभ्यानर्षत्
त ऋषयो ऽभवन् सद् ऋषीणामृषित्वम् । तै० अ० २।६

अर्थात् स्वयम्भू ब्रह्म = वेद उनको प्राप्त हुए जो माता-पिता से पैदा नहीं हुए थे, जो अमैथुनी सृष्टि में हुए थे उनमें भी जिनके अन्तःकरण पर पूर्वजन्म के संस्कार नहीं थे, शुद्धान्तःकरण थे और पैदा होकर भी शुद्ध जीवन वाले थे इसीलिये इनको ऋषि शब्द से कहा गया। अर्थात् ऋगती धातु से ऋषि शब्द बना है कि जिनको प्राप्त हो गया।

तेभ्यो ऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । ऋग्वेद एवाग्नेरजायत ।
यजुर्वेदोवायोः । सामवेद आदित्यात् । एत० ब्रा० २५।३२

अर्थात् उनके नाम अग्नि, वायु, आदित्य थे, जिनसे क्रमशः ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद प्रकट हुए।

यस्माद ऋचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वा ऽङ्गिरसो मुखम् ॥ अथर्व १०।७।२०

अर्थात् प्रभु से चार वेद ऋक्, यजु, साम, अथर्व हैं।

अनादिनिधना दिव्या वागुत्सृष्टा स्यम्भुवा ।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
नाम रूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥
सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥
देवी वाचमजनयन्त देवास्त विश्वरूपाः
पशवो वदन्ति ॥ ऋ० ८।१००।११

अर्थात् भगवान् से नित्य वेदरूपी वाणी प्रकट हुई। सब पदार्थों के नाम उसी वेदवाणी में देखकर रखे गये। उन नामों के अर्थ और नामों की रचना विशेष सुवन्त, तिङन्त आदि सब वेद से निर्धारित किये। उसी दैवी वाणी को सब साधारण बोलने लगे और उसी से सब शास्त्र सीखे।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त आदि सब वेद से निकला।

पुरुष विद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्ति मन्त्रो वेदे ।
तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम् ॥ निरुक्त १।२

अर्थात् पुरुष का ज्ञान अनित्य है अतः कर्म की सम्पूर्ति कराने वाला नित्य वेद है। वेद मन्त्रों में अभिधान=अर्थ मनुष्यों में प्रयुक्त अर्थों के सदृश हैं। जिस प्रकार आज भी किसी व्युत्पत्ति निमित्त का आश्रय लेकर शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त बनता है इसी प्रकार वेद में भी व्युत्पत्ति निमित के आधार पर प्रवृत्ति निमित है "अन्यद्हि शब्दानां व्युत्पत्ति निमित्तम्। अन्यद्हि शब्दानां प्रवृत्ति-निमितम्।" यह वैदिक शब्दों में नहीं है।

## नैरुक्त विज्ञान

निरुक्त का प्रधान विषय यह है कि शब्दों का उद्गम स्थान बताया जावे कि कौन-सा शब्द किस प्रकार बना है। नैरुक्तों की दृष्टि में सब शब्द एक-से हैं। उनकी निगाह में यौगिक रूढ़ि विभाग नहीं है। वे नैरुक्त परम्परा से उन शब्दों के निर्माण को जानते चले आए हैं अतः नैरुक्तों द्वारा प्रदर्शित निर्वचन प्रामाणिक हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा के शब्दों को व्यवहार और परम्परा से जानता है कि वे शब्द किस प्रकार बने हैं। जैसे आर्यभाषा के इस समय जो शब्द हैं,—

दोन्नी, चौन्नी, तिदरी, लंगोट, चौपाये, इत्यादि शब्दों का निर्माण —

दो आना, चार आना, तीन दर, लिंग ओट, चार पैर, इनसे हुआ है। इस विषय में हमारा निर्भ्रान्त ज्ञान है कि ये शब्द ऐसे ही बने हैं। जिस प्रकार वह शब्द सरलता से बन जावे, वैसे बनाया जावे यह बात उपहासास्पद होगी। अर्थात् दोन्नी, चौन्नी शब्द अन्य सरलता से बन सकता है, ऐसा बताना उस भाषा वालों की दृष्टि में उपहास का विषय ही होगा। अतः वैदिक शब्दों का या लौकिक शब्दों का निर्वचन सरलता से विचार कर करना अज्ञात ही होगा। वास्तव में वह शब्द कैसे बना है, उसी को बताना निरुक्त का प्रधान विषय है।

तीन लोक हैं, तीन देवता हैं, इत्यादि निरुक्त के विषय प्रासांगिक हैं। वह सब भी वेद से ही लिया गया है।

## वेद में निर्वचन सिद्धान्त की घोषणा

शब्द अपने व्युत्पत्ति निमित को लेकर किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है इस बात को वेद स्वयं बताता है।

उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते। अथर्व ३।१३।४

अर्थात् (महीः) शक्तिशाली आपः (जल) सूर्य के ताप से (उदानिषु) ऊपर को श्वास लेते हैं=ऊपर को जाते हैं, अतः उत्+अन् से उदत होता हुआ परोक्ष वृत्ति से उदक नाम जल का है।

यहां स्पष्ट यह बताया है कि जल का नाम उदक क्यों है? यहां से ही निर्वचन लिखने की शैली यास्क ने सीखी है तथा अन्य नैरुक्तों ने।

तस्मादुदकमुच्यते। अथर्व
उदकं कस्मात्। निरुक्त

अब इस सिद्धान्त की स्थापना प्रतिपदोक्त रूप से वेद ने कर दी कि शब्द किसी निर्वचन

के आधार पर अपने अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यह नैरुक्त विज्ञान का मूलाधार वेद है, स्पष्ट प्रतिपादित हुआ। इसी को वेद ने जगह-जगह शब्दों के निर्वचनों को दिखाया है। कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं। शब्द तीन प्रकार के होते हैं।

१—प्रत्यक्षवृत्ति शब्द।
२—परोक्षवृत्ति शब्द।
३—अतिपरोक्षवृत्ति शब्द।

तीनों प्रकार के शब्दों के निर्वचन वेदों में मिल जाते हैं।

## प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों के निर्वचन वेद में

**वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।** ऋ० १।२।२
**जरिता गरिता।** निरुक्त १।७

जरिता शब्द जरन्ते जृ धातु से बनता है, यास्क उसका अर्थ बताता है 'गरिता'।

**इन्द्रमर्कभिरर्किणः।** ऋ० १।७।१
**अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति।** निरुक्त ५।४

अर्की शब्द अर्क से बनता है। और अर्थ, अर्क धातु से बनता है। यह जहां निरुक्त बताता है वहां वेद भी कहता है कि—

**अर्कमर्चन्तु कारवः।** ऋ० ८।९२।१९
**गीभिर्गृणन्त ऋग्मियम्।** ऋ० १।९।९
**गिरी गृणातेः।** निरुक्त १।१०

गिर शब्द गृणाति धातु से बनता है। वेद बताता है निरुक्त अनुमोदन करता है।

**गायन्ति त्वा गायत्रिणः।** ऋ० १।१०।१
**गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः।** निरुक्त १।८

गायत्र शब्द गै धातु से बना वेद निरुक्त दोनों बताते हैं।

**स शक्र उत नः शकत्।** ऋ० १।१०।६

शक्र शब्द शक् धातु से बना है, वेद बता रहा है। यास्क ने शक् धातु से शक्वरी आदि शब्दों को दिखाया है उणादि २।१३ में 'स्फायितश्चि०' सूत्र में शक धातु बताता है।

**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।** ऋ० १।१६४।५
**यज्ञ कस्मात् प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः।** निरुक्त ३।१९

यज्ञ शब्द यज धातु से बनता है, इसको वेद और निरुक्त प्रतिपादन कर रहे हैं।

**जेषि जिष्णो हितं धनम्।** ऋ० ६।४५।१५

जिष्णु शब्द जिस धातु से बना वेद बता रहा है। इसी को पाणिनि ने **"ग्लाजिस्थश्चग्स्नु।"** शब्दानु ३।२।१३९ में बताया है।

**ये महांसि सहसा सहन्ते । ऋ० ६।६६।६**
**सहः षह् मर्षणे छन्दस्याभिभवार्थः देवराज यज्वा । निघण्टु २।६**

यह बल वाचक सह शब्द अभिभावार्थक षह धातु से बना वेद बता रहा है और उसकी व्याख्या निघण्टु भाष्य में देवराज यज्वा कर रहा है ।

**सोता हि सोमम् । ऋ० ८।१।१७**
**सोमः सुनोतेः । निरुक्त ११।२**

सोम शब्द षु धातु से बना वेद और निरुक्त बता रहे हैं ।

**अश्नन्तावश्विना । ऋ० ८।५।३१**
**अश्विनौ यदश्नुवाते सर्वम् । निरुक्त १२।१**

अश्विनौ शब्द अशूङ् धातु से बना, दोनों बता रहे हैं ।
दूसरा अश्विनौ शब्द भी बताया गया है । जो इस प्रकार है कि—

**यातमश्वेभिरश्विना । ऋ० ८।५।७**
**अश्वैरश्विनामित्यौर्णवायः । निरुक्त १२।२**

एक अश्विनौ शब्द ऐसा भी है जो अश्व से बना है ।

**ध्रुवे सदसि सीदति । ऋ० ६।४।२**

यहां सदः शब्द को सीद धातु से बना बताया जा रहा है ।
इत्यादि शतशः शब्द प्रत्यक्षवृत्ति से बने वेदों में दिखाये गये हैं ।

## परोक्षवृत्ति शब्द

**अर्चन्त्यर्कमर्किणः । ऋ० १।१०।२**

अर्क शब्द को ऋच धातु से बताना, परोक्षवृत्ति है ।

**मंहते मघम् । ऋ० १।११।१**

मघ शब्द को मंह धातु से बताया गया है ।

**पिपर्ति पपुरिः । ऋ० १।४६।३**

पपुरि शब्द पिपर्ति से बना है ।

**सं वाजमञ्जन्त्वक्तुभि. । ऋ० ६।६६।३**

अक्तु शब्द अञ्जन्त से सम्बद्ध है ।

**जरितुः वर्धते गिरः । ऋ० ६।४०।५**

गिरः शब्द जॄ धातु से बना बताया गया है ।
ये ही शब्द निरुक्त में दिखाये गये हैं जो इस प्रकार हैं—
अर्क=अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति । निरुक्त ५।४
मघ=मघमिति धन नामधेयम् । मंहते दैनिकर्मणः । निरुक्त १।७

प्रपुरि=पिपर्ति पिपुरिति । पृणति निगमौ वा प्रीणति निगमौ वा । निरुक्त ५।२४
अक्तु  अक्तु अञ्जू व्यक्तिमुक्षणस । देवराज यज्वा । १।७

## अतिपरोक्षवृत्ति शब्द

**धान्यमसि धिनुहि देवान्** । यजुर्वेद
**उदानिषुर्महीरितितस्मादुदकमुच्यते** । ऋग्वेद

इन जगहों पर धान्य और उदक शब्द अतिपरोक्ष वृत्या वताये गये हैं ।

## समानाकृति शब्द

संस्कृत भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जो देखने में एक जैसे प्रतीत होते हैं पर एक जैसे नहीं हैं ।

हर शब्द का प्रथमा द्वितीया द्विवचन में 'हरो' हरि शब्द का सप्तमी एक वचन में 'हरौ' । आकृति एक है पर शब्द अलग-अलग हैं । ऐसा नहीं है कि एक ही 'हरौ' के दो अर्थ हों ।

इसी प्रकार । 'चकार' डुकृञ्करणे का भी रूप है और कृ विक्षेपे का भी, पर आकृति ही दोनों की एक है, शब्द एक नहीं हैं । अतः यह सिद्धान्त बनता है कि—

**भिन्नप्रकृतिनिष्पन्नो ऽपि भवत्यविसंवादी शब्दो यथा च करोति करोति किरत्योः ।**

यह बात भी वेद ने बताई है कि जो निरुक्त में जगह-जगह स्वीकार की गई है ।
वेद बताता है कि—

एक अश्विनौ शब्द अशू धातु से बना है । दूसरा अश्विनौ शब्द अश्व शब्द से बनता है । ये दोनों शब्द अश्व एक नहीं हैं । केवल आकृति ही एक है । निरुक्त में यज्ञ शब्द के निर्वचन में अनेक यज्ञ शब्द है, यह स्वीकार किया है । यथा—

यज्ञः=प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः ।
यज्ञः=याच्ञो भवतीति वा ।
यज्ञः=यजुसन्नो भवतीति वा ।
यज्ञः=बहुकृष्णजिन इत्यौपमन्यवः ।
यज्ञः=यजूंष्येनं नयन्तीति वा । निरुक्त ३।१९
यज्ञः=स यन् जायते । शतपथ
एक यज्ञ शब्द यज धातु से बना है ।
दूसरा यज्ञ शब्द याच्ञा से बना है ।
तीसरा यज्ञ शब्द यजु+उन्दी से बना है ।
चौथा यज्ञ शब्द अजिन से बना है ।
पांचवां यज्ञ शब्द यजु+ती से बना है ।
छठा यज्ञ शब्द यन्+यन् से बना है ।

ये सब शब्द समानाकृति के बल पर है भिन्न-भिन्न, यह बात भी अश्विनौ के प्रकरण में वेद ने बताई है। जैसा हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं।

नैरुक्तों ने अन्य अनेक विषयों पर भी प्रकाश डाला है। जैसे—

(क) १—तीन देवता हैं।
२—तीन लोक हैं।

इस बात को भी वेद ने बताया है जो वर्णन यजुर्वेद आता है कि—

**यः प्रथमस्यां पृथिव्यामसि,**
**यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि,**
**यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि।**

यहां पृथिवी शब्द लोक वाचक है।

ख—**महाग्यद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।** निरुक्त ७।४

इस बात को वेद के प्रसिद्ध मन्त्र में बताया गया है।

**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।** ऋग्वेद

ग—इसी प्रकार निरुक्त प्रतिपादित भक्ति साहचर्य का वर्णन यजुर्वेद में आता है।

# ज्योतिर्विज्ञान के सिद्धान्तों का आधार--वेद

—श्री वीरसेन वेदश्रमी

**अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः । यजुः ३।६**

ज्योतिर्विज्ञान का मूल आधार ज्योतिमय पदार्थ ही हैं। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही परम ज्योतिमय प्रधान तत्व अग्नि से होता है। उसी की स्तुति, उसी के अनुसन्धान, उसी के विशिष्ट एवं व्यापक गुणों का दर्शन तथा उपयोग प्रकट करने के लिये सर्वप्रथम मन्त्र में—'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्' । होतारं रत्नधातमम्—के रूप में परमात्मा ने मानव हित के लिये प्रदान किया।

**सूर्याज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः । यजुः ३।६**

अग्नि तत्व सृष्टि के विविध पदार्थों के विविध संयोगों से अनेक नाम से प्रतीत होता है। अग्नि तत्व से ही सूर्य का निर्माण हुआ है। अतः सूर्य ज्योति है और ज्योति सूर्य है। सूर्य या उसकी या उसकी ज्योति ही ज्योतिमय शक्ति ही—सविता के रूप में इस विश्व में अनेक प्रकार की उत्पत्ति तथा विविध ऐश्वर्य उत्पन्न करती है। अतः यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र का देवता सविता ही है और—देवो वः सविता—हमारा देव भी सविता है। वह ईड्य है क्योंकि इष, उर्ज, वायवः (प्राणों) आदि का वह प्रसव करता है—उत्पन्नकर्त्ता है। सविता वै देवानां प्रसविता—बताया गया है।

**मूर्धानंदिवः । यजुः अ, ७।२४**

सविता रूप से हमारे चारों ओर ऐश्वर्य का उत्पादक अग्नि ही आदित्य रूप से द्युलोक में विराजता है। सूर्यात् सामवेदः का भाव सामवेद के आदित्य+सूर्य से है। है वह भी अग्नि। अतः सामवेद का प्रथम मन्त्र भी—अग्न आयाहि वीतये—अग्नि से,अग्नि के दिव्य गुणों को व्यवहार में लेने के लिये उपदेश दे रहा है। सविता ही सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (यजुः ७।४२) रूप में पृथिवी द्यौ अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में है।

**उपहूतो वाचस्पतिः । अथर्व १।१।४**

अथर्ववेद का प्रथम सूक्त वाचस्पति देवता का है। उपरोक्त मन्त्र वाक्य में वाणी के जिस पति की आराधना की गई है एवं जिसका आह्वान किया गया है वह मूल रूप से अग्नि ही है। अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्—अर्थात् अग्नि ही वाक् रूप में होकर मुख में प्रवेश कर गई। वाक् का मूल अग्नि होने से वह वाचस्पति भी है। समस्त ब्रह्माण्ड में जड़-चेतन में अग्नि व्याप्त है और उसकी व्याप्ति से वाक् भी अखिल ब्रह्माण्ड में विद्यमान है। अतः चारों वेदों के प्रथम मन्त्र ज्योति से ही प्रारम्भ होते हैं।

उपरोक्त चारों ज्योतियों से ज्योतिर्विज्ञान का भी प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में अग्नि को पुरोहित कह कर सृष्टि आदि की रचना का कर्त्ता, संचालक, सम्पादक तथा ज्योति स्थापक बताया है। उसे—यज्ञस्य देवं—कहकर ज्योति या ज्योतिर्गणों, ज्योतिपिण्डों में नतियदाता संयोगशील, संगति धर्मा बताया है। उसे ऋत्विजम् कह कर ऋतुओं, अयनों, संवत्सरों तथा मास, पक्ष, अहोरात्र, सवन, सन्ध्यादि काल का जनक बताया है। होता—कहकर विविध आदान एवं विसर्ग क्रियाओं का कर्त्ता, ज्योतियों एवं पदार्थों के आगमन एवं प्रत्यावर्त्तन का निमित, भूत तथा ज्योतियों के आकुंचन एवं प्रसारण स्वभाव वाला बताया है तथा इनके विविध परिणामों से विश्व में होने वाली ताप-प्रकाश की स्थिति का निर्देश दिया है। रत्नधातमम्—कहकर काल एवं ताप के विविध परिणामों से उत्पन्न होने वाले रत्नों का जनक—प्रकट किया है।

**एकं वा इदं विवभूव सर्वम्।** अथर्व ८।५८।२

वेद ने जिस अग्नि रूपी ज्योति का ज्ञान प्रथम दिया वही इस अखिल ब्रह्माण्ड में अनेक रूप से संगठित हुई है। इस विज्ञान को वेद निम्न शब्दों में प्रकट कर रहा है:—

**एक एवाग्नि बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।**
**एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभुव सर्वम्॥** ऋग्वेद ८।५८।२

अर्थात् वेद प्रतिपादित प्रथम अग्नि तत्व ही अनेक रूप में संगठित, समिद्ध एवं प्रदीप्त हुआ। एक सूर्य विश्व में विविध अनेक ज्योति रूप में प्रकट हुआ। एक ही उषा इस सब में प्रकाशित रही है। उस एक तथा आद्य प्रतिपादित अग्नि से ही ये सब विविध ज्योतियां या विश्व के समस्त पदार्थ विविध सत्तामय हुए।

**त्रीणिज्योतींषि सचते स षोडशी।** यजुः ३२।५

विश्व तीन ज्योतियों से पूर्ण है। प्रत्येक ज्योति की सात-सात समिधायें ही सप्त रश्मियां हैं। अतः 'त्रिः सप्त समिधः'। (यजु ३२।१५) इक्कीस ज्योतिर्मय समिधाओं से इस पिण्ड और ब्रह्मांड में यज्ञ समिद्ध हो रहा है जिसे—देवा यज्ञं तत्वानः। (यजुः अ, ३१।१५) सृष्टि के देव आदि सृष्टि से आज तक अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। ये ही अग्नियां उष्ण, शीत, अनुष्णशीत रूप से हमें अनुभूत हो रही उष्ण अग्नियां सूर्य केन्द्र से, शीताग्नियां चन्द्र केन्द्र से तथा अनुष्णाशीत अग्नियां नक्षत्रादि रूप से क्रियाशील हैं। आपोज्योतिः, अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्, ज्योतिव्यापः प्रतिष्ठितः आदि वाक्य शीताग्नियों की ओर ही संकेत कर रहे हैं। उनको—प्रजापतिः प्रजया संरराण स्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडक्षी (यजुः ३२।५) वह प्रजापति प्रजा के हित, मंगल, आनन्द की कामना से उपरोक्त तीन ज्योतियों का निर्माण करता है।

**इन्द्रोज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः।** साम० १८३१

परमैश्वर्यप्रदाता, परमेश्वर्यवान् परमात्मा ज्योति है। ज्योति में विश्व का ऐश्वर्य है। "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" (यजुः ३२।२) उस परम ज्योतिर्मय सर्वप्रकाशक से, उससे निर्मित, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि ज्योतियों से काल के छोटे से छोटे अवयव निमेषादि उत्पन्न हुए। काल के छोटे और बड़े अवयवों का ज्योतियों के आधार पर होता है। इन्हीं ज्योतियों के आधार पर ज्योतिर्विज्ञान के सिद्धान्त लोक में प्रचलित हुए। इन तीनों सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ज्योतिर्मय पदार्थों की गति, स्थिति, गुण, धर्म, प्रभाव का ही वर्णन ज्योतिष शास्त्र या ज्योतिर्विज्ञान है।

## ज्योतियों का त्रिचक्र

जो उपरोक्त तीन ज्योतियों के त्रिचक्र को जानता है वह ज्योतिर्विज्ञानविद् है। वेद में एक स्थल पर संक्षेप में निम्न प्रकार वर्णन आता है:—

**ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तंत्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम् ।**
**चित्रामघा यस्य योगोधिजज्ञे तं वां हुवे अतिरिक्तं पिबध्ये ।। ऋ० ८।५८।३**

ज्योतिर्मय, केतुर्मय, त्रिचक्र वाला सुखद, सुषद, भूरिवार रथ कालचक्र का ही है जिनमें चित्रा, मघा आदि नक्षत्रों के, सूर्यचन्द्रादि के सामीप्य से विविध संयोग उत्पन्न होते हैं। ज्योतिर्विज्ञान का संक्षेप में या बीज रूप से यह मन्त्र है।

## त्रिचक्र में प्रधियां और ३१ शंकु और खीलें

पूर्वोक्त मन्त्र के वर्णन के अतिरिक्त कुछ और विशेष विवरण ज्योतिर्विज्ञान के प्रमुख प्रदर्शन का निम्न प्रकार प्राप्त होता है—

**द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि च उतच्चिकेत ।**
**तत्रा हतास्त्रीणि शतानि शंकवः षष्टिश्च खीला अविचाचलाये ।।**
**अथर्व १०।८।४**

१२ मास रूपी प्रधियां, एक संवत्सर रूपी चक्र, तीन नाभिरूपी बन्धनों ग्रीष्म, वर्षा, शीत को उस प्रजापति परमात्मा ने बनाया है। उस संवत्सर रूपी चक्र में अहोरात्र रूपी ३६० शंकु और ३६० खीलें लगी हुई यथावत् अपनी गति में रहती हुई स्थिर हैं। इसी रहस्य को --'अत्र सप्त शतानिर्विशतिश्च तस्थुः' (अथर्व ६।६।१३) इस मन्त्र में अहः और रात्रि के शंकु और खीलों का योग ३६०+३६०=७२० बताया गया है। इस प्रकार वेद ने एक संवत्सर के अंग-उपांगों का वर्णन संक्षेप में किया है।

**संवत्सरो अजायत । ऋ० १०।१६०।२**

ज्योतिर्विज्ञान में वर्ष, मास, ऋतु, अयन, दिन आदि का महत्व अत्यधिक है। संवत्सर के बारे में एक मन्त्र निम्न प्रकार से वेद में आता है:—

**संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽ सीदावत्सरोऽ सीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि । उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्तां संवत्सरस्ते कल्पन्ताम् ।। यजु० २७।४५**

इस मन्त्र में ५ प्रकार के संवत्सरों का उल्लेख है—(१) संवत्सर, (२) परिवत्सर, (३) इदावत्स, (४) इद्वत्सर, और (५) वत्सर। धर्मसिन्धुकार ने—संवत्सरः पंचधा चान्द्र, सौर, सावन नाक्षत्र बार्हस्पत्य इति इस प्रकार (१) चान्द्र वर्ष, (२) सौर वर्ष, (३) सावन वर्ष, (४) नाक्षत्र वर्ष तथा (५) बार्हस्पत्य बर्ष ये संवत्सर के पांच भेद माने हैं।

चान्द्र वर्ष ३५४ दिन का, सौर वर्ष ३६५ दिन का, सावन वर्ष ३६० दिन का, नाक्षत्रवर्ण ३२४ दिन का और बार्हस्पत्य वर्ण ३६१ दिन का होता है। इनमें से संवत्सर सावन वर्ष है। परिवत्सर सौर वर्ण है। इदावत्सर चान्द्र दर्ण है। इद्वत्सर बार्हस्पत्य वर्ण है और वत्सर नाक्षत्र वर्ण है।

## संवत्सर के ५ अंग

पूर्वोक्त यजुर्मन्त्र में ५ प्रकार के संवत्सरों के वर्णन के अतिरिक्त ५ प्रकार के संवत्सर के अंगों का भी वर्णन है। सब प्रकार के संवत्सरों के निर्माण में अंगभूत सबसे छोटा काल उषा का हैं। उषा रात्रि और दिन की सन्धि बेला के काल को प्रकट करती है और दिन रात्रि के युग्म सम्बन्ध एवं युग्म स्वरूप को भी प्रकट करती है। उषा काल से बड़ा अहोरात्र का काल है। अहोरात्र पक्षों को—शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्षों को बनाते हैं। ये ही अर्धमास हैं। अर्धमास युग्मों से पूर्णमास बनते हैं। मासों के युग्मों से ऋतुओं का निर्माण होता है। ऋतुओं से संवत्सर बनते हैं। यतः उषा, अहोरात्र, अर्धमास, मास और ऋतु इन सबका वास निवास, संवत्सर में होता है, इसलिये—'संवसन्ति ऋतवः अत्र यह व्युत्पत्ति चरितार्थ' होती है। इस प्रकार (१) उषा, (२) अहोरात्र, (३) अर्धमास, (४) मास और (५) ऋतु ये पांच संवत्सर के अंग वेद ने प्रकट किये।

उषा के द्वारा सूर्य के उदय एवं अस्त का समय ज्ञात होता है। अहोरात्र के द्वारा दिन व रात्रि का मान ज्ञात होता है। अर्धमासों द्वारा कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष का, चन्द्र की क्षय, वृद्धि तिथियों, नक्षत्रों की गति, समुद्र के ज्वार भाटा आदि का ज्ञान होता है। मासों से सूर्य की द्वादश राशि स्थिति, संक्रान्तियां एवं सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र गतियों का ज्ञान होता है। ऋतुओं द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युमण्डल के विविध प्रभावों का, वायु, वृष्टि, शीत, उष्ण, उत्पत्ति, परिपाक, पर्जन्य स्थिति आदि का ज्ञान होता है।

**सविता षडक्षरेण षडऋतूनुदजयत्** । यजुः १३।२५

सूर्य-सविता से ही सब ऋतुओं की उत्पत्ति होती है। सविता षडक्षर से अर्थात् देवी त्रिष्टुप् छन्द से षड्ऋतुओं को स्ववश करता है। वेद में षड् ऋतुओं के नाम क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर यजुर्वेद के अध्याय १० के ११वें मन्त्र से १५वें मन्त्र में आते हैं। अन्य भी स्थलों पर षड् ऋतुओं के नाम वेद में आते हैं। ये षड् ऋतुएं दो-दो महीनों से बनी हुई हैं।

## ऋतुओं का मासों से सम्बन्ध

वेद में वासन्तो मासो, ग्रैष्मो मासो, वार्षिको मासो, शारदो मासो, हेमन्तो मासो, शैशिरो मासो। ये पद अथर्ववेद के १५वें काण्ड के चतुर्थ सूक्त के मन्त्र २, ५, ८, ११, १४ तथा १७ में आते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ऋतुओं से मासों का सम्बन्ध है छः ऋतुओं में दो-दो मास होते हैं।

## ऋतुओं के मास

किन-किन मासों से कौन-कौन सी ऋतुओं का निर्माण होता है इसका वर्णन भी वेद में निम्न प्रकार प्राप्त होता है :—

**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू** । यजुः १३।२५

अर्थात् मधु और माधव मास वसन्त ऋतु के हैं। क्योंकि इन मासों में मधु की उत्पत्ति तथा संचय वृक्ष, वनस्पति आदि में तथा उनके पुष्पों में होता है। इन मासों की वायु में भी मध-

वाता ऋतायते' (यजुः १३।२७) चरितार्थ होता है। सृष्टि यज्ञ के सम्पन्न होने से 'वसन्तोस्यासीदाज्यम्' (यजुः ३१।१४) वसन्त के द्वारा उसके आज्य रूप में प्रयुक्त होने से समस्त वायुमण्डल मधु संयुक्त हो जाता है। पृथिवी की वायु मधुच्छन्दा बनकर मधु का आच्छादान सर्वत्र कर देती है। 'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः' (यजुः १३।२७) वनस्पति जगत् में मधु और माधव का निवास हो जाता है। 'मधुमां अस्तु सूर्यः' (१३।२९) सूर्य भी मधुच्छन्दा बनकर माधुर्य बरसाता है। द्युलोक, पृथिवी, रात्रि और उषा सभी में मधु और उससे माधव का संचार हो जाता है। अतः वेद ने प्रकृति के गुणों तथा प्रभाव के कारण मधु और माधव नाम सार्थक ही रखे हैं।

इन्हीं मधु और माधव मासों के चैत्र और बैशाख नाम ज्योतिर्विज्ञान में हैं। चित्रा नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी जिस मास से है वह चैत्र मास है और विशाखा नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी जिसमें हो वह वैशाख मास होता है। इस प्रकार ऋतु का सम्बन्ध मासों का सम्बन्ध नक्षत्र और चन्द्रमा के साथ गुंथा हुआ है।

**शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ।** यजुः १४।६

शुक्र और शुचि मास ग्रीष्म ऋतु के हैं। शुक्र और शुचि दोनों का अर्थ अग्नि भी है। अर्थात् इन दोनों मासों में अग्नि, ताप, उष्णता विशेष होती है। शुक्र का अर्थ सार रूप, बीज रूप, शुद्ध, शीघ्रकारी भी है और शुचि का अर्थ, शुद्ध, पवित्र है। अर्थात् इन दोनों मासों में प्रकृति में ताप, वृद्धि, शुद्धता, पवित्रता, वृक्ष वनस्पतियों में सार, वीर्य, सामर्थ्य, परिपक्वता, बीजों का निर्माण होता है। इन्हीं दोनों ने ज्योतिर्विज्ञान में ज्येष्ठ और आषाढ़ नाम हैं। ज्येष्ठ नक्षत्र से युक्त पूर्णमासी इस ज्येष्ठ मास में होती है अतः ज्येष्ठ मास का नाम पड़ा और अषाढ़ा नक्षत्र से युक्त पूर्णमासी होने से अषाढ़ मास नाम हुआ। ज्येष्ठ का अर्थ बड़ा है। उत्तरीय गोलार्ध में सबसे बड़ा दिन इसी मास में होता है। इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्ध में सबसे बड़ी रात्रि इसी मास में होती है। अतः ज्येष्ठ नाम इसका सार्थक है। किसी प्रकार की ज्येष्ठता ग्रीष्म या शीत की, दिन या रात्रि की किसी भी गोलार्ध में इसमें होती है। अषाढ़ का अर्थ—'न सहते इत्यषाढ़ः' है। जो ज्येष्ठ ताप व शीत को न सहन करे वह अषाढ़ है। इस दृष्टि से पृथिवी के उत्तरीय गोलार्ध में ताप की कमी, ज्येष्ठ दिवस मान की कमी प्रारम्भ होती है और दक्षिणी गोलार्ध में ज्येष्ठ रात्रि एवं अति शीत का ह्रास होने से अषाढ़ नाम सार्थक है।

**नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू ।** यजुः १४।१५

नभ और नभस्य वर्षा ऋतु के मास हैं। नभ का अर्थ आकाश एवं बादल हैं। बादल हो जाने से न 'भातीति नभः' आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता इसलिये नभ नाम सार्थक हो जाता है। नभ बादल को भी कहते हैं। इस मास में बादल आच्छादित रहते हैं अतः नभ नाम सार्थक है। 'नभस्य नाम नभसि मेघेभवः' मेघों में विद्युत् इस मास में अधिक होती है और गर्जना भी अधिक होती है। इसलिये नभस्य नाम सार्थक है।

इन्हीं दोनों मासों के नाम ज्योतिर्विज्ञान में श्रावण एवं भाद्रपद हैं। श्रवणा नक्षत्र युक्त पूर्णिमा के कारण मास का श्रावण नाम और भाद्रपक्ष नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा के कारण मास का नाम भाद्रपद है। श्रावण का अर्थ सुनने-सुनाने से है। सुनना-सुनाने का सम्बन्ध शब्द से है। सामवेद में 'शृण्वेवृष्टेरिव स्वनः' (साम० ८९४) आता है। अर्थात् वृष्टि का शब्द या तद्वत् शब्दों की

उत्पत्ति और उनका श्रवण, श्रावण में होता है और 'मासे भाद्रपदे मेघा शब्दं कुर्वन्ति या दृशम्' द्वारा याज्ञवल्क्य शिक्षा ने वेद मन्त्रों के कतिपय शब्दों का उच्चारण साम्य बताकर भाद्र अर्थात् मंगलकारी वेदवाणी के पदों की ओर प्रगति करने का संकेत किया।

**इषश्चोर्जश्च शारदावृत्** । यजु: अ० १४। मं० १६

इष और ऊर्ज शरद ऋतु के मास हैं। इष अन्न को कहते हैं और ऊर्ज बल को कहते हैं। इन मासों में अन्न पकता है और उस पके अन्न में बल देने की शक्ति भी उत्पन्न होती है। आयुर्वेद की दृष्टि से दक्षिणायन के मासों में शरीर में भी बल की 'ऊर्ज्ज की वृद्धि होती है। अत: इष और ऊर्ज शरद् ऋतु के नाम वेद के सार्थक हैं।

इन्हीं दोनों मासों को ज्योतिर्विज्ञान में आश्विन और कार्तिक कहते हैं। आश्विन मास में विजयदशमी और शरत्पूर्णिमा पर्व आते हैं। अश्विनी नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा के कारण आश्विन मास का नाम है। अश्वियों का सम्बन्ध आरोग्यता से है अत: इस मास में स्वास्थ्य की वृद्धि अवश्य होती है। कृतिका नक्षत्र की पूर्णिमा के कारण कार्तिक मास का नाम है। कृतिका नक्षत्र में सात तारे होते हैं। यह अग्नि प्रधान नक्षत्र है अत: इस मास में बल, पराक्रम की स्वभावत: वृद्धि होती है।

**सहश्च सहस्यश्च हेमन्तिकावृतू** । यजु: १४।२७

सह और सहस्य मास हेमन्त ऋतु के हैं। सह का अर्थ साथ, सहित, सादृश्य आदि है। अर्थात् इस मास में शीत के कारण अंग शरीर के साथ सिकुड़ कर रखने की प्रवृति होती है। सोते समय भी सिकुड़कर पिण्ड सादृश्य बनकर रहना पड़ता है। अत: सह नाम इस मास का उचित है। सहस्य का अर्थ 'सहसे बलाय हित:' बल के लिये हितकारी। अत: बलवृद्धि इस मास में होने से सहस्य नाम हुआ।

ज्योतिर्विज्ञान प्रक्रिया में इन दोनों मासों की संज्ञा आग्राहयण और पौष हैं। आग्रहायण अर्थात् मृगशिर नक्षत्र वाली पूर्णिमा जिस मास में होती है उसे आग्रयण या मार्गशीर्ष कहते हैं। पुण्य नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी वाले मास को पौष कहा गया है। पुष्टि का सम्बन्ध होने से पौष मास कहा गया है।

**तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू** । यजु: १५।५७

तप और तपस्य मास शिशिर ऋतु के हैं। तप और तपस्या के लिये हितकारी ये दोनों मास शीत की न्यूनता तथा ग्रीष्म का अभाव होने से तपयुक्त होते हैं। ज्योतिर्विज्ञान में इनके नाम माघ और फाल्गुन हैं। मघा नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी इस मास में होने से माघ और फाल्गुनी नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा होने से फाल्गुन मास संज्ञा है।

इस प्रकार १२ मासों के नाम ऋतु सहित वेद में बताये गये हैं। ज्योतिर्विज्ञान में इन मासों का सम्बन्ध नक्षत्रों के नाम से है। प्रमुख रूप से नक्षत्र २७ हैं। उनकी स्थिति पर मासों को स्थित करने से २१ नक्षत्रों की गति चक्र पर सूर्य की स्थिति से १२ आदित्यों का निर्माण होता है। ये ही द्वादशादित्य १२ मास के आदित्य हैं। २१ नक्षत्रों से १२ विभाजन २७ नक्षत्रों के करने पर जो १२ स्थितियां या स्वरूप बनते हैं, उनके उन स्वरूपों से मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन ये १२ राशियों के नाम बने।

## तेरहवां मास

वेद में १२ मासों के अतिरिक्त १३वें मास का भी उल्लेख निम्न मन्त्र में है—मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोजार्य स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहा हसस्पतये स्वाहा। यजु: २३।३१) १—मधु (चैत्र), २—माधव (वैशाख), ३—शुक्र (ज्येष्ठ), ४—शुचि (अषाढ़), ५—नभ (श्रावण), ६—नभस्य (भाद्रपद), ७—इष (आश्विन), ८—ऊर्ज (कार्तिक), ९—सह (आग्रहण),१०—सहस्य (पौष), ११—तप (माघ), १२—तपस्य (फाल्गुन) और १३वां मास अंहस्पति जिसे मलमास कहते हैं वेद ने बताया। अथर्ववेद में भी सनिस्रसोनामासि त्रयोदशोमासः इन्द्रस्य गृहः। (अ० ५।६।४) अर्थात् तेरहवां मास सनिस्रस नाम का है। वह इन्द्र अर्थात् सूर्य का ही गृह है। द्वादश सूर्यों की ही संज्ञा में इन्द्र संज्ञा है। इन्द्र नाम ज्येष्ठ नक्षत्र का भी है क्योंकि वह उसका देवता है। त्रयोदशवां मास अधिक मास, या मलमास होने से ज्येष्ठता को प्राप्त हो जाता है अतः वह इन्द्र का ही गृह है किसी कनिष्ठ का नहीं, क्योंकि—'इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः' कहा गया है।

## अर्ध मास

मासों का निर्माण अर्धमासों से होता है। अर्धमासों का दर्शन एवं ज्ञान चन्द्र के शुक्ल और कृष्ण पक्षों से होता है। पूर्णिमा और अमावस्या के दर्शन से दोनों पक्षों—अर्धमासों की पूर्णता, चन्द्र के अर्धभागों को देखने से अष्टमी का ज्ञान, पूर्णिमा के पश्चात् प्रथम क्षय और अमा- के वाद चन्द्र की रेखा के दर्शन से प्रतिपदाओं का ज्ञान होता है। प्रतिपदा से क्रमशः चन्द्र की कला में वृद्धि से शुक्ल पक्ष, क्षय से कृष्ण पक्ष की तिथियों की क्रमशः गणना का ज्ञान होता है। वेद में दोनों पक्षों की तिथियों की क्रमशः गणना उनके अधिष्ठाता देवों के साथ वर्णित की गई है।

शुक्ल पक्ष की तिथियों की गणना उनके देवता निर्देश के साथ निम्न प्रकार वेद में प्रदर्शित की गई है:—

> **अग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यादित्ये पंचमीन्द्राण्ये षष्ठी मरुता<sup></sup>ँ सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्व द्वादशी यमस्य त्रयोदशी।** यजु: २५।४

अग्नि की प्रतिपदा, वायु की द्वितीया, इन्द्र की तृतीया, सोम की चतुर्थी, अदिति की यंचमी, इन्द्राणी की षष्ठी, मरुतों की सप्तमी, बृहस्पति की अष्टमी, अर्यमा की नवमी, धाता की दशमी, इन्द्र की एकादशी, वरुण की द्वादशी और यम की त्रयोदशी तिथि जाननी चाहिए।

कृष्ण पक्ष की तिथियों की गणना उनके देवता निर्देश के साथ निम्न प्रकार वेद में प्रदर्शित हैं:—

> **इन्द्राग्न्यो पक्षतिः सरस्वत्यैनिपक्षतिर्मित्रस्य तृतीयापां चतुर्थी निर्ऋत्यै पंचम्यग्नीषोमयोः षष्ठी सर्पाणा<sup></sup>ꣳसप्तमी विष्णोरष्टमी पूष्णो नवमी त्वष्टुर्दशमीन्द्रस्यैकादशींवरुणस्य द्वादशो यम्ये त्रयोदशी।** यजु: २५।५

इन्द्राग्नी की प्रतिपदा, सरस्वती की द्वितीया, मित्र की तृतीया, जलों की चतुर्थी, निर्ऋति की पंचमी, अग्नी सोम की षष्ठी, सर्पों की सप्तमी, विष्णु की अष्टमी, पूषा की नवमी, त्वष्टा की दशमी, इन्द्र की एकादशी, वरुण की द्वादशी, यम की त्रयोदशी तिथि जाननी चाहिये।

द्यावापृथिव्योर्दक्षिणंपार्श्वम् (यजु: २५।५) द्यावापृथिवी का दक्षिण पार्श्व अर्थात् कृष्ण पक्ष है और विश्वेषां देवनामुतरम् । (यजु: २५।५) विश्वेदेवों का उत्तरपार्श्व अर्थात् शुक्ल पक्ष है। अर्थात् अपने-अपने पक्ष की चतुर्दशी के उपरोक्त देव हैं और पक्षान्त तिथि के भी हैं।

## तिथियों के देवता

उपरोक्त तिथियों के निर्देश से यह ज्ञात होता है कि अमुक पक्ष की अमुक तिथि को प्रकृति में अमुक् तत्व की, शक्ति की वृद्धि रहेगी। इसको ठीक इस प्रकार समझना चाहिये जैसे शिशिर ऋतु में शीत प्रधान, ग्रीष्म ऋतु में उष्णता प्रधान और वर्षा ऋतु में वर्षा की प्रधानता होती है तथा जिस प्रकार दिन में प्रातः सायं एवं मध्याह्न में उष्णता, शीतलता, प्रकाश आदि की न्यूनाधिकता होती है और प्रत्यक्ष प्रतीत होती है उसी प्रकार से पक्षों का भी प्रभाव प्रकृति पर पड़ता है। पक्षों के अन्तर्गत तिथियों का भी प्रभाव प्रतिदिन भिन्न-भिन्न रूप से प्रकृति पर पड़ता है, जिसमें से समुद्र पर पड़ने वाला प्रभाव सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है ही।

**प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम्। यजु: ३०।१०**

ज्योतिर्विज्ञान के विशेष ज्ञान के लिये नक्षत्रों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिये वेद ने कहा—'नक्षत्रेभ्यः स्वाहा, नक्षत्रियेभ्येः स्वाहा।' (यजु: २२।२८) नक्षत्रों के ज्ञान, उनके प्रभाव, उपयोगिता आदि के ज्ञान के लिये हमारा निरन्तर प्रयत्न होना चाहिये और नक्षत्रों के विभिन्न समूहों के भी ज्ञान का प्रयत्न करना चाहिये। नक्षत्रों का भी वर्णन उनकी उपयोगिता के साथ निम्न प्रकार वेद में वर्णित है:—

**सुहवमग्ने कृतिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः समार्द्रा।**
**पुनर्वसू सुनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥**
**पुण्यं पूर्वाफाल्गुन्यो चात्र हस्तश्चित्राशिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।**
**राधेविशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ठ मूलम्॥**
**अन्नं पूर्वां रासतां मे अषाढ़ ऊर्जं देव्युतरा आ वहन्तु।**
**अभिचिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्॥**
**आमें महच्छतमिषग्वरीय आ में द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।**
**आरेवती चाश्वयुजो भगं म आ में रयिं भरण्य आ वहन्तु॥**

अथर्व वेद १६।६।२।५

इन मन्त्रों में नक्षत्रों के नाम और उनके प्रभाव का निम्न प्रकार प्रदर्शन किया है:—

हे अग्ने, १—कृतिका और (२) रोहिणी नक्षत्र मेरे लिये अच्छे प्रकार यज्ञ के लिये होवें। ३—मृगशिरा कल्याणप्रद, ४—आर्द्रा सुखकारी हो। ५—पुनर्वसु सुन्दर चेष्टा वाला, ६—पुष्य अनुकूलता देने वाला, ७—आश्लेषा प्रकाशमान और ८—मघा सुन्दर निवास देने वाला हो। ९—पूर्वा फाल्गुनी और १०—उत्तराफाल्गुनी पुण्व साधक हैं, ११—हस्त और १२—चित्रा कल्याणकारक हैं। १३—स्वाति सुखदाता, १४—विशाखा सिद्धिदाता है। १५—अनुराधा-यज्ञसिद्धिदाता, १६—ज्येष्ठा श्रेष्ठ नक्षत्र और १७—मूल नक्षत्र अशुभ कारक है। १८—पुर्वाषाढ़ा अन्नप्रदाता, १९—उत्तराषाढ़ा बलदायक और २०—अभिजित पुण्य साधक है, २१—श्रवण नक्षत्र तथा २२—धनिष्ठा पुष्टिकर्त्ता एवं धनदाता हैं। २३—शतमिषगु महद्यशदाता है। २४—पूर्वभाद्रपदा और २५—

उत्तराभाद्रपदा सुखवृद्धिकर्ता है । २६—रेवती और २७—अश्विनी ऐश्वर्यप्रदाता तथा २८—भरणी नक्षत्र धन से परिपूर्ण करने वाला है । ज्योतिष शास्त्र में २७ नक्षत्र माने जाते हैं । प्रधान रूप से परन्तु २८वां नक्षत्र अभिजित् भी माना जाता है ।

नक्षत्रों के उपरोक्त गुणों का प्रभाव पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में होता है और विशेष प्रभाव पृथिवी मण्डल पर होता है । यथा कृतिका और रोहिणी से ताप की वृद्धि होना, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा से पृथिवी में अन्न और बल की वृद्धि, रेवती, अश्विनी और भरणी नक्षत्रों से पृथिवी में विविध प्रकार के धन ऐश्वर्यों की वृद्धि होती ।

**सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु । अथर्व १९।८।१**

नक्षत्रों का प्रभाव जिस प्रकार से जड़ जगत् पृथिवी, जल, भूमि, पर्वत दिशा आदि पर पड़ता है उसी प्रकार जीव सृष्टि पर भी किसी न किसी रूप में मृदु, मध्य या तीव्र रूप में पड़ता है उन प्रभावों को सूर्य और चन्द्र सामर्थ्य प्रदान करते हैं । वेद में इसके बारे में निम्न मन्त्र प्राप्त होता है ।

**यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।**
**प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥ अ० १९।८।१**

अर्थात् जिन नक्षत्रों को आकाश के भीतर, अन्तरिक्ष में तथा जिन नक्षत्रों को जल में, भूमि में, वृक्षों पर, विविध दिशाओं में चन्द्रमा समर्थ करता हुआ गति करता है वे सब मेरे लिये सुखदाता हों । अर्थात् चन्द्रमा जिस-जिस नक्षत्र मण्डल के साथ गति करता है उससे उनका प्रभाव इस पृथिवी मण्डल पर तथा हमारे लिये सुखकारक हो जाता है । इसी प्रकार सूर्य भी जिस-जिस नक्षत्र के साथ रहता है वह भी हमारे लिये सुखदाता है । अर्थात् चन्द्रमा जिस-जिस नक्षत्र मण्डल के साथ गति करता है उससे उनका प्रभाव इस पृथिवी मण्डल पर तथा हमारे लिये सुखकारक हो जाता है । इसी प्रकार सूर्य भी जिस-जिस नक्षत्र के साथ रहता है वह भी हमारे लिये सुखदाता होते हैं ।

**शं नो दिविचराग्रहाः । अथर्व १९।९।७**

द्युलोक में गति करने वाले जो ग्रह एवं उपग्रह हैं वे हमारे लिए सुखदाता होवें । इस प्रकार ग्रहों के अस्तित्व के वारे में वेद ज्योतिर्विज्ञान के इस विषय का भी बीज रूप से संकेत करता है । इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र इस वारे में निम्न प्रकार वर्णित है:—

**शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।**
**शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥ अ० १९।९।१०**

इस मन्त्र में चन्द्र, सूर्य (इनके आश्रित जो मंगल, वुद्ध, वृहस्पति, शुक्र, शनि आदि) राहु, केतु और धूमकेतु का भी वर्णन मिलता है । इसी प्रकार "स्वस्ति न इन्दोवृद्धश्रवाः" । मन्त्र द्वारा खगोल को चार भागों में विभक्त करके नक्षत्र मण्डल का ज्ञान कराया गया है ।

इस प्रकार ज्योतिर्विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों का वेद में वर्णन है यहां संक्षेप में कुछ ही लोक प्रसिद्ध बातों को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है ।

# वेद ज्योतिः शास्त्र का उद्गम

—आचार्य रामानन्द शास्त्री—

आकाश में चमकने वाले सूर्य चन्द्रादि ग्रह नक्षत्रादि को ज्योतिष्पुञ्ज कहते हैं। इनका ज्ञान जिससे हो उसे ज्योतिः शास्त्र कहते हैं। विश्व में इस विद्या के प्रवर्त्तक भगवान् वेद हैं। वेद से ही प्रेरणा लेकर सम्पूर्ण ज्योतिष ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। पुरुष सूक्त कहता है:—

नाभ्या आसीदन्तरिक्षँशीर्ष्णोद्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिः दिशः श्रोत्रात् तथा लोकां अकल्पयन्॥

यहां पर शिर की उपमा देकर द्यौः लोक की श्रेष्ठता बताई गई है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षं मथो स्वः॥ ऋग्वेद

प्रजापति परमात्मा ने सूर्य चन्द्रादि द्यौ लोक का निर्माण किया, यहां पर पृथिवी के साथ सूर्य चन्द्रादि का सम्बन्ध बताया गया है।

यः पृथिवीं व्यथमाना महइदं।

यहां चलायमान पृथिवी का उल्लेख है। यह विश्व पृथ्वी से बड़ा है।

यदित्विन्द्र पृथिवी, दशभुजिरहानि, विश्वं ततनन्त कृष्टयः।
अत्राह ते मघवन् विश्रुतम्, स होश्चायन् शवसा बर्हणा भुववद॥ ऋग्वेद

अर्थात् हे इन्द्र! पृथ्वी दश गुणित बड़ी हो, मनुष्य सर्वदा शाश्वत रहे, तभी हे मघवन् तुम्हारी शक्ति और पराक्रम द्वारा प्रख्यात प्रभाव द्युलोक जितना बड़ा होगा। यहां दश गुणित उपलक्षण हैं, अनेक गुणित, यह तात्पर्य है।

## काल

ज्योतिः शास्त्र से हम काल की गणना करते हैं किन्तु काल अनन्त है, उसकी गणना असम्भव है किन्तु सूर्यादि ग्रहों के माध्यम से हम मध्य से ही गणना करते हैं।

देवानां पूर्वे युगे सतः सदजायत।
देवानां पूर्व्ये युगे ऽ सतः सदजायत॥ ऋ० १०।७२।२

यहां पर युग की चर्चा की गई है। पुनः—

या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्य स्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणा महं शतं धामानि सप्त च॥ १०।९७

इस मन्त्र में युग शत और सप्त संख्या वाची है। 'जीवेम शरदः शतम्' तथा 'शतं समा' आदि वाक्य आते हैं। अब विचारना है कि युग कितने का होता है। ब्रह्मगुप्त ने ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष का एक युग माना है, जो आर्य भट्ट के एक श्लोक की टीका के आधार पर है। भारतीय ज्योतिषियों के सिद्धान्तानुसार सब ग्रह एक ही स्थान पर थे किन्तु अपनी गति से घूम रहे हैं, उसी आधार पर उनका अहर्गण मात्र होता है। वेदों में काल गणना के सम्बन्ध में शिक्षा है।

## सूर्य

काल की गणना सूर्य से की जाती है यद्यपि अन्य ग्रहों का भी उदय एवं अस्त होता है, किन्तु उन ग्रहों की भी जानकारी सूर्य से ही होती है। वेद सूर्य के लिये कहते हैं—

**सूय एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।**

अर्थात् सूर्य एकाकी है उसी के आकर्षण से सारा ग्रह उपग्रह चलायमान है।

**यदा ते हर्य्यता हरी वावृधाते दिवे दिवे,**
**आदिते विश्वा भुवनानि येमिरे।**

इस मन्त्र में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—

**(यदाते) अस्माभि प्रायः सूर्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्ति,**
**ईश्वरेण सह सूर्यादि लोकानां चेति।**

हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य। यदा यस्मिन् काले ते हरी आकर्षण प्रकाशन हरण शीली बलपराक्रम गुणावश्वौ किरणौ वा हर्य्यतौ प्रकाशवन्तात्यन्तं वर्धमानौ भवतः ताभ्याम् (आदित्) तदनन्तरं (दिवे दिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च (ते) तबगुणाः प्रकाशाकर्षनादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकान् आकर्षणेन (येमिरे) नियमेन धारयन्ति। अतः कारणात् सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति।

— ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका

इससे विदित होता है कि आकर्षण से सब ग्रह अनन्त आकाश में चलायमान है, इतस्ततः नहीं होते, सूर्य सिद्धान्त में इसे 'प्रबल' वायु की संज्ञा दी गई है।

**एको अग्निः बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वं अनु प्र बभूव।**
**एका उषा सर्वमिदं विभाति एकं वेदं बिवभूव सर्वम्॥**

एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित कर रहा है। इसी के समर्थन में ऐतरेय ब्राह्मण कहता है।

**न वा अयम् उदेति न विम्लोचति सकृद् दिवा हैवास्मै भवति।**
**स वा एष न कदाचन अस्तमेति नोदेति॥**

यह सूर्य न कभी अस्त होता है न उदय, इससे विदित होता है कि वैदिक ऋषियों को रात-दिन का स्पष्ट कारण ज्ञात था।

**सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।** ऋ० १।१६४।२

यहां पर सात किरणों का उल्लेख है जो सूर्य में स्थित है।

**द्वादशारं नहि तज्जराय बर्वति चक्रम् परिद्यामृतस्य। १।१६४।११**

यहां १२ आरा वाला चक्र का उल्लेख है इससे १२ मासों का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही यह भी कहा गया है कि इस का चक्र कभी जीर्ण नहीं होता है। आज खगोल शास्त्री इसे स्वीकार करते हैं कि सूर्य का ताप न्यून नहीं होता है क्योंकि शक्ति ताप में परिणत होती रहती है। प्रसिद्ध वेदों के विद्वान् स्वर्गीय मधु सूदन ओझा ने लिखा है सूर्य पर सोम की आहुति पड़ती रहती है, इसलिए न्यून नहीं होता है। शतपथ विज्ञान भाष्य—

**द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।**
**तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टि न चलाचला सः॥**

ऋ० १।१६४।४५

यहां पर १२ मास तथा ३६० दिनों का चान्द्र वर्ष का उल्लेख किया गया है। इसके पहले दिन और रात मिलाकर ७२० का उल्लेख किया गया है।

**सप्तशतानि विंशन्तिश्च तस्थुः । ऋ० १।१६४।११**

ऊपर चन्द्र वर्ष का उल्लेख है, चन्द्रमा का वर्ष तिथि से है इसलिए यह सौर वर्ष से १० दिन कम है, यही कारण है प्रत्येक तीन वर्ष के बाद एक अधिमास होता है। भारतीय ज्योतिषियों ने सौर और चान्द्र वर्ष का समन्वय स्थापित करने के लिए द्विसंक्रान्ति वाले मास को अधिमास माना, अन्यथा आषाढ़ में जाड़ा तथा तथा माघ में वृष्टि का अनुभव होता, कृषि बिल्कुल चौपट हो जाती। वेद में अधिमास का उल्लेख है—

**वेद मासो धृत व्रतो द्वादश प्रजावतः वेदा य उपजायेत।**

निम्नलिखित वैदिक द्वादश मास हैं—

मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभ, नभस्य, ईश, उर्ज, सह, सहस्य, तप, तपस्य।

यजुर्वेद अध्याय १४ मन्त्र १५ एवं १६ में—

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इषश्चोर्जश्च शारदावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि। इसी प्रकार अ० १५, मं० ५७ में "तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू" का उल्लेख है, वेदों में मासों के साथ झुंडों का वर्णन किया गया है। कौन झुंड में कौन पक्षी अथवा शस्य होते हैं। इसका यथेष्ट वर्णन है।

भारत से ही यह विद्या अरबमें गई,मौलाना सुलेमान नदवी ने लिखा है कि—"अरबी का कर्दजः शब्द संस्कृत का क्रमज्या ही है।" अरबी में जैब शब्द जो त्रिकोणमिति में व्यवहार होता है वह संस्कृत का जीवा (ज्या) शब्द का ही अरबी रूप है। अरब के लोग अधिमास के लिए 'वज्रमास' शब्द का प्रयोग करते हैं, जो अधिमास का बिगड़ा हुआ रूप है।

## पृथ्वी

**चक्राणासः परीणाहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।**
**न हिन्वानास्तितिरुस्त इन्द्रं परिस्पशो अधात् सूर्येण॥ ऋ० १।३३।८**

यहां सूर्य के चारों ओर घूमने वाली पृथ्वी गोल है, 'चक्राणासः परीग्रहं' शब्द से प्रकट होता है।

**आयं गौः पृश्निरक्रमीदसन् मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्व ।**

ऋ० १०।१८९।१

यह पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, स्पष्ट है कि इसी वेद-मन्त्र से प्रेरणा लेकर आज से लगभग १६०० वर्ष पूर्व, कुसुमपुर (पटना) में २० वर्षीय ज्योतिर्विद श्री आर्य भट्ट ने पृथ्वी का चलना सूक्ष्म गणित से सिद्ध किया। इस खगोल शास्त्री महागणितज्ञ की मृत्यु २३ वर्ष की अवस्था में हो गयी। यद्यपि वराह मिहिर ने आर्य भट्ट का सिद्धान्त पृथ्वी का चलना नहीं माना है, किन्तु ब्रह्म गुप्त ने आर्यभट्ट के सिद्धान्त का समर्थन किया है तथा पृथ्वी की वार्षिक गति ३६५ दिन ६ घंटा १२ मिनट ९ सेकण्ड निर्धारित कीहै। जबकि आधुनिक ज्योतिषी ३६५ दिन ६ घंटा ९।२३/१०० सेकण्ड वार्षिक चाल निर्धारित करते हैं। वेध की सूक्ष्मता के कारण हैं। सूर्यसिद्धान्त ने कालभेदोऽत्र कारणम् कहा है।

## चन्द्रमा

चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह तथा हमारे समीप है और ग्रहों से इसकी दूरी कम है।

**सुपर्णा एत आसेत मध्य आरोधने दिवः ते सेधन्ति पथो वृकं**
**तरन्तं यह्वती रपो वित्तं मे अस्य रोदसी ।** ऋ० १।१०५।११

इस मन्त्र पर आचार्य सायण कहते हैं कि—यास्कपक्षे अप इत्यन्तरिक्ष नाम, महदन्तरिक्षे तरन्तं वृकम् चन्द्रमसम्'। आचार्य सायण का तात्पर्य है कि यह चन्द्रमा सूर्य से नीचे है, अर्थात् नजदीक है।

**आदि प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्**
**परो यदिध्यते दिवा ।** ऋ० ८।६।३०

इसमें दिन के लिए 'वासर' शब्द आया है।

**सोम राजन् प्राण आयूंषि ।**
**तारीरहनीव सूर्यो वासराणि ॥**

इस मन्त्र में दिनमान का भी उल्लेख है। इसी आधार से तैत्तरीय ब्राह्मण ने दक्षिणायन तथा उत्तरायण का भी उल्लेख किया है।

**तस्मादादित्यः षण्मासो, दक्षिणेति षडुत्तरेण ।** तै० ६।५।३

## नक्षत्र

**सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमावसृजत् ।**
**अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥** ऋ०

यहां पर मघा में गाये हाँकी जाती हैं ऋग्वेद में कहीं नक्षत्राः शब्द से नक्षत्रों का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद तो स्पष्ट कहता है:—

**यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे, अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।**
**प्रकल्पयश्चन्द्रमा यस्येति सर्वाणि, ममैतानि शिवानि सन्तु ॥**

अथर्व १९।८।१

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे ।
योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥
अथर्व १९।८।२

उपरोक्त मन्त्रों में बताया गया है कि जो अन्तरिक्ष में २८ नक्षत्र हैं, जिन्हें हम समुद्र, पहाड़, भूमि से देखते हैं जिन्हें पार कर चन्द्रमा जाता है वे दिन रात कल्याणकारी हों।

स्मरण रहे कि ये नक्षत्र चन्द्रमा के लिए माइल स्टोन का काम करते हैं। वर्त्तमान ज्योतिप २७ ही नक्षत्र मानते हैं किन्तु वेद में अभिजित नामक एक और नक्षत्र माना गया है।

जिस नक्षत्र में पूर्णमासी होती है उस मास का नाम उसी नक्षत्र से होता है जैसे—"अश्विनी नक्षत्रे पूर्णमासी अस्मिन् अतः अयम् आश्विन मासः" इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। दक्षिण भारत में अमावस्या से मास की पूर्णता मानी जाती है, किन्तु उत्तर भारत में पूर्णिमा से मास की पूर्णता पञ्चांगों में वर्णित है। प्रसिद्ध गवेषक श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने निरुक्त भाष्य में लिखा है कि क्यों ऐसा माना जाता है इसका कारण ज्ञातव्य है। किन्तु वस्तुतः बात यह है कि नक्षत्रों के नाम पर पूर्णिमा होने से ऐसा माना गया। वेदों में नक्षत्र के लिए ऋक्ष शब्द आया है।

अमी य ऋक्षा निहिता स उच्च,
नक्तं ददृशे कुहचिद् दिवेयुः। ऋ०

अर्थात् रात में दिखाई पड़ने वाले ये ऋक्ष दिन में विलीन हो जाते हैं। अंग्रेजी में ग्रहों के लिए वीयर (मास) शब्द का व्यवहार होता है जो इसी से गया है। कहीं पर द्वादश राशियों से भी 'सावन' मास की गणना होती है, जिन्हें मेष, वृष, मिथुन, आदि नामों से पुकारते हैं। यूनानी ज्योतिषी एराइज ने मेष, तौरुस, वृषभ जेमिनी मिथुन, ऐसे ही नाम रखे हैं। जापानी ज्योतिषियों ने बारह राशियों को मनुष्येतर माना है—चूहा, सांप, मुर्गा आदि। वस्तुतः ये राशियां ताराओं का समूह है जिनको जैसी आकृति मालूम हुई उन्होंने वही नाम रख दिया।

किन्तु बारह मास की जानकारी वैदिक ऋषियों को थी और विश्व में भारत से ही यह ज्ञान गया। युरोपीय ज्योतिः शास्त्र के सम्बन्ध में गोरी शंकर हीराचन्द ओझा लिखते हैं:—

ध्यान देने की बात है कि प्राचीन रोमवासी आरम्भ में १० महीने और ३०४ दिन का वर्ष मानते थे। १२ महीने का संवत् वहां पहले पहल राजानुमा पोपिल्स (६७५ ई० पूर्व) आदि में जनवरी, फरवरी मास जोड़ कर चलाया था, लेकिन दिन तब भी ३५५ ही माने जाते थे। ५वीं शती ईसा के पूर्व वहां चान्द्र की जगह सौर वर्ष माना जाने लगा जो ३५५ दिन का ही होता था। इस सौर वर्ष और वास्तविक सौर वर्ष के अन्तर मिटाने के लिए वहां अनेक प्रयत्न किये गये। यूनानियों से अधिक दिन मानने की रीति लीगई। अन्तः में ४६ ई०पू० में जुलियस सीजर ने वर्ष का दिन-मान ३६५ निश्चित किया। जुलियस और अगस्टस के नाम पर जुलाई और अगस्त नाम रखे गये। (प्राचीन लिपि माला पृ० १९४ से) जनवरी, फरवरी, पागान के देवताओं के नाम पर रखे गये। जनवरी, जांनुष द्विमुख जानुष के नाम पर है, उसका एक मुंह दिसम्बर की ओर बन्द, दूसरा फरवरी की ओर खुला हुआ है। उसी प्रकार सितम्बर, अक्टोबर, नवम्बर, दिसम्बर ये ७वां, ८वां,

९वां और दशवां मास है, लेकिन व्यवहार में क्रमशः नवम्, दशम्, एकादश एवं द्वादश माने जाते हैं। अभी तक इसका सुधार नहीं हुआ किन्तु वैदिक पद्धति पूर्ण वैज्ञानिक हैं।

## दिवस

वैदिक काल में सोम, भौम, बुध, बृहस्पति आदि वारों का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु वेदों में इनका नाम अवश्य है। आज सारे विश्व में रविवार के वाद सोमवार होता है। इसका भी आदि गुरु वैदिक ऋषि है दिन की गणना की प्रणाली विश्व में यहीं से गई हैं।

मन्धाद्यः क्रमेण स्युः, चतुर्था दिवसाधिपाः।
वर्षाधिपतय स्तद्वद्, तृतीयाश्च प्रकीर्तिताः॥

शनि से नीचे चौथा ग्रह दिन का अधिपति होता है। प्रत्येक 'होरा' का एक अधिपति है, ऐसा चतुर्थ की गणना में शनिवार के बाद रविवार अवश्य होगा। सूर्य सिद्धान्त के मध्याधिकार ५६, ५७ श्लोक में इसकी उपपत्ति बताई गई है।

## ग्रहण

यत् त्वा सूर्यस्वर्भानुः तमसा विध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवन्यदीधयुः॥ ऋ० ५।४०।५

यहां तमसासुर राहु और केतु की ओर संकेत है। ये ग्रह नहीं अपितु छाया हैं, अथर्व वेद कहता है:—

शं नो ग्रहाश्चन्द्रमसा शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्यु धुमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मं तेजसः॥ अ० १९।९।१०

यहां पर ग्रहों से अतिरिक्त राहु और केतु माने जाते हैं।

## गणित

गणित का ज्ञान भी वेदों से प्राप्त हुआ—"इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्त्रं च सहस्त्रं चायुतं चायुतं नियुतं प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे अग्नइष्टकाः धेनवः सन्त्वमुत्रामुस्मिं लोके।" यजु० अ० १७।२

यहां पर इकाई, दहाई से गणना की गई है, तथा दाशमिकी प्रणाली बतायी गई। परार्द्ध संख्या का उल्लेख है। अभी तक अंग्रेजी में हजार से आगे संख्या नहीं है। मिलियन, विलियन्स आदि शब्दों से प्रकट किया जाता है।

"एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मे एकादश च एकादश च त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे।" यहां ३३ तक गिनती बताई गई हैं। क्यों ३३ तक गिनती एवं ३ से आरम्भ हैं, यह गणित का रहस्यमय विषय है। गणित शास्त्र में ३ का अंक पूर्ण तथा रेखागणित में त्रिकोण से ही सारे कोण बनाये जाते हैं। हम तीन से ही सारे विश्व को नाप सकते हैं—

इदं विष्णुः विचक्रमे,
त्रेधा निदधे पदम् । ऋग्वेद
चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च द्वादश च मे द्वादश
च मे षोडश च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । यजु० १८।२५

इस पर महर्षि दयानन्द लिखते हैं:—"द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ, चत्वारः एवं तिसृभिः त्रित्व संख्यायुक्ता षट् एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादि क्रियया अनेकविधांकैः गणितविद्या सिद्धयति । अन्यत् खल्वनेक चकाराणां पाठान्मनुष्यैः अनेकं विद्या गणित विद्याः सन्तीति वेधम् ।

सेयं गणित विद्या वेदांगे ज्योतिः शास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते । परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिष्शास्त्रस्थ गणितविद्याया मूलमित्ति विज्ञायते । इयम् संख्याभिश्च तेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते । ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थाः तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते । तदपि विधानम् अ, क, इत्यादि संकेतेन एतन् मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीति अवधेयम् ।"

अर्थात्—महर्षि लिखते हैं कि इन मन्त्रों के द्वारा बीजगणित तथा रेखागणित का भी ज्ञान होता है ।

गणित विषयक यह ज्ञान भारत का प्राचीनतम है । सर्वप्रथम भारत ने ही १ से १० तक लिखने की परिपाटी चलायी । गणित शास्त्र में शून्य (जीरो) का कितना महत्व है, यह भी वैदिक ऋषियों के उर्वरा मस्तिष्क की देन है । कहते हैं कि गणित का यह ज्ञान भारत से अरब गया, अरब से यूरोप में फैला । प्रसिद्ध इतिहासकार मौलाना सुलेमान नदवी ने लिखा है:—

"अरब वाले स्पष्ट कहते हैं कि उन्होंने १ से ६ तक के अंक लिखने का ढंग हिन्दुओं से सीखा, और इसीलिए अरब वाले अंको को हिन्दसा और इस प्रणाली को हिन्दी हिसाब कहते हैं । यह प्रणाली यूरोप वालों ने अरबों से सीखी थी । इसीलिए उनकी भाषाओं में इसका नाम अरब के अंक हैं । उस ठीक समय का पता तो नहीं चलता जिस समय अरबों ने यह ढंग हिन्दुओं से सीखा था, पर समझा यही जाता है कि सन् १५६ हिजरी में सिन्ध से जो पण्डित सिद्धान्त लेकर मैसूर के दरबार में बगदाद गया था, उसी ने अरबों को यह ढंग सिखलाया था ।

(अरब और भारत का सम्बन्ध पृ० १०७)

मौलाना नदवी नें उस पण्डित का नाम नहीं लिखा है, किन्तु योगी अरविन्द के शिष्य शिशिर कुमार मित्तर लिखते हैं:—

**The Famous astronomer Yavcharya was born of one such Brahmin famely, It was from these Brahmin that Arabs learnt the Scince of mathematics, Astronomy Algebra and Decimal notatim whioh as we have said first developed in India.**

**—Vision of India**

अर्थात्—प्रसिद्ध ज्योतिष विद्वान् यवनाचार्य ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुआ । इन्हीं ब्राह्मणों से अरबों ने गणित-विज्ञान,ज्योतिषशास्त्र, बीजगणित और दशमलव का ज्ञान प्राप्त किया,

जिसका प्रथम विकास भारत में हुआ। बीजगणित के विश्व-गुरु होने का श्रेय भारत को ही दिया जायेगा।

काजोरी के लेख के आधार पर श्री विनय कुमार ने लिखा है—

अंकगणित की तरह बीजगणित का ज्ञान भी संसार को बहुत कुछ भारतीयों की देन है। यह बात अब सर्वसम्मत है। भारत ने बीजगणित यूनानियों से सीखा यह ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों की बीजगणित पद्धति में अन्तर है—बीजगणित के प्रथम विद्वान् 'दियो फाउडस'(३६०ई०) को बीजगणित का प्रथम आभास भारत से ही मिला था। १०वीं सदी के विद्वान् डा० मौर्गन् ने लिखा है कि—'दियो फांडस' का बीजगणित-ज्ञान भारतीय विज्ञान के सामने नाममात्र है। उसी सदी के जर्मन गणितज्ञ हानकेल ने कहा है कि यदि युक्तिसिद्ध अकरणीगत करणीगत संख्याओं और राशियों के नाम अंकगणित के प्रयोग का नाम बीजगणित हो तो उसके आविष्कार का सारा श्रेय हिन्दुओं को है।

अब हम भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के लेख का उद्धरण देते हैं:—

हम भारतीयों को इस बात का गौरव होना चाहिए कि बीजगणित का प्रथम आचार्य आर्यभट्ट (प्रथम) आज से लगभग १६०० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र में पैदा हुआ था और उसने केवल २३ वर्ष की आयु में ज्योतिष सम्बन्धी आविष्कारों से समकालीन विज्ञान जगत् में हलचल मचादी थी। रेखागणित में यह देश सब देशों का गुरु था। इस सम्बन्ध में डा० राजेन्द्र प्रसाद लिखते हैं:—

"वैदिक काल में ही इसका पर्याप्त प्रचार था। वेदियां एवं कुण्ड बनाने में हमेशा इसकी जरूरत पड़ती थी। भारत की प्राचीनतम रेखागणित बौधायन और आपस्तम्ब के शुल्व सूत्रों में पाया जाता है। उनमें २ की सरल रेखात्मक आकृतियों का निर्माण क्षेत्रफलों के जोड़ और रूपान्तर तथा आकृतियों और आयतनों की क्षेत्रमिति के प्रकार दिये गये हैं। बौधायन शुल्व (१-४८) में लिखा हैं लम्बाई और चौड़ाई के आधार बने दोनों (वर्ग) क्षेत्र वर्ग से दुगुना होता है।

(संस्कृत का अध्ययन पृ० २८)

बौधायन का समय ईसा से ६ शताब्दि पूर्व हो सकता है। भारतीय गणित के इतिहास लेखक श्री विभूति भूषण दत्त का कहना है कि शतपथ ब्राह्मण में इस साध्य के प्रयोग का उदाहरण है। आखिर शतपथ ब्राह्मण तो यजुर्वेद का ही ब्राह्मण अर्थात् उसकी व्याख्या है। अतः यह निर्भ्रान्त सत्य है वेद ज्योतिशास्त्र का उद्गम है। जब से वेद का पठन-पाठन बन्द हुआ, हम भारतीय विश्व में तिरस्कृत हुए। अतः हमें पुनः वेदों की ओर लौटना चाहिये। अन्त में वेद-व्यास का वाक्य उद्धृत कर इस लेख को समाप्त कर रहे हैं—

**सर्वं विदुर्वेद विदो, वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।**
**वेदे निष्ठा सर्वस्य, यदस्ति च नास्ति च॥ शान्ति पर्व॥**

# वेदों में 'गणित विद्या' का विचार

डा० शिव पूजन सिंह कुशवाह

वेदों में 'गणित विद्या' का स्पष्ट वर्णन हैं। यथा—

**अक्षितोतिः सनेदिनं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् यस्मिन् बिश्वानि पौंस्या। ऋ० १।५।९**

"महर्षि दयानन्द जी सरस्वती" (सहस्रिणम्) सहस्राण्य संख्यातानि सुखानि यस्मिन्सन्ति तम्। तपः सहस्रभ्यां विनीनीं। अ० ५।२।१०२. अनेन सहस्रशब्दमिति=असंख्यात सुख देने वाले।

**इन्द्रवाजेषुनो ऽव सहस्र प्रधनेषु च। ऋ० १।७।४**

यहां सहस्र=सहस्रों का वाचक है।

**य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्। ऋ० १।७।८**

यहां 'एक' व 'पंच' संख्या वाचक हैं।

**अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्र सातमम्। ऋ० १। ९। ८**

यहां 'सहस्र' संख्यावाचक हैं।

**ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे। ऋ० १।१०।१**

यहां 'शत' सैंकड़ों के अर्थ में है।

**सहस्रं यस्य रातम उत वा सन्ति भूयसीः। ऋ० १।११।८**

यहां 'सहस्र' हजारों के अर्थ में है।

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती संस्कृतभाष्य में 'असंख्याताः' भाष्य करते हैं।

'सहस्र' नियत संख्या 'भूयसीः' सैंकड़ों सहस्र अनगिनत के अर्थ का द्योतक होकर उसके कितने ही गुण का बोध कराता हुआ गुणनविधि का प्रतिपादक है।

**इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। ऋ० १।१३।८**

यहां 'तिस्र' शब्द 'तीन' संख्या का वाचक है।

महर्षि दयानन्द जी ने 'त्रिप्रकारकाः' तीन प्रकार की भाष्य किया है।

**इन्द्रः सहस्रं दाव्नां वरुणः संख्यानाम्। क्रतुर्भवत्युक्थ्यः। ऋ० १।१७।५**

यहां 'सहस्र' शब्द संख्यावाचक हैं।

**ते नो रत्नानि धत्तनत्रिरासप्तानि सुन्वते। एकमेकं सुशस्तिभिः। ऋ० १।१७।५**

यहां 'सप्तानि' सात संख्या के वर्ग, एक=एक, ति=तीन संख्या के वाचक हैं।

**अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुविचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः।**
**ऋ० १।२२।१७**

यहां 'सप्त' सात के अर्थ में है।

**इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढ़मस्य पांसुरे । ऋ० १।२२।१७**

यहां 'त्रेधा' त्रिःप्रकारम् =तीन प्रकार का अर्थ संख्यावाचक है।

**इन्द्रवायू मनोजुवा विप्र हवन्त ऊतये । सहस्राक्षाधियस्पती । ऋ० १।२३।३**

यहां 'सहस्र' शब्द संख्यावाचक है ।

**शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु । ऋ० १।२४।८**

यहां 'शतं' सौ और 'सहस्र' हजार अर्थ में संख्यावाचक है ।

**वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत । वेदाय उपजायते । १।२५।८**

यहां 'द्वादश' १२ के अर्थ में संख्यावाचक हैं ।

**शुभ्रिषु सहस्रे षुतुवीमघं । ऋ० १।२८।३**

इसी प्रकार ऋ० १।२६, मन्त्र ४,५,६,७ में भी 'सहस्र' शब्द आया हैं जो संख्यावाचक है ।

**शतं वायः शुचीनां सहस्रं वा समाशिराम् । ऋ० १।३०।२**

इसमें 'शतं' सौ गुणा 'सहस्र' हजार गुणा, बोधक हैं ।

**सन्त्वा रामः शतिनः स सहस्रिणः मुवीरं यन्तिव्रत पामदाभ्य । ऋ० १।३१।१०**

इसमें 'शतिनः' सैंकड़ों, 'सहस्रिणः' हजारों अर्थ में है ।

ऋ० १।३४।१ में 'त्रि', १।३४।२ में 'त्रयः' १।३४।३ 'त्रि' १।३४।४, ५, ६, ७, ८, ९ में 'त्रि', १।३४।११ में 'एकादशैः' में ये संख्यावाचक शब्द हैं ।

**त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवमोपजग्मुषः । षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतोनि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् । ऋ० १।५३।८**

यहां द्वि, दश, षष्टिम्, सहस्रा, नवतिम्, नव, शब्द संख्यावाचक हैं ।

ऋ० १।१२६।१ में 'सहस्रम्', १।१२६।२ में 'शतम्', १।१२६।३ में 'दश, षष्टि, सहस्रम्', १।१२६।४ में चत्वारिंशत् (चालीस), दश सहस्र, १।१२६।५ में 'त्रीन्, अष्टौ, १।१२६।६ 'शता' में संख्यावाचक हैं ।

'नवतीर्नवः' (ऋ० १।८४।१३) 'नवनवतीः' निन्नानवे (महर्षि दयानन्दः) ।

**शतं वा यस्य दश साकमाद्य एकस्य श्रुष्टौ यद्ध चोदमाविथ । ऋ० २।१३।८**

यहां शतं, दश, शब्द संख्याचक हैं ।

**आद्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।**
**आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ।। ऋ० २।१८।४**

यहां द्वाभ्यां, चतुर्भिः, अष्टाभिः, दशभिः, संख्याचक हैं ।

ऋ० २।१८।६ में शतेन, अशीत्या (अस्सी), नवत्या (नव्वे), शतेन (सौ) अर्थ में संख्यावाचक है ।

ऋ० ३।२।१ में 'द्विता' (दो) के अर्थ में संख्यावाचक हैं ।

ऋ० ३।६।८ में 'त्रीन' (तीन),त्रिंशतम् (तीस) संख्यावाचक हैं ।

ऋ० ३।८।८ में 'त्रीणि' (तीन), शता (सैंकड़े), त्री (तीन), सहस्राणि (हजार), त्रिंशत् (तैंतींस), नव (नौ), में ये शब्द संख्यावाचक हैं ।

ऋ० ४।१।७ में 'त्रिः' शब्द संख्यावाचक हैं।

ऋ० ४।१।१६ में 'त्रिः' (तीन), सप्त (सात) संख्यावाचक हैं।

ऋ० ४।५।६ में 'सप्त' (सात) संख्यावाचक है।

ऋ० ४।५।३ में 'द्वि' (दो), 'सहस्र' शब्द संख्यावाचक हैं।

ऋ० ४।२६।७ में 'सहस्रम्' (हजार), अयुतम् (असंख्य), संख्यावाचक हैं।

ऋ० ४।३०।२१ में 'सहस्रा' (हजार), 'त्रिशतम्' (तीस) संख्यावाचक हैं।

ऋ० ४।३१।१० में 'सहस्रम्', 'शतम्' संख्यावाचक हैं।

ऋ० ४।३३।५ में 'द्वा' (दो), 'त्रीन्' (तीन), 'चतुरः' (चार), संख्यावाचक हैं।

ऋ० ४।३३।६ में 'चतुरः' (चार) संख्यावाचक है।

ऋ० ४।३३।७ में 'द्वादश' (बारह) संख्यावाचक है।

ऋ० ५।१।८ में 'सहस्र' संख्यावाचक है।

ऋ० ५।१८।५ में 'पंचाशतम्' (५००) संख्यावाचक है।

ऋ० ५।२७।१ में 'सहस्र', त्रै (तीन), ऋ० ५।२७।२ में 'शत' (सैंकड़ों), 'विंशतिम्' (बीस), 'त्र्य' (तीन), ऋ० ५।२७।३ में 'नवमम्' (नौ), 'त्र्य' (तीन) में ये शब्द संख्यावाचक हैं।

ऋ० ५।२८।६ में 'नवतिम्' (नब्बे), ऋ० ५।२८।७ में 'त्री' (तीन), 'शतानि' (सैंकड़ों), ऋ० ५।३६।६ में 'त्रिभिः' (तीन), शतैः (सैंकड़ों), ऋ० ६।१७।१० में 'सहस्र' (हजार), शत (सौ), ऋ० ६।१८।११ में 'सहस्रम्', ऋ० ६।२६।६ में 'षष्टिम्' (साठ) सहस्रा (हजार) शब्द संख्यावाचक हैं।

ऋ० ७।१८।१४ में 'षष्टिः' (साठ), षट् सहस्रा (छः हजार), शता (सैकड़े), शब्द संख्यावचक हैं।

ऋ० ८।१।५ में 'सहस्राय' (हजारों), अयुताय (दश हजार) शताय (सैंकड़ों), ऋ० ८।१।८ में 'दश', 'शतिन', 'सहस्रिणः', ऋ० ८।४।६ में 'सहस्रेण', ऋ० ८।६।४६ में 'शतं' (सौ), 'सहस्र' ऋ० ८।६।४७ में 'त्रीणि' (तीन), शतानि, दश सहस्रा में संख्यावाचक हैं।

**दशमह्यं पौतक्रतः सहस्रा दस्यवे वृकः। ऋ० ८।५६।२**

'दश सहस्रा=दश सहस्र संख्यावाचक है।

**शतं मे गर्दभानां शतमूर्णवतीनाम्। शतं दासां अति स्रजः। ऋ० ८।५६।३**

यहां 'शतम्' (सौ), संख्यावाचक है।

**युवां देवास्त्रय एकादशायः सत्यः सत्यस्य ददृशे पुरस्तात्। ऋ० ८।५७।२**

यहां 'त्रयः एकादशासः'=११×३=३३, संख्यावाचक हैं।

ऋ० ६।१३।५ में 'सहस्रिणं' शब्द संख्यावाचक है।

ऋ० १०।१३।३ में 'पञ्च', 'चतुः', ऋ० १०।१३।५ में 'सप्त', में संख्यावाचक है।

**त्रीणि शतात्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्चदेवा नव चासपर्यन्। ऋ० १०।५२।६**

**त्रीण शता त्री सहस्राणित्रिंशत् च**=३३३० (पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार)

" " " ३३३८ (पं० रामोविन्द त्रिवेदी, 'वेदानन्द शास्त्री' व पं० गौरीनाथ झा 'व्याकरण तीर्थ' पं० श्रीराम शर्मा आचार्य )

ऋ० १०।८४।७ में 'दश' शब्द संख्यावाचक हैं।

ऋ० १०।१०४।७ में 'सहस्र', ऋ० १०।१०४।८ में 'सप्त' (सात), 'नवतिनव' (८८) शब्द संख्यावाचक हैं।

**बीजगणित —**

**अग्न आ याहिवीतये गृणानोहव्य दातये। निहोता सत्सि बर्हिषि।**

ऋ० ६।१६।१०

"महर्षि दयानन्द जी सरस्वती"—(अग्न आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है।[1]

**रेखागणित —**

**कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदान माज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्।**
**छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥** ऋ० १०।१३०।३

इन मन्त्रों में 'प्रमा' और 'परिधि' आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है।[2]

"रघुनन्द शर्मा" साहित्य भूषण[3] व "आचार्य रामदेव जी बी० ए०"[4] भी इस मन्त्र में 'रेखागणित' मानते हैं।

"प्रो० शिव दत्त जी ज्ञानी एम० ए० लिखते हैं":—रेखागणित का प्रारम्भ भी वैदिक काल से होता है। इसके विकास का सम्बन्ध यज्ञों से है। यज्ञों की वेदियों व उनकी ईंटे निश्चित आकार की रहती थीं। इस प्रकार रेखागणित का विकास हुआ। यज्ञ वेदीआदि से सम्बन्धित मन्त्रों में प्रमा, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द (ऋ० १०।१०३।२।३) आदि रेखागणित के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है।[5]

**अभिस्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिवं प्रवणे सस्रुरूतयः।**
**इन्द्रो यद्वज्री धृषमाणो अन्धसाभिनद्वलस्य परिधीरिव त्रितः॥** ऋ० १।५२।५

"महर्षि दयानन्द जी सरस्वती"—(त्रितः) ऊपर, मध्य और टेढ़ी तीन रेखाओं से (परिधींरिव) सब प्रकार ऊपर की गोल-रेखा के समान बल को…।[6]

---

१—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका गणित विद्याविषयः।
२—वही।
३—'वैदिक सम्पत्ति' द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३७३।
४—'भारत वर्ष का इतिहास' (वैदिक तथा आर्ष पर्व) तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ७८।
५—'भारतीय संस्कृति' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३०८ से ३१० तक।
६—'ऋग्वेद भाष्यम् (प्रथम भागात्मकम्, अजमेर) पृष्ठ ७२५।

**'यजुर्वेद' में गणितविद्या--**

"एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मे एकादश मे एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पंचदश च मे पंचदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मे एक विंशतिश्च मे एक विंशतिश्च च मे त्रयोविँ शतिश्च मे त्रयोविँशतिश्च मे पंचविँशतिश्च मे पंचविँशतिश्च मे सप्तविँशतिश्च मे सप्तविँ शतिश्च मे नवविँशतिश्च मे नवविँशतिश्च मे एकत्रिँशच्च मे एकत्रिँशच्च मे त्रयस्त्रिँशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।" (यजु० अ० १८ मन्त्र २४)

"चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे अष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विँशतिश्च मे विँशतिश्च मे चतुर्विँशतिश्च मे चतुर्विँशतिश्च मे ऽष्टाविँशतिश्च मे ऽष्टा-विँशतिश्च मे द्वात्रिँशच्च मे द्वात्रिँशच्च मे षट्त्रिँशच्च मे षट्त्रिँशच्च मे चत्वारिँशच्च मे चत्वारिँशच्च मे चतुश्चत्वारिँशच्च मे चतुश्चत्वारिँशच्च मे ऽष्टाचत्वारिँशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।" (यजु० १८।२५)

"महर्षि दयानन्द जी सरस्वती" इन मन्त्रों पर ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, गणित विद्या विषय में लिखते हैं:—

"इन मन्त्रों से परमात्मा ने अंकबीज और रेखा भेद से तीन प्रकार की गणित विद्या प्रकाशित की है। (एका०) उनमें से प्रथम अंक जो संख्या (१), वह दो बार गणन से दो की वाचक होती है। जैसे—१+१=२। ऐसे ही एक के आगे एक, तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४) तथा तीन को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से तीन से गुणा करने से ३×३=९ हुए।"

"इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणा करने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सम्पूर्ण गणित विद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही छः-२ (६६), तथा सात-२ (७७), इत्यादि जान लेना चाहिए। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अंकों से अनेक प्रकार की गणित विद्या सिद्ध होती है। इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणित विद्या अवश्य जाननी चाहिए"।

"आचार्य रामदेव जी बी० ए०" लिखते हैं:—"अंकगणित—इस विद्या का भी मूल वेदों में देख कर आर्यों ने इसके नियम बनाये। यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २४ तथा २५ आदि में बीज-गणित की विद्या के वर्णन के साथ अंकगणित की विद्या भी वर्णित है। रेखागणित तथा ज्योतिष के कठिन नियमों के बनाने वाले प्राचीन आर्यों के लिए अंकगणित के नियमों का बतलाना कुछ कठिन नहीं था।"[1]

"श्री रघुवीर शरण दूबलिस" लिखते हैं:—"गणित विद्या का विधान-यजुर्वेद अध्याय १८ के मन्त्र २४-२५ में बड़े विस्तार के साथ गणित का वर्णन किया गया है।"[2]

---

१—"भारत वर्ष का इतिहास" (वैदिक तथा आर्ष पर्व), तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ८२-८३।
२—"भारत वर्ष का इतिहास" संशोधित संस्करण, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ८१।

"इमा मे ऽ अग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं च चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे ऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुस्मिंल्लोके।" (यजु० १७।२)

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती" इस मन्त्र के भाष्य के पूर्व में लिखते हैं:—"अब इष्ट का आदि के दृष्टान्त से गणित विशा का उपदेश किया है।"

"हे (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! जैसे (मे) मेरी (इमाः) ये (इष्टका) इष्ट सुख को सिद्ध करने-हारी यज्ञ की सामग्री (धेनवः) दुग्ध देने वाली गौओं के समान (सन्तु) होवें आपके लिए भी वैसी हों, जो (एका) एक (च) दश गुणा (दश) दश (च) दश गुणा (शतम्)सौ (च) और (शतम्) सौ (च) दश गुणा (सहस्रम्) हजार (च) और (सहस्रम्) हजार (च) दश गुणा (अयुतम्) दश हजार (च) और (अयुतम् दश हजार (च दश गुणा (नियुतम्) लाख (च) दश गुणा (प्रयुतम्) दश लाख (च) इसका दश गुणा क्रोड़ इसका दश गुणा (अर्बुदम्) दश करोड़ इसका द० (न्युर्बुदम्) अर्व (च) इसका दश गुणा खर्व इसका दश गुणा निखर्व इसका दश गुणा महापद्म इसका दश गुणा शंकु इसका दश गुणा (समुद्रः) समुद्र (च) इसका दश गुणा (मध्यम्) मध्य (च) इसका दश गुणा (अन्तः) अन्त और (च) इसका दश गुणा (परार्द्धश्च) परार्द्ध (एताः) मे (मे) मेरी (अग्ने) हे विद्वान् ! (इष्टकाः) वेदी की ईंटे (धेनवः) गौओं के तुल्य (अमुस्मिन्) परोक्ष (लोके) देखने योग्य (अमुत्र) अगले जन्म में (सन्तु) हों वैसा प्रयत्न कीजिये।"[1]

"पं० रघुनन्द शर्मा, साहित्य भूषण" इस मन्त्र पर लिखते हैं:—"इसमें इकाई से लेकर परार्द्ध तक की संख्या बताई गई है। इस मन्त्र में लम्बी संख्या का वर्णन तो है ही, पर इसमें एक बात यह भी कही गई है कि 'इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्तु' अर्थात् में मेरी इंटें यज्ञ में गौ के तुल्य लाभदायक है। यहां यह संख्या ईंटों की गिनती के लिए है। ईंटें हवन कुण्ड के लिए बनाई जाती थीं, इसलिए उनको धेनुरूप होकर फल देने वाली कहा गया है। ये ईंटें नपी तुली होती थीं, इसलिए गणित के द्वारा यह सूचित कर दिया जाता था कि अमुक प्रकार के इतने बड़े कुण्ड के लिए ये इतनी ईंटें लगेंगी। 'अग्न इष्टका' कही गई है जिनका मतलब यज्ञ की ईंटें ही हैं।"[2]

"पौराणिक पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, वेदान्त शास्त्री" लिखते हैं:—"ज्योतिष विद्या के अन्तर्गत अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित आदि को आर्यों ने माना है।......तैत्तिरीय संहिता, में त्रायणी संहिता, काठक संहिता आदि में शत्तोत्तरगणना का उल्लेख है।...(यजुर्वेद (१७।२) में १ पर १२ शून्य देकर दस खरब तक की संख्या का उल्लेख है।......"[3]

"प्रो० शिवदत्तजी ज्ञानी एम०ए०" लिखते हैं:—अंकगणित का प्रारम्भ वैदिककाल से ही होता है। उस समय छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी। यजुर्वेद (१७।२) में इन संख्याओं का उल्लेख है—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त व परार्ध। इस (यजु० १८।२५) में दो और चार के पहाड़े का भी स्पष्ट

---

१—यजुर्वेद भाष्यम् (द्वितीयो भागः), तृतीयावृति अजमेर, पृष्ठ ५२४-५२५।

२—वैदिक सम्पत्ति (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ३७३।

३—वैदिक साहित्य (प्रथम संस्करण, वाराणसी) पृष्ठ ३२०-३२१।

उल्लेख है। इससे स्पष्ट हैं कि जोड़, घटाना, गुणन, भाजन आदि अंकगणित के मौलिक तत्व वैदिक काल में पूर्णतया ज्ञात थे।"[१]

**यजुर्वेद में रेखागणित—**

**इयं वेदि: परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि: ।**
**अयँ सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥**

यजु० २३।६२

"महर्षि दयानन्द जी सरस्वती" ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका 'गणित विद्या विषय:' में इस पर लिखते हैं:—(इयं वेदि:०) अभि प्रा०—

इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया गया है क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का सभी उपदेश है। जैसे—तिकोन, चौकोन, से न पक्षी का आकार और गोल आदि जो वेदि का आकार बनाया जाता है उसे आर्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था। 'परो अन्तः पृ०' पृथिवी का जो चारों ओर का घेरा है, उसको परिधि और 'यज्ञो०' ऊपर से अन्त तक मिलाने वाली जो पृथिवी की रेखा है उसको व्यास कहते हैं। चन्द्र आदि भी इसी प्रकार परिधि आदि से युक्त हैं। 'वृष्णो अश्व०' वृष्टि करने वाले सूर्य, अग्नि आदि वेग के हेतु वायु की भी परिधि आदि इसी प्रकार है। 'रेत:' शक्ति उत्पन्न करने के लिए इनका जो औषधि के रूप से वीर्य है वह भी सर्वत्र विस्तृत है। 'ब्रह्मायं वा०' जो ब्रह्म है वह वाणी की 'परमं व्योम' परिधि रूप से अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान है। इसी प्रकार से इस मन्त्र से आदि मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिए और इसी रीति से तिर्यक् तथा विषुवत् आदि रेखायें भी निकलती हैं।

**सामवेद में गणित विद्या——**

**अग्न आ याहि वीतये।** सामवेद प्र० १। खं० १। मं० १

यह मन्त्र ऋ० ६।१६।१० में भी आया है जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।

**अथर्ववेद में गणित विद्या——**

**षडाहुः शीतान् षडुमास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोतिरिक्तः ।**
**सप्त सुपर्णाः कनयो निषेदुः सप्तच्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥**

अथर्ववेद काण्ड ८, सूक्त ९, मंत्र १७

इस मन्त्र में 'षट्' (छ:) व 'सप्त' (सात) संख्यावाचक शब्द हैं। यहां छः ऋतुओं की चर्चा है।

**अहो रात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।**

अथर्व० का० १३, सू० ३, मन्त्र ८

यहां 'त्रिंशद' (तीस), 'त्रयोदशं' (तेरह) संख्यावाचक हैं।

**द्वादश प्रधयश्चक्र मेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।**
**तत्राहतास्त्रीणि शतानि शंकवः षष्टिश्च खीला अविचाचलाये ॥**

अथर्व० का० १०, सू० ८, मं० ४

---

१—भारतीय संस्कृति, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३०७।

यहां 'एकं' (एक:) 'त्रीणि' (तीन), 'द्वादश' (बारह), 'त्रिशताषष्टि:' (तीन सौ साठं), शब्द संख्यावाचक है।

इस प्रकार स्थान-स्थान पर गिनतियों का उपयोग हुआ है:—

'एकादश' (अथर्व १६।२७।११, १६।२३।८, ५।१६।११)।

'एकोनविंशति' (अथर्व १६।२३।१६)। 'एकशतम्' (अथर्व ३।६।६, ५।१८।१२)। 'द्वितीय:' (अथर्व १।५।३, १५।१५।४), 'द्वादश' (अथर्व ४।११।११, १०।८।४)। 'त्रिशत' (अथर्व ५।१५।३, ६।३१।३)। 'त्रयोदश' (अथर्व १६।२३।१०), 'चतस्र:' (अथर्व २।६।१, ५।५।३), 'चत्वारि' (अथर्व ८।२।२१, ६।१५।२७), 'चतुर्दश' (अथर्व १६।२३।११), 'चत्वारिंशत्' (अथर्व ५।१५।४, १६।४७।४), 'पंच' (अथर्व ५।१५।५), 'पंचदश' (अथर्व ११।१।१६), 'पंचाशत' (अथर्व ५।१५।५, ६।२५।१, १६।४७।४), 'षोडश' (अथर्व १६।२३।१३), 'सप्तदश' (अथर्व १६।२३।१४),'अष्टादश' (अथर्व १६।२३।१५), 'दशम' (अथर्व १३।५।५), 'शतानि' (अथर्व २०।१२७।२), 'सहस्रम्' (अथर्व १।१०।२, २।६।३), 'अयुतम्' (अथर्व १६।५१।१, १।८।२।२१, १०।८।२४), 'अर्बुदस्म' (अथर्व २०।६१।१२)।

पाश्चात्य विद्वानों के मत:—जिस प्रकार भारतीय विद्वान् तो इस बात से सहमत हैं कि वेदों में गणित विद्या का वर्णनहै उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान् भी इस सिद्धांत को मानतेहैं। यथा—

सर डब्ल्यू. डब्ल्यू. हण्टर महोदय बतलाते हैं:—"हिन्दुओं ने अंकगणित और बीजगणित में स्वतन्त्रतापूर्वक बहुत ऊंची योग्यता प्राप्त कर ली थी।[1]

प्रो० मेक्डानल लिखते हैं:—"विज्ञान में भी भारत वर्ष का यूरोप बहुत ऋणी है। प्रथम सबसे बड़ी बात यह है कि भारतवासियों ने गणित के अंकों का आविष्कार किया जिनका प्रयोग समस्त संसार में हो रहा है। इन अंकों पर निर्भर रहने वाले दशक सिद्धान्त का गणित ही नहीं परन्तु सभ्यता के उत्कर्ष पर जो प्रभाव पड़ा वह अमूल्य है।"[2]

श्री केजोरी भी बतलाते हैं:—"यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय गणित ने हमारे वर्तमान विज्ञान में किस हद तक प्रवेश किया है। आधुनिक बीजगणित और अंकगणित दोनों ही आत्मा तथा रूप में भारतीय हैं, यूनान के नहीं। सबसे अधिक उन पूर्णगणित चिन्हों को देखिए वे भारतीय हैं।[3]

श्री डी० मार्गन भी स्वीकार करते हैं कि:—"हिन्दुओं का अंकगणित यूनान के किसी भी अंकगणित से बहुत बड़ा है। जिसे आजकल हम व्यवहृत करते हैं वह भारतीय अंकगणित है।[4]

श्रीमती मेनिंग के शब्दों में:—"कोई भी निबन्ध, पत्रिका और कोष देखिये, हमारी 'गिन्तियां' हिन्दुओं की हैं, अरब लोग तो उन्हें भारत में लाने वाले एक मध्यस्थ थे।[5]

---

१—महान् भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०७।

२—वही, पृष्ठ ३२७ तथा History of Sanckrit Literature,

३—वही, पृष्ठ ३२७-३२८ तुलना करो। History of Mathematics.

४—वही, पृष्ठ ३२८, तुलना करो डा० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा कृत 'मध्यकालीन भारतीय' पृष्ठ ८६, (सन् १६४५ ई० इलाहाबाद संस्करण)।

५—महान् भारत, पृष्ठ ३२६, तुलना करो। Ancient and Medeaval India. Vol. I. PP. 374;

पर्यटक श्री अलबेरूनी भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं:—"जिन अंकों को हम काम में लाते हैं वे हिन्दूओं के सबसे सुन्दर अंकों से लिए गए हैं।"[1]

श्री विल्सन कहते हैं कि:—"यह हिन्दुओं के गणित विज्ञान की प्राचीनता, मौलिक और विकास का अकाट्य उत्तर है।"[2]

सर मोनियर विलियम्स का भी कथन है:—"बीजगणित और रेखागणित के आविष्कार और ज्योतिष में उनके प्रयोग का श्रेय हिन्दुओं को है।"[3]

स्वीडिश कौंट जर्नास्टजनी ने अकबर कालीन अब्बुल फजल की 'आइने अकबरी' से यह पता लगाया है कि:—"जब अरब और यूनान वालों को कुछ भी पता नहीं था। उस समय भी हिन्दू परिधि 'वृत' अष्टभुज जत्र (Square root) आदि भी रेखागणित सम्बन्धी बातों का पूर्ण ज्ञान था।"[4]

प्रो० वेल्स कहते हैं:—"रेखागणित भारत में, सूर्य सिद्धान्त के निर्माण से भी लोग बहुत पहले जानते थे।"[5]

श्री एल्फिन्टन बतलाते हैं:—"सूर्य सिद्धान्त में 'त्रिकोणमिति' (Trigonometry) का वर्णन है और साथ ही (Theorem) का भी है समावेश ! इनका अनुसन्धान यूरोप में विगत दो शताब्दी पूर्व तक नहीं हो सका था।"[6]

डा० थी बोट ने दिखाया है कि:—"रेखागणित के अन्तर्गत प्रथम पुस्तकें ४७वें सिद्धान्त को जिसे लोग पैथागोरस द्वारा प्रतिपादित समझते हैं। हिन्दुओं ने उसे कम से कम दो शताब्दी पूर्व सिद्ध किया था।"[7]

पादरी पीटर पर्सिवल बतलाते हैं:—"हिन्दू दिमागों ने बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति आदि विज्ञान की शाखाओं में महान्तम योग्यता दिखलाई थी। उन्होंने अत्यन्त प्राचीनकाल में ही काफी उन्नति करली थी। जैसा कि उनके इस विषय के ग्रन्थों को विशेषज्ञ विद्वानों से ऊंचा ठहराया है।"[8]

---

१—महान् भारत पृष्ठ ३२९, तुलना करो। Alberunis India Vol. I. PP. 174 to 177.
२—महान् भारत, पृष्ठ ३३१, तुलना करो। Mill's Iadia, Vol. II, PP. 151.
३—महान् भारत, पृष्ठ ३३१, तुलना करो। Indian Wisdom. PP. 185.
४—महान् भारत पृष्ठ ३३३ तुलना करो। Theogony of the Hindus. PP. 37.
५—महान् भारत, पृष्ठ ३३२ तुलना करो। Mill's India. Vol. 11, PP. 150.
६—महान् भारत, पृष्ठ ३३२-३३३ तुलना करो। History ot India. PP. 129.
७—महान् भारत, पृष्ठ ३३३ तुलना करो। Hindu Chemistry Vol.1. Chapt 11.
८—महान् भारत, पृष्ठ ३३४ तुलना करो। The land of the Vedas. PP. 47.

# वेदों के देवता तथा ऋषि

श्रीमती सुशीला देवी विद्यालंकृता

**यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवत ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणु वर्च्छति गर्तं वा पद्यते, प्र वा मीयते पापीयान् भवति तस्मादेते मन्त्रे विद्यात्।**

अर्थात् जो मनुष्य वेद मन्त्रों के ऋषि, छन्द, देवता तथा उस मन्त्र पर किये गये ब्राह्मण के अर्थ को न जानकर यज्ञ करता, करवाता है वह पत्र पुष्प से रहित वृक्ष से फल की आशा करता है। गड्ढे में गिरता है। अर्थ का अनर्थ कर बैठता है। प्रभु के ज्ञान की हिंसा करता है। स्वयं भी हिंसित होता है। वह पापी है, उसका पढ़ा-पढ़ाया यातयाम है। व्यर्थ है। अनुपयोगी है। अतः ऋषि और देवता के सम्बन्ध में ज्ञान का सम्पादन करना अत्यन्त ही आवश्यक है।

ऋषि कौन ? इस पर विचार करते हुये यास्क मुनि लिखते हैं:—

**ऋषिः कस्मात् ? दर्शनात्। तद्यदेनांस्तपस्य मानान् ब्रह्म स्वयंभू रभ्यानर्षत्तदृषीणां ऋषित्वमिति विज्ञायते।**

अर्थात् मन्त्र द्रष्टा को ऋषि कहते हैं। जो मन्त्र देखता है या जिसमें दर्शन की योग्यता आ गई है। वह ऋषि है। तपस्या करते हुए, क्योंकि उन्होंने वेद मन्त्रों का दर्शन किया इसलिये वे ऋषि कहलाये।

ऋषि के सम्बन्ध में अनेकों मत हैं:—

१—पाश्चात्य पद्धति के विचारकों का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि जिस मन्त्र के ऊपर जिस ऋषि का नाम अंकित है वही उस मन्त्र का कर्त्ता है। इस सम्बन्ध में वे लोग अनेक युक्तियां पेश करते हैं।

क—भाषा विज्ञान से ज्ञात होता है कि वेदों के भिन्न-भिन्न प्रकरण एक समय में नहीं बने। मन्त्रों के अनुसार ही ऋषियों का नाम उन पर निर्दिष्ट है इसलिये ऋषि ही उन मन्त्रों के कर्त्ता हैं।

ख—वेद स्वयं कहता है कि ऋषि मेरे कर्त्ता हैं। ऋग्वेद के ९।११४।२ में है:—

**ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः।**

**सोमं राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥**

हे मन्त्रकृत् कश्यप ऋषे ! तू मन्त्रकर्त्ता ऋषियों की स्तुति द्वारा वेदवाणी की वृद्धि कर।

ग—**अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवान् एह वक्षति।**

इसमें पूर्व और नूतन शब्द सापेक्ष्य हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषि अलग-अलग समयों में हुये। मन्त्र रचना भी उन्होंने ही पृथक्-पृथक् समयों में की।

घ—**ओमिन्द्र यस्ते नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत्।**

**चिकित्वन् मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम्॥**

हे इन्द्र, तुझे प्रोत्साहित व प्रसन्न करने के लिये ऋषि ने मन से प्राचीन ज्ञान के आधार पर नयी वाणी को उत्पन्न किया ।

इन पाश्चात्य विचारकों के इस भ्रम का कारण यह है कि वे वेदों को अच्छी तरह समझ नहीं पाये । उन्होंने अधूरे ज्ञान के आधार पर वेदों का अर्थ करने का प्रयास किया । वर्तमान भाषा विज्ञान का सिद्धान्त है कि साहित्य अपने समय के आचार व्यवहार आदि का प्रतिबिम्ब होता है । तथा दूसरा कारण यह है कि वर्तमान भाषा विज्ञान अपौरुषेय भाषा और ज्ञान की कल्पना ही नहीं कर सकता । वेदों में भाषा विज्ञान के नियम लागू नहीं हो सकते । वेदों में केवल तात्कालिक बातों का वर्णन नहीं हो सकता । वेद तो भूत, वर्तमान, भविष्यत्, सार्वकालिक, सार्वभौम, सार्वदेशिक है । सायणाचार्य भी लिखते हैः—

**चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम् ।**

अर्थात् वेद भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट सभी प्रकार के अर्थों को प्रकाशित करता है । इसलिये वेद में आये हुये पूर्व, नूतन शब्दों से कोई चिन्ता की बात नहीं । पूर्व और नूतन अर्थों के सम्बन्ध में यास्क मुनि लिखते हैंः—

**मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिः भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कं ऋषिं प्रायच्छन् ।**

अर्थात् पूर्वकाल में ऋषियों के उठ जाने पर मनुष्य देवों से कहने लगे कि अब हमारा कौन ऋषि होगा ? हमें वेदार्थ दर्शन कौन करायेगा ? तब उन देवों ने मनुष्यों को तर्क, ऋषि प्रदान किया । पूर्व ऋषि तो वे हुए जिन्होंने मन्त्र दर्शन किया । नूतन ऋषि हुआ 'तर्क' । अतः पूर्व और नूतन शब्दों से ऋषि वेद मन्त्रों के कर्त्ता हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता । यदि पूर्व और नूतन शब्द का अर्थ पूर्वकालोत्पन्न और परकालोत्पन्न भी मान लें तो भी कोई दोष नहीं, क्योंकि जिन्होंने आदि सृष्टि में साक्षात् भगवान् से मन्त्र दर्शन किया वे अग्नि, वायु, आदित्य अंगिरः पूर्व ऋषि हुये तथा बाद में जिन्होंने मन्त्रों के अर्थों का दर्शन किया वे नूतन ऋषि हुये । मधुच्छन्दा, विश्वामित्र, यमी, गृत्समद आदि हुये नूतन ऋषि । इस युग के महान् वेदार्थ द्रष्टा ऋषि दयानन्द भी नूतन ऋषि हैं । 'मीमांसा' का नियम है कि 'सभी मन्त्र विधिपरक हैं' । इस सिद्धान्त के आधार पर 'अग्निः पूर्वेभि रिषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवान् एह वक्षति' के मन्त्र का विधिपरक अर्थ हुआ कि सब पूर्व और नूतन ऋषियों का अग्नि स्वरूप प्रभु की स्तुति करनी चाहिये । वही देवों को, दिव्य भावनाओं को हमारे अन्तर्हृदय में विकसित करेगा ।

अतः पूर्व और नूतन शब्दों से ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता सिद्ध नहीं होते ।

१—फिर गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि सम्पात ऋचाओं के प्रथम द्रष्टा विश्वमित्र थे । अब वामदेव हैं । यदि मन्त्रों के कर्त्ता ऋषि होते तो दो भिन्न समयों में एक ही सूक्त की रचना दो ऋषि कैसे कर सकते हैं ।

२—जिन सूक्तों का ऋषि नाभानेदिष्ट है वे सूक्त उसके पिता मनु के पास पहिले से ही मौजूद थे । अतः ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता नहीं ।

३—अनेक सूक्तों के एक से अधिक ऋषि हैं । ऋग्वेद १।१०५ के त्रित और कुत्स ऋषि हैं । ऋग्वेद २।२९ के गार्त्समद और गृत्समद ऋषि हैं ।

४—एक ही मन्त्र के कई-कई ऋषि हैं। ऋग्वेद ९।६६ एक ही सूक्त के एक सौ द्रष्टा ऋषि लिखे हैं। 'वैदिक सम्पत्ति' पृष्ठ १२९ एतत् कवयः सूक्तमपश्यत्। ऐतरय ब्राह्मण ३।१९

५—मन्त्रकृत शब्द का अर्थ भी मन्त्रद्रष्टा ही है। आचार्य सायण लिखते हैं 'यद्यप्यपौरुषेये वेदे मन्त्र कर्त्तारो न सन्ति तथापि कल्पादौ ईश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्र कृदिति शब्देनोच्यन्ते। करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः। अर्थात् मन्त्रार्थों के द्रष्टा ही ऋषि कहाते हैं। मन्त्रकृत में करोति धातु देखने अर्थ में है। अतः सिद्ध हो गया ऋषि का अर्थ है मन्त्रद्रष्टा।

ऋषि दयानन्द भी ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में स्पष्ट लिखते हैं कि:—

**वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्**
**विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तद् ऋषेः नामोल्लेखनमस्ति।**

जिस-जिस मन्त्र के अर्थ को जिस-जिस ऋषि ने यथावत् विदित किया उस-उस मन्त्र के ऊपर उस-उस ऋषि का नामोल्लेखन कर दिया गया है। जिससे उस-उस मन्त्र के साथ-साथ सब मनुष्य उस ऋषि के नाम का भी स्मरण कृतज्ञतापूर्वक करते रहे। मेरी अकिंचन सम्मति में इसका एक और अर्थ भी हो सकता है। मन्त्र को देखने का अधिकारी कौन है? यदि किसी मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है तो समझना चाहिये कि 'मधौ ब्रह्मणि छन्दः यस्यासौ' जिसने अपनी सब इच्छाओं को प्रभु के अर्पण कर दिया है वही व्यक्ति इस मन्त्र का ऋषि हो सकता है। इस प्रकार स्वाध्याय-शील व्यक्ति यदि ऋषि शब्द की तह तक जाये तो उन्हें वेदों के अर्थ समझने में भी सहायता मिल सकेगी।

अब प्रश्न यह है कि देवता का क्या अर्थ है? देवता के सम्बन्ध में हमारे देश में जितने भ्रम तथा मिथ्या ज्ञान हैं उतने अन्य किसी के सम्बन्ध में नहीं। हमने तो हर पत्थर पर सिन्दूर लगाकर देवता की सृष्टि कर डाली। महर्षि स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ६१ पर लिखा है? यज्ञे देवता शब्देन किं गृह्यते? यज्ञ में देवता शब्द से क्या अभिप्राय है? उत्तर दिया है। याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि।

**ओमग्नि देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवा रुद्रा देवताः-आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।** यजुर्वेद अ० १४, मं० २०

अर्थात् जो वेद में कहें गये हैं देवता शब्द से उन्हीं का ग्रहण होता है।

'वृहद्देवता' में देवता का लक्षण करते हुये लिखते हैं:—

**अर्थमिच्छन् ऋषिर्देवं यं यमाहार्यमस्त्विति।**
**प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मन्त्रस्तद्देव सः॥**

अर्थात् जिस चीज की मन्त्र में भक्ति से ऋषि स्तुति करता है उसका वही देवता है। श्रीयुत उव्वट कहते हैं। 'अथ देवता मन्त्रवाक्याभिधेया इति। मन्त्रस्य वाच्यं देवतेति।'

मन्त्र का वाच्य या अभिधेय विषय ही देवता है। ऋग्भाष्य भूमिका के प्रारम्भ में आचार्य सायण लिखते हैं दीव्यतीतिति देवः। मन्त्रेण द्योत्यते इत्यर्थोऽस्मिन् सूक्ते स्तूयमानत्वादग्निर्देवता। अर्थात मन्त्र में जिस विषय का प्रकाश है स्तुति है वही उस मन्त्र का देवता है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में वेद विषय विचार प्रकरण में ऋषि दयानन्द लिखते हैं:—

**कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादि देवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन् मन्त्रे चाग्नि शब्दार्थ प्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्नि देवतो गृह्यते । एवमेव वातः, सूर्यः, चन्द्रमा, वसवो, रुद्रा, आदित्या, मरुतो, विश्वे देवा बृहस्पतिरिन्द्रा वरुणश्चेत्येतत् छन्दयुक्ता मन्त्रा देवता शब्देन गृह्यन्ते । तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात् परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।**

कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ क्रिया में मुख्यतः देवता शब्द से वेद मन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि जो गायत्री आदि छन्द हैं वे ही देवता कहाते हैं। इन वेद मन्त्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश होता है। जिन-जिन मन्त्रों में अग्नि, इन्द्र वरुण, विष्णु आदि शब्द हैं, उन-उन मन्त्रों का और उन-उन शब्दों के अर्थों का अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि देवता नामों से ग्रहण होता है। मन्त्रों को देवता इसलिये कहते हैं क्योंकि उन्हीं से सब अर्थों का प्रकाश होता है।

श्री यास्काचार्य भी निरुक्त में लिखते हैं:—

**कर्म सम्पत्तिमन्त्रो वेदे, निरुक्त अध्याय १ खण्ड २ । अथातो दैवतम् । तद्यानि नामानि प्राधान्य स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा । यत्कामऋषि यस्यां देवतायामर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधः ऋचः । परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च निरुक्त अ० ७, खण्ड १ ।**

अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति वेदों के द्वारा सिद्ध होती है इसलिये वेद मन्त्रों को देवता कहते हैं। देवता उसको कहते हैं जिनके गुणों का कथन किया जाये। जो-जो संज्ञा जिन-जिन मन्त्रों में जिस-जिम अर्थ की होती है उन-उन मन्त्रों का वही देवता होता है। जैसे:—

**अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे देवो । आसादयादिह ।**

यजुः अ० २२ मं० १७

इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिन्ह है। यहां इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिए। ऐसे ही जहां-जहां मन्त्रों में जिस-जिस शब्द का उल्लेख है वहां-वहां उस-उस मन्त्र को ही देवता समझ लेना चाहिये। मन्त्र तीन प्रकार के हैं:—

१—परोक्षकृताः ।
२—प्रत्यक्ष कृताः ।
३—आध्यात्मिक्यश्च ।

परोक्षकृत अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, प्रत्यक्षकृत अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के, आध्यात्मिक अर्थात् जीव, ईश्वर और सब पदार्थों के कार्य कारण के प्रतिपादन करने वाले। त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं, इसी कारण से इनका नाम देवता है। जिन-जिन मन्त्रों में विशेष अर्थ दिखाई नहीं पड़ता, वहां-वहां यज्ञ आदि को देवता मानना चाहिये। यज्ञ

भी तीन प्रकार के हैं:—अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त, २—प्रकृति से लेकर पृथ्वीपर्यन्त, जगत की रचना, रूप तथा शिल्प विद्या, ३—सत्संग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है। यही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहिये। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ६८ और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं, उनका प्रजापति अर्थात् ईश्वर ही देवता है। जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं उनका मनुष्य देवता है। इसमें भी बहुत प्रकार के विकल्प हैं। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि, कहीं आचार्य देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञों में मन्त्र और परमेश्वर को ही देवता मानते हैं।

निरुक्तकार यास्क लिखते हैं कि देवता का परिज्ञान बहुत कठिन है। शाकपूणि ने संकल्प किया कि मैं तो सब देवताओं को जानता हूं।

**तस्मै देवतोभय लिंगा प्रादुर्बभुव। तान्न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वा।**

शाकपूणि के सामने एक ऐसी देवता प्रादुर्भूत हुई जो कि उभयलिंगा थी। दो रूपों वाली थी। शाकपूणि उसको न समझ सका। उसने उस देवता से पूछा कि मैं तुम्हें जानना चाहता हूं कि तुम्हारा क्या स्वरूप है? उसने शाकपूणि को निम्नलिखित ऋचा बतलाई और कहा कि यह ऋचा मुझ देवतावाली है। इससे मेरा स्वरूप ज्ञात हो जायेगा। ऋचा निम्नलिखित है:—

**अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृतामिमातिमायुंध्वसनावधिश्रिता। सा चित्तिभिर्नं हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति बव्रिमोहत। १।१६४।२९**

इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा: है। मन्त्रों का अर्थ करना सरल कार्य नहीं। कहीं-कहीं वेद मन्त्र ऐसे कठिन आ जाते हैं कि उनका रहस्य समझने में बड़े-बड़े पण्डित भी चकरा जाते हैं। यदि हम वेद मन्त्रों के देवताओं का सही-सही ज्ञान हो जाये तो वेदों का अर्थ सरलता से किया जा सकता है। परन्तु देवता का परिज्ञान ही सबसे कठिन है।

उक्त ऋचा का आशय है कि विद्युत् के दो रूप हैं। एक स्तनयित्नुरूप जो गर्जता है। दूसरा विद्युत् रूप जो प्रकाश करता है। मेघ में रहने वाली विद्युत् क्रमशः अपने दोनों रूपों को दर्शाकर और वृष्टि करके अपने रूप को पुनः छिपा लेती है। अन्तर्धान हो जाती है। इस प्रकार यदि हम विद्युत् के दोनों रूपों को समझ लें तभी वेदार्थ का ज्ञान हो सकता है।

**देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा।**

दान देने से, प्रकाश करने से, सत्योपदेश से तथा द्युलोक में स्थित होने से देव कहाते हैं। इनमें से सबसे बड़ा दानदाता तो वह परमेश्वर ही है जिसने हमें सारे पदार्थ दे रखे हैं। सांसारिक मनुष्य भी दानशील होने से देव कहाते हैं। प्रकाश करने से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि लोक भी देव कहाते हैं। द्योतन—माता-पिता, आचार्य, अतिथि भी सत्योपदेशादि करने तथा पालन-पोषण आदि करने से देवता कहाते हैं। परन्तु सबसे बड़ा दानशील, सब प्रकाशों का प्रकाश करने वाला वह परमात्मा सब देवों का परम देव है। आंख, कान, नाक, मुंह, मन, त्वचा आदि इन्द्रियां भी देव कहाती हैं क्योंकि इनसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य आदि का प्रकाश होता है। सारांश यह कि संसार की प्रत्येक वह वस्तु देव कही जा सकती है जो दान, दीपन और द्योतन गुण युक्त हो। संसार में भी ३३ देवता प्रसिद्ध हैं। संसार के समस्त पदार्थ भी 'अस्ति भांति

प्रियंचेति' के सिद्धान्त के अनुसार देवता कहे जा सकते हैं। पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी ने देवताओं के बड़े सुन्दर वैज्ञानिक विभाग किये हैं:—

१—समय, २—स्थान, ३—शक्ति, ४—आत्मा, ५—मन के इच्छित कार्य, ६—जीवन सम्बन्धी मन के इच्छित कार्य। उनका कथन है कि मनुष्य संसार में जिन पदार्थों से ज्ञान प्राप्त कर सकता है वे सब इन्हीं ६ विभागों के अन्दर आ जाते हैं। आइये जरा हम भी इन ६ देवों का ३३ देवताओं के साथ मिलान करें:—

| वैज्ञानिक विभाग | वैदिक देवता |
|---|---|
| १—समय | १२ आदित्य (वर्ष के १२ महीने) |
| २—स्थान | ८ वसु (सूर्य चन्द्रादि) लोक-लोकान्तर |
| ३—शक्ति | १० रुद्र (दस प्राण) |
| ४—आत्मा | ११ वां रुद्र |
| ५ - मन के विचार पूर्वक कार्य | १-यज्ञ (प्रजापति) |
| ६—शरीर के जीवनसम्बन्धी कार्य | १-विद्युत् |
| ६—वैज्ञानिक विभाग | ३३ देवता |

इन देवताओं का सूक्ष्म रूप में विवेचन करें तो ११ वां रुद्र आत्मा है ईश्वर+जीव, आत्मा+परमात्मा शेष ३२ देवता प्रकृति और उसके गुणों के ही स्थानापन्न हैं। सारांश यह है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति यह तीनों ही देवता हैं। इन्हीं देवों को यास्क मुनि ने भी तीन भागों में विभक्त किया है:—

१—अग्निः पृथ्वीस्थानो।

२—वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्ष स्थानो।

३—सूर्यो द्यु स्थानोः।

अग्नि कहने से सम्पूर्ण पृथ्वी जगत्, वायु कहने से सम्पूर्ण अन्तरिक्ष जगत् तथा सूर्य कहने से द्यु लोक के समस्त पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। यह बात यास्क के देवों के भक्ति-साहचर्य का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाती है। आगे चलकर यास्काचार्य लिखते हैं:—

**तासां महाभाग्यादे कस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।**

अर्थात् उन देवताओं के सब पदार्थों में भाग होने के कारण एक-एक के भी बहुत से नाम होते हैं। इसलिये स्पष्ट है कि अग्नि, वरुण, इन्द्र, अश्विनौ, आदि-आदि शब्दों के बहुत व्यापक अर्थ होते हैं। देवता जिनका मन्त्रों के ऊपर निर्देश है उनके भी अर्थ यौगिक हैं। रूढ़ि नहीं। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि चारों वेदों में एक ही देवतावाले अनेकों मन्त्र हैं। इन सबका यदि एक ही अर्थ माना जाये तो वेदों में इष्टार्थकता, उपयोगिता में कमी, और उनके महत्व में भी न्यूनता आती है। नीचे कुछ देवताओं की सूची प्रस्तुत है, जिससे विषय का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

| संख्या | देवता | ऋग्वेद में | यजुर्वेद में | सामवेद में | अथर्ववेद में |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | इन्द्र | २७५४ वार आया | १३५ वार | ४४१ बार | ८६६ वार |
| २ | अग्नि | १६६५ वार | ३५७ बार | १८६ बार | २५२ बार |
| ३ | पवमान सोम | १०७५ वार | — | ११६ वार | ३ बार |
| ४ | विश्वे देवा: | ८१६ | ६७ | १७ | १२५ |
| ५ | अश्विनौ | ५८८ | ३० | ६ | ५७ |
| ६ | व्रात्य: | — | — | — | १६६ |
| ७ | सूर्य: | ८६ | ३३ | १७ | ३३ |
| ८ | सविता | ७६ | ६३ | ८ | १८ |
| ९ | वरुण: | १७५ | १४ | ४ | २० |
| १० | प्रजापति: | १ | ५७ | १ | ४६७ |
| ११ | मरुत: | ३६६ | १३ | ८ | २६ |
| १२ | आत्मा | ६ | २४ | १ | २०३ |
| १३ | सोम: | ७६ | ३६ | १६ | २० |
| १४ | मित्रावरुणौ | १६५ | ७ | ७ | ८ |
| १५ | उषा | १८५ | २ | १२ | २ |
| १६ | इन्द्राग्नी | १०७ | ८ | ११ | १० |

यह तो थोड़े से देवताओं की सूची है। और भी बहुत से देवता वेदों में पाये जाते हैं। देवता का अर्थ है मन्त्र का अभिधेय विषय। इनका अर्थ पौराणिक देवता नहीं कर लेना चाहिये। वेदों का स्वाध्याय करते समय इन देवताओं के मर्म को अच्छी प्रकार समझना चाहिये तभी वेदों का अर्थ समझ में आ सकता है। ऋषि और देवता का अर्थ न समझने के कारण पौराणिकों तथा विदेशी व्याख्याकारों ने वेदों से इतिहास निकाल कर अर्थों का अनर्थ कर डाला है।

वेदों के तीन संसार है। एक संसार तो मनुष्य का शरीर है। दूसरा संसार यह भौतिक-पृथ्वी पर स्थित पदार्थों के सहित है। तीसरा संसार अन्तरिक्ष है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि,मेघ, विद्युतादि हैं। वेदों में अन्तरिक्षस्थ संसार का वर्णन बहुतायत से पाया जाता है। इसमें राजा है। असुर हैं। आर्य हैं। अनार्य हैं। युद्ध हैं। नगर हैं। खूब आलंकारिक वर्णन हैं। इन सबके अर्थ—रहस्य न समझ सकने के कारण वेद की पौराणिक व्याख्या करने वालों ने वेदों से राजा-रानियों के ऋषियों के, अप्सराओं के, इतिहास निकाल डाले। उदाहरण के लिये अहिल्या और गौतम और इन्द्र। यह सूर्य, चन्द्र और रात्रि का आलंकारिक वर्णन है। अहिल्या नाम है रात्रि का। क्योंकि अह: लीयते अस्यामिति अहल्या रात्रि:। रात्रि में दिन का लय होता है इसलिये रात्रि को अहल्या कहते हैं। गौतम कहते हैं चन्द्रमा को। गच्छतीतिगौ:। अतिशयेन गौरिति गौतमश्चन्द्र:। वेद में गौतम चन्द्र को कहते हैं। आदित्योऽत्र जार उच्यते। रात्रे: जरयिता। एषएवेन्द्रो य एष तपति। सूर्य को इन्द्र कहते हैं। यह इन्द्र रात्रि रूपिणी अहल्या का जार है। रात्रि के रूप को—शृंगार को बिगाड़ने वाला है। क्योंकि इन्द्र=सूर्य के उदय होते ही रात्रि का अन्तर्धान हो जाता है। रात्रि और चन्द्रमा की स्त्री-पुरुष रूपी उपमा को न समझने के कारण वेदों में अहिल्या और गौतम का इतिहास निकालते हैं।

## पुरुरवा और उर्वशी का वर्णन भी आलंकारिक है

यह सूर्य और उषा का वर्णन है। प्रो० मैक्स मूलर भी मानते थे कि पुरुरवा और उर्वशी सूर्य और उषा का आलंकारिक वर्णन है। विश्वामित्र-मेनका। यजुर्वेद में मन्त्र है १८।३९ सूर्यो गंधर्वः मरीचयोऽप्सरसः। सूर्य ही गंधर्व है और उसकी किरणें उसकी अप्सरायें हैं। यजुर्वेद में १५।१६ में जिन अप्सरा रूपी किरणों के नाम गिनाये हैं। उनमें मेनका और उर्वशी भी हैं। वेद में मन्त्र हैं यजुर्वेद २३।१८ "ओं अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन। ससव्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्।"

इनमें अम्बा अम्बिका अम्बालिका तीनों नाम एक साथ देखकर महाभारत की कन्याओं का इतिहास निकाला गया। वे तीनों काशी नरेश की कन्यायें थीं। हस्तिनापुर में उनका विवाह हुआ था। यह काम्पील भी फरुखाबाद का कम्बिला नहीं है। काम्बील एक औषधि का नाम है। उसके साथ ही अम्बिका अम्बालिका दवायें भी उगती हैं। भाव प्रकाश में इन दवाओं का वर्णन है।

"मासिका, प्रथताऽम्वष्ठा तथाऽम्वाऽलिका अम्बिका।"

वेदों में कृष्ण और अर्जुन का इतिहास निकाला गया। वेद तो स्वयं कहते हैं। अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च। दिन को ही अर्जुन तथा दिन को ही कृष्ण कहते हैं वेदो में यजुर्वेद, अध्याय १६ का २१ वां मन्त्र है।

"ओं तस्कराणां पतये स्वाहा।" इसका अर्थ है कि चोरों के पति को नमस्कार है। हैदराबाद में शंकराचार्य जी पधारे थे। उन्होंने इस मन्त्र से कृष्ण माखनचोर थे, उनको नमस्कार ऐसा अर्थ कर दिया। भगवान् कृष्ण को माखन चोर कहना महापुरुषों का अपमान करना है। नमः शब्द के निघण्टु में तीन अर्थ दिये गये हैं:—१—यथायोग्य-व्यवहार, २—अन्न वज्र। राजा का कर्त्तव्य है कि वह सबको नमस्कार करे। अर्थात् सबसे यथायोग्य व्यवहार करे। जो देव हैं उनका अन्नादि द्वारा सत्कार करे। चोर, डाकुओं की वज्र याने दण्ड से पूजा करें, पर इन सबको भी अन्नादि दे, किसी को भी भूखा न मारे। ऋषि और देवता के मर्म को समझे विना ही वेदों का अर्थ करने वालों से वेद माता डरती है। विभेत्यतयश्रुतद्विदोमामयं प्रहरिष्यति। ऋषिदयानन्द और आर्यसमाज के पुण्य प्रताप से वह दिन लद गये जब वेद का नाम लेकर कहीं उसमें गोहत्या, पशुबलि, वाममार्गी सिद्धान्त निकाल कर जनता को गुमराह किया जाता था। वेदों के ऋषि भाष्य के द्वारा वताये हुये आर्ष तरीके से भाष्य आज जनता के लिये सरल और सुबोध भाषा में सुलभ हैं। अब वेदों पर लगे ताले आर्यसमाज ने खोल दिये हैं। अब वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब मनुष्यों का परम धर्म है। आर्य बनो। श्रेष्ठ बनो। प्रगतिशील बनो। संस्कृतिवान् बनो। वेदों की शिक्षायें तभी आकर्षक लगेंगी।

# त्रैतवाद वेदमूलक है

—श्री योगेन्द्र शास्त्री—

संसार में दर्शन शास्त्र से सम्बन्धित जितनी विचारधाराएं प्रचलित हैं उन्हें लगभग तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

१—एक समुदाय ऐसा है जो केवल भौतिक जगत् को ही मानता है। उसकी दृष्टि में चेतन कोई अनादि तत्व नहीं है। कुछ भौतिक परमाणुओं के मिश्रण से चेतना उत्पन्न हो जाती है और मृत्यु के समय वह चेतना शरीर के साथ ही समाप्त हो जाती है। प्राचीन यूनानी दर्शन को छोड़कर आधुनिक सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन इसी विचारधारा का पोषक है। कार्लमार्क्स, हेगेल, और चार्वाक् दर्शन इसी कोटि में आते हैं। इनकी दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा कोई अनादि तत्त्व नहीं।

२—एक समुदाय ऐसा है जो जीवात्मा को तो मानता है परन्तु परमात्मा को नहीं मानता। उनकी दृष्टि में सृष्टि कर्त्ता की तथा जीवों के कर्मों का फल देनेवाले की कोई आवश्यकता नहीं। बौद्ध और जैन दर्शन इसी समुदाय में आते हैं।

३—एक समुदाय ऐसा भी है जो केवल ब्रह्म को ही मानता है। जीवात्मा की उससे भिन्न कोई स्वतन्त्र और नित्य सत्ता उन्हें स्वीकार नहीं है। माया ब्रह्माश्रित ही है। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद की यही मान्यता है।

परन्तु वेद मूलक त्रैतवाद दर्शन, ईश्वर, जीवात्मा, और प्रकृति इन तीनों तत्त्वों को नित्य और अनादि मानता है।

उपर्युक्त दार्शनिक समुदाय त्रैतवाद दर्शन के किसी न किसी एक तत्त्व को अवश्य स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि त्रैतवाद के तीनों तत्त्व ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति संसार में किसी न किसी रूप में माने जा रहे हैं। वस्तुतः यह दर्शन यथार्थ पर आधारित है।

## त्रैतवाद में तीन तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं

१—इस दर्शन में प्रथम ईश्वर की मान्यता है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप तथा सृष्टि का निमित्त कारण है। वह एक है। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अनादि और अनन्त हैं वहीं जीवों के कर्मों का फल देने वाला है।

२—त्रैतवाद में दूसरा तत्त्व जीवात्मा को माना जाता है। जीवात्मा एक नहीं, अपितु अनेक हैं। जीवात्माएं अनादि और नित्य हैं। ये स्वल्पज्ञ तथा अणुस्वरूप हैं। शास्त्रों में इसके जीव, ज्ञः, अमृत, देही, शरीरी आदि अनेक नाम हैं। परमात्मा से इनका भिन्न अस्तित्व है।

३—तीसरा तत्त्व प्रकृति है यह त्रिगुणात्मिका तथा परिणामिनी है। यही इस अचेतन तथा कार्य जगत का उपादान कारण है। यह भी स्वरूप से अनादि है।

इन तीनों में परमेश्वर प्रेरक तत्त्व है । जीवात्मा प्रकृति का भोक्ता है तथा प्रकृति भोग्य तत्त्व है ।

श्वेताश्वतोपनिषद् १।१२ में इन तीनों तत्त्वों के विषय में कहा है :—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

अर्थात् भोक्ता जीवात्मा, भोग्य प्रकृति और इन दोनों का प्रेरक परमेश्वर ये तीनों ब्रह्म अर्थात् महान् हैं । यहां "त्रिविधम्" पद इन तीनों तत्त्वों के लिये ही प्रयुक्त है ।

इसी प्रकार इन तीनों तत्त्वों के लिये श्वेताश्वतरोपनिषद् । (१।६) में "त्रयम्" शब्द का प्रयोग करते हुये कहा है:—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशवजा ह्यका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥

यहां 'ज्ञ' शब्द जीवात्मा के लिये तथा 'अज्ञ' शब्द अचेतन प्रकृति के लिये आया है दोनों को 'अज' अजन्मा कहा गया है । इन दोनों में से जीवात्मा को भोक्ता तथा प्रकृति को भोग्य कहा है । आत्मा अर्थात् परमेश्वर को अनन्त विश्वरूप और पाप-पुण्यों के कर्मों का अकर्ता कहा गया है । यहां भी तीनों को ब्रह्म अर्थात् महान् कहा गया है ।

उपनिषद् में 'ब्रह्म' शब्द केवल परमेश्वर के लिये ही प्रयुक्त हुआ है ऐसी बात नहीं है, ऐसी अनेक वस्तुओं के लिये भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग है जो महान् हैं । जैसे—

श्रोत्रं वै ब्रह्मेति । बृहदा० ४।१।५
मनो वै ब्रह्मेति । बृहदा० ४।१।६
हृदयं वै ब्रह्मेति । बृहदा० ४।१।७
सत्यं ब्रह्मेति । बृहदा० ५।४।१
विद्युद् ब्रह्मेति । बृहदा० ५।७।१
आकाशो ब्रह्म । छान्दोग्य० ३।१७
प्राणो ब्रह्म । छान्दोग्य० ४।५
स योऽन्नं ब्रह्मेति । छान्दोग्य ७।६।२
वाग् वै ब्रह्मेति । बृहदा० ४।१।२

उपनिषदों में लगभग ५३ स्थानों पर इसी प्रकार 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग है । जिनका अर्थ 'महान्' है । यहां पर भी ईश्वर, जीव और प्रकृति के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग 'महान्'अर्थ में हुआ है । यहां त्रिविधम् और 'त्रयं' शब्द 'त्रैत' शब्द के समानार्थक ही हैं । जिस प्रकार दो की संख्या के लिये 'द्वैत' शब्द प्रयुक्त हुआ तथा एक संख्या के लिये 'अद्वैत' शब्द का प्रयोग हुआ है । उसी प्रकार तीन की संख्या के लिये 'त्रैत'शब्द का प्रचलन हुआ ।

अथर्ववेद १०।२।३२ में 'त्रि' शब्द का प्रयोग ईश्वर,जीवात्मा और प्रकृति अर्थ में विद्यमान है । वहां हिरण्यमय कोश में तीनों की प्रतिष्ठा स्वीकार करते हुए कहा:—

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।[1]

---

१—मिलाईये—उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिं स्त्रयं सुप्रतिष्ठा अक्षरं च ।
श्वेता० १।७

यहां 'त्रिप्रतिष्ठिते' शब्द हिरण्यये का विशेषण है जिसका अर्थ होगा—'त्रयाणां प्रतिष्ठा यत्र तस्मिन्' अर्थात् जहां ईश्वर,जीव और प्रकृति इन तीनों की प्रतिष्ठा है ऐसे हिरण्यमय कोश में यह हिरण्यमय कोश मस्तिष्क में है, वहां परमात्मा भी सर्वव्यापक होने से विद्यमान है। जीवात्मा का भी वही स्थान है तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति से सम्बन्धित त्रिगुणात्मक कारण शरीर भी वहां है।

इस शरीर में तीनों की प्रतिष्ठा है इसका प्रमाण अथर्ववेद का यह मन्त्र देखिये:—

**पुण्डरीकं नव द्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।**
**तस्मिन् पद् यक्षमात्मन्वत् तद वै ब्रह्मविदो विदुः॥**

अथर्व० १०।८।४३

यहां तीनों गुणों (सत्व, रज और तम) से आवृत नौ दरवाजे का पुण्डरीक बतलाया है उसमें आत्मा रहता है और आत्मा का स्वामी 'यक्ष' परमात्मा) भी रहता है। उस परमात्मा को 'ब्रह्मवित्' अर्थात् आध्यात्मिक महान् तत्त्वों के ज्ञाता ही जानते हैं। यहां पर भी तीनों की एकत्र प्रतिष्ठा है।

अस्तु हिरण्यमय कोश में तीनों की प्रतिष्ठा से भी यही तात्पर्य है कि वहां ईश्वर, जीव, और प्रकृति ये तीनों हैं।

अथर्व वेद १८।४।४ में 'त्रयः' सुपर्णाः' का प्रयोग ईश्वर, जीव और प्रकृति के लिये हुआ है। श्री क्षेमकरणदास जी ने भी यहां पर यही अर्थ स्वीकार किया है।

'त्रित' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद १।१०५।९,१७ में तीन संख्या के अर्थ में हुआ है। यदि इसके आधार पर त्रैतवाद की व्युत्पत्ति इस प्रकार करें—'त्रितस्य भावः' इस अर्थ में स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय करके तथा णित्वात् आदि वृद्धि करके 'त्रैत' बनावें, तथा 'त्रैतमधिकृत्य वादः त्रैतवादः' करें तो सम्भवतः अनुपयुक्त नहीं होगा। परन्तु प्रतीत यही होता है कि—

'त्रैत' शब्द का प्रयोग आर्यसमाज के क्षेत्र में 'अद्वैत' और 'द्वैत' के समानान्तर ही ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीनों के अर्थ में प्रचलित हुआ है।

प्राचीन काल में 'त्रि, त्रयम्, त्रिविधिम्' ये शब्द ईश्वर, जीव, और प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुए हैं यह सप्रमाण दिखलाया जा चुका है। ये शब्द त्रैतवाद के अर्थ में प्रयुक्त हैं।

इन तीनों तत्त्वों को वेदों में, ब्राह्मण ग्रन्थों में, आरण्यक ग्रन्थों में, उपनिषदों में, स्मृति ग्रन्थों में, महाभारत, गीता और पुराणों में तथा सांख्य आदि दर्शन ग्रन्थों में नित्य और अनादि माना गया है।

यद्यपि इन ग्रन्थों पर अद्वैतपरक भाष्य भी हुए हैं और अद्वैतवाद का खण्डन भी श्री रामानुजाचार्य आदि ने करना प्रारम्भ कर दिया था। रामानुजाचार्य ने तो गीता १२।२ के भाष्य में यहां तक कह दिया है:—

**अतएवमादिवादा अनाकलित श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणन्यायसदाचारस्ववाक्य विरोधैः स्ववचः स्थापनदुराग्रहैः अज्ञानिभिः जगन्मोहनाय प्रवर्तिताः इति अनादरणीयाः॥**

अर्थात् पूर्व के बाद वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, न्याय, सदाचार और अपने ही वाक्यों का विरोध करने वाले, अपने ही बचनों के स्थापन के दुराग्रहों से युक्त, अज्ञानियों ने जगत् को मोहित करने के लिये चलाये हैं अतः आदर के योग्य नहीं हैं। अद्वैतवाद की तरफ उनका संकेत है।

इस प्रकार श्री रामानुजाचार्य ने अद्वैतवाद का प्रबल खण्डन करके अपने भाष्य में त्रैतवाद की ही झलक दिखलाई है।

परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अन्य वैदिक परम्पराओं की तरह त्रैतवाद की दार्शनिक परम्परा का भी पुनरुद्धार किया।

उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के ८वें समुल्लास में स्पष्ट लिख दिया—"ईश्वर, जीव और जगत् का कारण ये तीन अनादि हैं तथा जीव से ईश्वर से, जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप, तीनों अनादि हैं।" स्वमन्तव्या-मन्तव्य प्रकाश में महर्षि लिखते हैं—"अनादि पदार्थ तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का उपादानकारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण कर्म और स्वभाव भी नित्य हैं।

महर्षि ने तीनों तत्वों की नित्यता की तरफ दुनियां का ध्यान आकर्षित किया परन्तु जिस प्रभावशाली ढंग से इस वाद को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिलनी चाहिये थी वह न मिल सकी।

पाश्चात्य देशों में अधिकतर अद्वैतवाद को ही भारतीय दर्शन के रूप में जाना जाता रहा है। इसके कुछ मुख्य कारण ये हैं—"जिस समय आचार्य शंकर के सामने नास्तिक दर्शनों की घोर पराजय हुई उस समय शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन ने ही भारतीयों के मस्तिष्क में विशेष स्थान बना लिया था। उसी दर्शन का प्रभाव कबीर, नानक आदि सन्तों के साहित्य पर तथा सूफी सन्तों के साहित्य पर पड़ा।"

अद्वैत दर्शन के विस्तार का एक मुख्य कारण यह भी रहा कि इसे राज्याश्रय भी मिला। विजय नगर साम्राज्य के संस्थापक हरिहर और बुक्काराय,आचार्य शंकर द्वारा स्थापित शृंगेरीपीठ के प्रबल समर्थक तथा आश्रयदाता थे।

इस शृंगेरी पीठ के विशेष विशेष विद्वान् विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्री कण्ठाचार्य इनके कुलगुरु थे। ये विद्वान् आचार्य सायण के भी गुरु थे। आ० सायण पूर्ण अद्वैतवादी थे। बुक्क ने वेदादि शास्त्रों पर भाष्य करने की पूर्ण सुविधा आचार्य सायण को दी। उन्होंने प्रत्येक ग्रन्थ का अद्वैतपरक भाष्य ही किया। जब मेक्समूलर ने आचार्य सायण के भाष्यों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया तो अंग्रेजी भाष्य के माध्यम से विदेशियों को अद्वैत दर्शन ही भारतीय दर्शन के रूप में मिला।

इसके बाद स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने भी विदेशों में जाकर अद्वैत दर्शन का ही प्रचार किया।

देखा जाय तो अद्वैत दर्शन कल्पना का अधिक आश्रय लेता है। प्रथम तो इस दर्शन के नाम में और मान्यता में विरोध है। अद्वैत का अर्थ है दो नहीं एक ही तत्त्व, परन्तु अद्वैतवादी ब्रह्म के साथ ब्रह्माश्रित माया को भी अनादि मानते हैं। जब परस्पर विरोधी स्वभाव वाले दो तत्त्व चाहे वे अव्याकृत रूप में ही क्यों न रहे, अनादि रूप में विद्यमान रहते हैं तो अद्वैत कैसा।

दूसरा अद्वैत की दृष्टि में इस संसार की रचना का कोई उद्देश्य नहीं। केवल ब्रह्म बच्चों का सा निरुद्देश्य खेल खेलता है, यह बात कुछ जंचती नहीं।

तीसरी यह मान्यता कि ब्रह्म ही अविद्या से ग्रसित होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है। इस मान्यता से ब्रह्म अविद्या की अपेक्षा दुर्बल सिद्ध हो जाता है।

वस्तुत: देखा जाय तो त्रैतवाद ही यथार्थ बौद्धिक दर्शन है। इसकी परम्परा भारतीय मूल साहित्य में अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। इस संक्षिप्त निबन्ध में त्रैतवाद के उद्भव और सम्पूर्ण विकासक्रम पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता उसके लिये मेरा शोध प्रबन्ध आपको पढ़ने को मिलेगा।

यहां तो केवल यह दिखाना हमारा उद्देश्य है कि त्रैतवाद वेद मूलक है।

वेदों में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का विस्तार से वर्णन मिलता है। वहां इन तीनों को अनादि और नित्य तत्त्व स्वीकार किया गया है।

क्रमश: प्रथम तीनों की नित्यता के प्रमाण वेद में देखें:--

१. ईश्वर—ईश्वर को वेद में 'अक्षर' कहा है जिसका अर्थ अविनाशी, नित्य, ब्रह्म है।[1]

देखिये--ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्॥ ऋ० १।१६४।३६

इस मन्त्र के अक्षर शब्द का अर्थ यास्क ने निरुक्त १३।१० में ओ३म् किया है। वे लिखते हैं—"कतमत्तदेतदक्षरम्। ओ३म् इत्येषा वागिति शाकपूणि।"

२. जीवात्मा को वेद 'अमर्त्य' कहकर उसे अविनाशी, नित्य तत्त्व स्वीकार किया गया है।

**अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन स योनि:। ऋ० १।१६४।३८**

आचार्य यास्क ने यहां 'अमर्त्य' का अर्थ आत्मा किया है।[2]

महर्षि दयानन्द ने इस 'अमर्त्य' का अर्थ मरणधर्मरहित जीव किया है।

आचार्य सायण ने भी 'अमर्त्य' का अर्थ 'अमर्त्य' अमरण धर्म अयंमात्मा" अर्थात् मरण रहित नित्य आत्मा किया है।

यदि सायण यहां विनाशी शरीर में रहने वाले जीवात्मा को ब्रह्म से पृथक् नित्य स्वीकार करते तो अद्वैत की हानि हो जाती अत: उन्होंने यहां अद्वैत की गन्ध भी न होते हुए अपने भाष्य में लिख दिया—

**परमात्मैव सूक्ष्म शरीरोपाधिक: सन् नानाविधकर्मकृत्वा तद्भोगाय जीव संज्ञां लब्ध्वा शरीरत्रयेणसम्बद्धो लोकान्तरेषु संचरति।**

अर्थात् परमात्मा ही सूक्ष्म शरीर की उपाधि से युक्त होकर विविध प्रकार के पाप पुण्य के कर्म करके उनके भोग के लिये जीव नाम को धारण करके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्धित होकर जन्म-जन्मान्तरों में विचरता है। यह अर्थ बिल्कुल असंगत है। परमात्मा को पाप के कर्म करने वाला कहना कहां तक संगत है। सायण ने यहां लिखा है—

"अशुल्कं कर्म कृत्वा अधोगच्छति" अर्थात् परमात्मा पाप कर्म करके अधोगति को प्राप्त

---

१—अक्षरे क्षरणरहितेऽनश्वरे नित्ये सर्वत्र व्याप्ते ब्रह्मणि।

२—अमर्त्य आत्मा। निरुक्त १४।२३

होता है । यदि परमात्मा भी पाप के कर्म करके अधोगति को प्राप्त होता है तो उसकी विशेषता क्या रही । मन्त्र में केवल जीवात्मा का वर्णन है और उसे ही अविनाशी तत्त्व कहा गया है ।

इसी प्रकार एक मन्त्र और देखिये—

**जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।** ऋ० १।१६४।३०

यहां भी कहा है 'अमर्त्य' अविनाशी जीव, मरण धर्मा शरीर के लिए अन्नादि का प्रयोग करता हुआ विचरता है । सायण ने यहां भी 'अमर्त्य' का शरीर में रहने वाला अविनाशी जीव अर्थ किया है ।

इन प्रमाणों से जीवात्मा की नित्यता सिद्ध है ।

३. प्रकृति—प्रकृति को भी वेद में अनादि तत्त्व स्वीकार किया है । ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में प्रलयावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

**नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् ।** ऋ० १०।१२९।१

आचार्य सायण इसका अर्थ लिखते हैं—"तदानीं प्रलयदशायां अवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवन्निरूपाख्यं न आसीत् । नहि तादृशात् कारणात् अस्य सतो जगत् उत्पत्तिः सम्भवति ।"

यहां आचार्य सायण भी अभाव से जगत् की उत्पत्ति नहीं मानते निमित्त कारण ब्रह्म के साथ उपादान कारण रूपी प्रकृति भी थी तभी यह अचेतन कारण से अचेतन जगत् उत्पन्न हुआ ।

इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में 'स्वधा' शव्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है । जिसमें कहा है कि प्रलयावस्था में स्वधा अर्थात् प्रकृति थीं । सायण 'स्वधा' शव्द का 'माया' अर्थ करते हुए लिखते हैं—"स्वस्मिन् धीयते ध्रीयते आश्रित्य वर्तते इति स्वधा माया ।" अर्थात् जो ब्रह्म के आश्रय में प्रलयाअवस्था में भी रहती है वह माया है । यहां सायण माया को अन्नादि मान रहे हैं ।

इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में प्रकृति का 'तमस्' नाम से उल्लेख किया है और कहा है कि प्रलयावस्था में तमस् (प्रकृति) थी—"तम आसीत्तमसागूढ़मग्रे ।" ऋ० १०।१२९।३

सायण ने भी 'तमस्' का अर्थ 'भावरूपाज्ञानं मूलकारणम्' किया है । इसी प्रकार सायण ने ऋग्वेद के मन्त्र ऋ० १०।१७७।१ में प्रयुक्त 'माया' शब्द का अर्थ त्रिगुणात्मिका माया किया है ।

अथर्ववेद के मन्त्र १०।८।४३ में प्रकृति के तीनों गुणों का उल्लेख है—

**पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिगुणेभिरावृतम् ।**

इन सभी प्रमाणों से वेद में प्रकृति का भी अनादित्व सिद्ध है ।

जहां इन प्रमाणों से वेद में ईश्वर, जीव और प्रकृति का नित्यत्त्व सिद्ध है । वहां इन तीनों तत्त्वों का वेद में विस्तृत वर्णन भी उपलब्ध है । वेदों में परमात्मा का अनेक नामों से वर्णन है:—

अग्निः ऋ० १।१।१
इन्द्र ऋ० १।७।१०
विष्णुः ऋ० १।२२।१६,२२
सूर्य ऋ० १।११५।१

सविता ऋ० ३।६२।१०
देव ऋ० १०।८१।१०
सत्य ऋ० १०।८५।१
विश्वकर्मा ऋ० १०।८१। १,७
पुरुष ऋ० १०।६०। १,१५
ओ३म् यजु० ४०।१५

आदि उसी एक के नाम है। अग्नि शब्द को छोड़कर शेष सभी का अर्थ सायण ने परमात्मा किया है। महर्षि दयानन्द ने 'अग्नि' शब्द का भी सप्रमाण अर्थ परमात्मा किया है। इस प्रकार वेद में अनेक नाम परमात्मा के गिनाकर कह दिया—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" अर्थात् विद्वान् एक परमेश्वर को ही अनेक नामों से कहते हैं।

'जीवात्मा' के लिये वेद में जीव शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। जीवात्माओं के लिये वेद में बहुवचन का प्रयोग भी 'पुरुष बहुत्व' के सिद्धान्त को सिद्ध करता है। कुछ प्रमाण देखिये—

आयुर्जीवेभ्यो विदधत्। अथर्व० १८।४।५३
इमे जीवा। ऋ० १०।१८।३०
जीवानामायुः। अथर्व० १२।२।४५
इमं जीवेभ्यः। ऋ० १०।१८।४
वयं जीवा। ऋ० १०।३७।८
जीवेभ्यस्त्वा। अथर्व० ८।१।१५

इसी प्रकार प्रकृति के अर्थ में, वेद में—

तमस्। ऋ० १०।१२६।३
स्वधा। ऋ० १०।१२६।२
माया। ऋ० १०।१७७।१
असत्। ऋ० १०।७२।२
अदिति। ऋ० ११२६।१०

आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

इसी प्रकार वेदों में परमात्मा और जीवात्मा के भेद प्रतिपादक अनेक मन्त्र हैं। जैसे—

**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।** साम० १८।१।४

उस विष्णु के परमपद को सदा विद्वान् देखते हैं। यहां परमात्मा को दृश्य तथा जीवात्माओं को द्रष्टा कहा है।

**त्वं हि नः पिता वसोः।** साम० उत्तरार्चिक ८।२

"हे परमात्मन् आप ही हमारे पिता हैं।" यहां पिता और पुत्र का सम्बन्ध प्रतिपादित है।

**सः नो बन्धुः।** यजु० ३२।१०

वह हमारा बन्धु है।

**बालादेकमणीयस्कमुतैकंनैवदृश्यते।** अथर्व १०।८।२५

जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है दूसरा तत्त्व परमात्मा उससे भी अधिक सूक्ष्म होने से नहीं दिखाई देता। यहां ईश्वर और जीव दोनों का भेद प्रतिपादक हैं।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकम्। ऋ० १०।८२।७

तुम उसे नहीं जानते जिसने यह सृष्टि पैदा की है। जो तुमसे पृथक् शक्ति है। यहां स्पष्ट परमात्मा को जीवात्मा से भिन्न बतलाया गया है।

इत्यादि जीवात्मा और परमात्मा का भेद वेद में पारमार्थिक रूप में वर्णित है।

वेदों में ऐसे भी अनेकों मन्त्र हैं, जिनमें एक मन्त्र में ही ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों का अस्तित्व विद्यमान है।

कुछ मन्त्र प्रमाण रूप में नीचे दिये जाते हैं—

द्वा सुपर्णा। ऋ० १।१६४।२०
परोदिवा परएना। ऋ० १०।८२।५
तमिद् गर्भं दध्र आपः। ऋ० १०।८२।६
यो नः पिता जनिता। ऋ० १०।८२।३
न तं विदाथ य इमा जंजान। ऋ० १०।८२।७
य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्। ऋ० १०।८१।१
किं स्विदासीदधिष्ठानम्। ऋ० १०।८१।२
तमीशानम् जगतस्तस्थुषः। यजु० २५।१८
पूर्णात् पूर्णमुदचति। अथर्व० १०।८।२९
तस्मिन् हिरण्यये कोषे। अथर्व० १०।२।३२
यो विद्यात् सूत्रं विततम्। अथर्व० १०।८।२५
पुण्डरीकं नवद्वारम्। अथर्व० १०।८।४३

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट तीनों तत्त्वों का कहीं स्पष्टतया कहीं सांकेतिक उल्लेख है। विस्तारभय से इनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इनकी सप्रमाण व्याख्या मेरे शोध प्रबन्ध—"त्रैतवाद का उद्‌भव और विकास" में देख सकेंगे।

अन्त में यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि वेदों में जितना त्रैतवाद स्पष्ट है उतना और कोई वाद नहीं।

इसी वैदिक त्रैतवाद का प्रचार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया था और आर्यसमाज १०० वर्षों से करता चला आ रहा है।

# विश्व की उत्पत्ति का वैदिक सिद्धान्त

—देवेन्द्र प्रसाद सावित्रेयः—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदाञ्जगतेऽखिलान् । निर्ममे तमहं वन्देपरमात्मानमव्ययम् ।
आगमप्रवणश्चाहं नाऽपवादाः स्खलन्नपि । नहिसद्वर्त्मना गच्छन्स्खलितेष्वप्यपोह्यते ।।

अर्थात् जिसके निश्वास वेद हैं, जो जगत् के हित के लिए सम्पूर्ण वेदों को रचता है, उस अविनाशी परमात्मा को प्रणाम करता हूं। और वेद के आगे झुकता हुआ कहीं मैं गिर पड़ूं (भूल कर दूं) तो भी कुछ निन्दनीय नहीं, क्योंकि उत्तम मार्ग पर चलता हुआ पुरुष यदि कहीं रपट कर गिर जाता है, तो उसकी निन्दा या उपहास नहीं किया जाता है ।

जो विज्ञान सम्यक् रूप से संसार वृत्तान्त, विश्व-निर्माण का विज्ञान बतलाता हो, अथवा सांसारिक विज्ञान पृथिवी, संसार, जगत् बनने का ज्ञान देता हो, अथवा विश्व को किसने जगमगाया, सृष्टि की इस बात का उल्लेख करता हो तो उस विज्ञान को विश्व-विज्ञान या विश्व-व्युत्पत्ति का विज्ञान कहा जाता है । लेकिन जो विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त बतलाता हो तो उसे विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त कहेंगे ।

संसार के वृत्तान्त और सृष्टि के आविर्भाव का उत्तम उल्लेख 'वेद' में किया गया है, क्योंकि "वेद सत्य विद्याओं का कोष है, ज्ञान-विज्ञान धर्म तथा चरित्रोपदेशक है।"[1]

अतः इस दृष्टिकोण से परमात्मा ही विश्व व्युत्पत्ति विज्ञान में दक्ष हैं, संसार वृत्तान्तज्ञ है, विश्व-नरेश हैं, और वेद उसकी वाणी है[2] । इस कारण सत्य विश्व उत्पत्ति के सिद्धान्त को वेद ही बतायेगा, जिसे विश्व की उत्पत्ति का वैदिक सिद्धान्त कहेंगे और वह वंदिक विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त 'स यं शिवं सुन्दरम्' को साकार करने वाला हो सकता है ।

वैदिक दृष्टिकोण से तीन सत्तायें अनादि स्वीकारी गई हैं—१. ईश्वर, २. जीव (आत्मा), ३. प्रकृति । परमात्माः—परमात्मा को निमित्त कारण मानते हैं । अतः परमात्मा को अनादि मानने में किसी परमात्मवादी को आपत्ति नहीं ।

परमात्मा की सिद्धि में प्रवृत्ति की युक्ति को सभी वेदज्ञ मानते हैं । ब्रह्म में अन्य वस्तु का मेल नहीं, इससे वह सर्वत्र समानरूप होने से एकरस हैं । जीव व प्रकृति पृथक्-पृथक् अपने-स्वरूप में परमेश्वर के आधार से उसमें स्थित हैं, इससे ब्रह्म की शुद्धता का बाध नहीं होता ।[3] महर्षि दयानन्द ने सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि स्वीकारी है ।[4] ईश्वर, जीव और

१—आकरः सत्यविद्यानां वेदेवं सनातनम् । ज्ञानविज्ञानधर्माणां चरित्रस्योपदेशकः ।। —वेद महिमा (सावित्रेयः)
२—वाग्विवृताश्च वेदाः ।। मुण्डकोपनिषद् मु० २।४
३—दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २ पृ० ६२
४—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७६

जगत् का कारण (ये तीनों) से तीन अनादि हैं।[1] प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों 'अज' अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते (ये तीन) सब जगत् के कारण हैं। इसलिये उपनिषद् कहता है:—

**अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः।**
**अजोह्यको जुषमाणऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः ॥ श्वेताश्व० ४।५**

साथ ही साथ अंग्रेज तत्ववेता (जे० एस० मिल) ने भी परमात्मा की सत्ता स्वीकारी है। 'मिल' के देहान्तोपरान्त तीन निबन्ध प्रकाशित किये गये, जिनका नाम इन लेखों में उसने ईश्वर की सत्ता स्वीकारी है। लेकिन, उसका कहना है कि:—

"The indication given by such evidences as there is, points to the creation, not indeed of the universe, but of the present order of by an Intelligent Mind. Whose power over the materials was not absolute, whose love for his creatures was not his sole actuating inducement, but who never the less desired their goods. The notion of a providential government by an Omnipotent Being for the good of his creatures must by entirely dismissed".[3]

२. जीव:—जीव प्रारम्भ से अनादि है। जीवात्मा स्वभाव से अल्पज्ञ है।[2] शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है।
"शरीरश्चो भयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते।" वेदान्त सूत्र १।२।२०

३. प्रकृति:—यह भी अनादि है।ये प्रमाण निम्नलिखित हैं—"दो सुन्दर गतियुक्त पक्षी एक ही प्रकृतिरूपी वृक्ष पर स्थित हैं,उनमें एक प्रकृति के स्वादों का उपभोग(चखा)करता है। "प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है, प्रकृति की आवरणात्मक शक्ति से मोह को प्राप्त हो रहा है। जब योगी शुद्ध होकर ईश्वर को अपने से भिन्न देखता है और इसकी अनन्त महिमा को देखता है तब शोक से रहित हो जाता है। ये दोनों (जीव, ईश्वर सयुजा सखा हैं।

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयौरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यश्नन्नन्यो अभि चाकशीतिः ॥**

**समाने वृक्ष पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यन्त्यमीशमस्य महिमानमीति वीतशोकः ॥ मुण्डको० मं० ३।६।६,२,१ R. V. 1-164-20**

कुछ लोगों की धारणा है कि ईश्वर ही प्रकृति और आत्मा का निर्माण करता। कैसे? अभाव से तो नहीं। क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति कोई वेदज्ञ नहीं स्वीकारते हैं, तो अपने से निर्माण करता होगा।

चेतन (ईश्वर) से अचेतन (विश्व, प्रकृति) के प्रादुर्भात्र की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। ऋग्वेद स्पष्ट रूप से कहता है कि 'इन पदार्थों का नाश नहीं होता है, ये अविनाशी हैं। ये एक रूप

---

१—वही पृ० २९३
२—वही पृ० २२१
३—See "Three Essays on Riligion" by J. S. miil, P. 243.

से दूसरे रूप में परिवर्तित होकर बदलते हैं। १. प्रकाशयुक्त पदार्थ, २. आकाश, ३. विद्या, ४. परमात्मा, ५. क्षेत्रज्ञ या आत्मज, ६. दिव्यगुण युक्त वाले पदार्थ, ७. जीव।

ऋ० १।८९।१० पृ० ४४५

इन प्रमाणों से प्रमाणित होता है कि प्रकृति सत् है, जीव सत् और चित्त हैं, परमात्मा सत्, चित् आनन्द है, इसलिये उसे सच्चिदानन्द कहा जाता है। त्रैतवाद के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र वेदों में उपलब्ध हैं। मैं यहां एक वेदमन्त्र उद्धृत कर रहा हूं:—

**स्कंभेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः। स्कभं इदं समार्त्वम्वद् यत्प्राणान्निन मिषञ्च यत्** ॥ अथर्व० १०।८।२

अर्थात् धारण कर्त्ता (ईश्वर) में यह आकाश (सूक्ष्मतम भूत) से पृथिवी (स्थूलतर भूत) तक भौतिक प्रपंच स्थिर हैं। उसी प्राणस्वरूप परमात्मा को नमस्कार करता हूं जिससे सभी लोक-लोकान्तर स्थित हैं तथा लोकाध्यक्ष हैं। यह सम्पूर्ण जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है:—

"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" कठो० उ० द्वितीय वल्ली १५

यह तीनों अनादि सृष्टि में कारण बनते हैं:—(१) परमात्मा का नियन्त्रण रहता है। योगिराज कृष्ण भी गीता में ईश्वर को प्रकृति का अध्यक्ष कहते हैं तथा 'मया' शब्द से दर्शाते हुए अर्जुन से कहते हैं—

**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥**

गीता, ९।१०

जैसे—कुम्हार का घड़ा बनाने या जीव का शरीर से नख, केशादि की उत्पत्ति में।

२—प्रत्येक जीव को अपने कर्मों के फल भोगने होते हैं। उस फल भोग की उपयुक्त सामग्री, चाहे मानसिक हो या भौतिक प्राकृतिक प्रपंच से उत्पन्न होती है। प्रकृति के इसी गुण को पुरुषार्थ कहा जाता है।

३—प्रकृति इस प्रपंच का उपादान कारण है, जैसे घड़े की मिट्टी, या नखों और बालों का शरीर इत्यादि। ऋ० १।१६४।२२ का भावार्थ है—"जिस वृश्चन स्वभाव (जगत्) में अच्छी कर्म शक्ति वाले फल भोगी जीव रहते और बढ़ते हैं। उसका यही (बसेरा लेना और बढ़ना) भोग्य-फल है।[1]

प्रकृति प्राणियों के लिये सम्यक् फल देने और जीवन-निर्वाह कराने वाली है।

**सुदुघा पृश्निः मरुद्भ्यः** । ऋ० ५।६०।५

Earl Balfour भी तीन सत् पदार्थों को मानता है। ये तीन पदार्थ हैं:—

1—"Now the Greed which we are endeavouring to rationalise is, in its most familiar form. crudely, realistic. It proclaims the being of an external world, perceived, yet independent of perception, neither constituted by our thought nor qualif·ed by our senses." —Theism and Thought, P. 108

---

१—यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नेशद्यः पितरं न वेद ॥ ऋ० १।१६४।२२

2—"In order to constitute a persion we require, it seems to me, something more than a unifying principle relating metal events to each other and to itself. An" I must have character quite apart from the experiences, active and passive, which till his concicous life. He must have (or be) a soul...a soul which is something more than an organised collection of capacities or a procession of psychical a states".

—See Ibid P. 202.

3 –"Theism, in some form or other, we must regard as an essentinl suport of our 'familiaiar Creed' : neither to be tossed aside as an irrelevant superstition, nor respectfully buried in an edifying footnote. If intellectual values are to be maintained, the reality of spirltual guidance thus becomes. in my view, the most important of our fundamental assumptions." —see Ibid P. 235.

इसी छारण पुनर्जन्म के सिद्धान्त को बताते हुए डा० वार्ड (१९०७-१०ई०) ने कहा:—

"According to the pluralistic, as according to the Leibrizian view, all the individuals there have existed from the first and will continue to exist. indetinitely."

—See Realm of Ends by ward, P. 204.

"At any rate 'metempsychosis', in some form seems on unvoidable corollary of thoroughing pamsychisum". — See Ibid P. 213.

## सृष्टि एवं उसका प्रकार

जव सभी सत्व-सूक्ष्म पंच तत्वों का संयोग होता है तव उसी संयोग का परिणाम है, अन्य सूक्ष्म परमाणु तत्वों का निर्माण। अर्थात् प्रकृति जब कारणावस्था से कार्यावस्था में परिणत होती है तभी परमात्मा के 'क्षोभ' के कारण सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। अर्थात् प्रकृति के तीनों गुणों में जब क्रमशः गति आने पर विकार उत्पन्न होने के कारण विकृत (प्रकृति) से सृष्टि का प्रादुर्भाव अर्थात् निर्माण होना प्रारम्भ हो जाता है।

## प्रकृति का गुण

सांख्याकार प्रकृति के गुणों को साम्य मानते हैं:—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्
पंचतन्मात्राण्युयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि, पुरुषइति पंचविंशतिगणः।

सांख्य दर्शन अ० १।६१

साम्य का अर्थ है अप्रतर्क्य अवस्था। वेद में आता है—"पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणोभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदोविदुः।" अथर्व० १०।८।४३

अर्थात् नौ दरवाजों वाला पुण्डरीक (शरीर) तीन गुणों से घिरा है। ये तीन गुण क्या हैं? आत्मा स्वभाव से गुणातीत है। उसमें तो तारतम्य आता है, वह प्रकृति के संग से है। प्रकृति के गुणों का विश्लेषण हम आत्मा की अवस्थाओं से कर सकते हैं। आत्मा की उत्तम अवस्था 'स्थित'

की है। वह शुद्ध सात्विक अवस्था है। मध्यमावस्था चंचलता तथा सचिन्त पुरुषार्थ की है। वह राजसिक है। निकृष्ट अवस्था आलस्य की है। वह तामस है। प्रकृति के प्रपंच में जो पदार्थ सात्विक स्वभाव पैदा करते हैं, वह सत्व प्रधान हैं। जो राजस प्रवृत्ति लाते हैं, वह रजः प्रधान हैं, इत्यादि।

### प्रलयावस्था का दृश्य

प्रलयावस्था में तीनों गुणों की प्रधानता होती है और किसी का विशेष आविर्भाव नहीं होता है। इसे साम्य कहते हैं। वेद में प्रलयावस्था की प्रकृति के स्वरूप को इस प्रकार दर्शाया गया है—

**नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीदजो नो व्योमा परो यत्।**
**किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नभः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ R. V. १०।१२६।१**

अर्थात् कार्य जगत् अपने सूक्ष्मकारण मूल प्रकृति में लीन था। उस समय प्रकृति की अवस्था गम्भीर कोहरे के सदृश थी। उस अवस्था में परमाणु भी अपनी मूल कारणावस्था सत्व, रज, तम में लीन हो चुके थे। केवल सत्व, रज व तम का सूक्ष्म प्रधान सर्वत्र फैला हुआ था। इसका सार यही है कि उसका सत् न था, असत् था।

योगसूत्र (२।१९) का भाष्य करते हुए व्यास लिखते हैं:—"निस्सत्ता सत्वं निःसदसत् निरसत अव्यक्तं अलिंगं प्रधानम्।" प्रधान को असत् इसलिये नहीं कहते कि उसका अभाव नहीं। सत् इसलिये नहीं कहते कि उसका लिंग (ज्ञापक चिन्ह) नहीं। प्रकृति की सत्ता पुरुषार्थ में है। प्रलयावस्था में प्रकृति का व्यवहार नहीं होता। अतः उस समय प्रकृति को सत् नहीं कह सकते। उसका अत्यन्ताभाव भी नहीं, इसलिये असत् भी नहीं कह सकते। 'साबित्रेय' क्या कह सकता? वही जो वेद भगवान् ने कहा है—

**न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अन्ह आसीत्प्रकेतः।**
**आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धन्यन्न परः किं चनास ॥**
**तम आसीत् तमसो गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्।**
**तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिम्ना जायतैकम् ॥ ऋ० १०।२६**

अर्थात् उस समय अव्यक्त प्रक्रिया से ढका हुआ था। उसको व्यक्त करने वाला कोई चिन्ह नहीं था। प्रकृति थी। जो महान् शून्य (सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में) से ढका हुआ था, वह (परमात्मा के स्वाभाविक) ज्ञान की महिमा से अकेला उत्पन्न हुआ। उसी परमात्मा ने अपनी सामर्थ्य से कारणरूप से कार्य रूप में कर दिया। इसीलिये तो परमात्मा के ज्ञान को शास्त्रों में 'तप' कहा गया है—

**तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।**
**अन्नात्प्राणं मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥**
**यः सर्वज्ञः सर्व विद्यस्य ज्ञानमयं तपः।**
**तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ मु० उ० १।८,९**

अर्थात् ब्रह्म, तप से वृद्धि करता है। उसी तप से अन्न, (अन्न से) प्राण, मन, सत्य, लोक

कर्मों और अमृत को बढ़ाता है । परमात्मा के "तस्य स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेता० उ० अ० ६।८) से संसार की प्रवृत्ति होती है ।

इसी 'तप' का दूसरा नाम 'ईक्षणा' है । इससे एक गति उत्पन्न होती है जो जड़ प्रकृति में प्रविष्ट होकर उसे गतिमान बना देती है प्रकृति में इस प्रकार गति आ जाने से वह विकृत होकर जगदुत्पत्ति के कार्य में आने लगती है । वेद और वेदान्त में ईश्वर को गतिदाता कहा गया है कि वह गति देता है, परन्तु स्वयं गति में नहीं आता । (यजु० ४।५) इसीलिये अरस्तू ने भी ईश्वर को गति में न आने वाला गतिदाता (Unmoved mover) कहा । इस प्रवृत्ति से शुद्ध सत्व जिसे महान् कहा जाता है । अथवा जिसे वेद ने आभु (समन्तात् भवति) कहा है, प्रकट होता है । 'नासोदासीत्' में का सत् बीज है । उसी का आविर्भाव सृष्टि की प्रवृत्ति है । क्योंकि वेद के आधार पर स्वामी जी ने ऋग्वेद का भाष्य करते हुए कहा था कि—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिपञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
पुनः कामस्तदग्ने समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्यया कवयो मनीषा ॥

अर्थात् (परमात्मा) का 'ईक्षण' हुआ । इससे मनन (ज्ञान) का प्रथम बीज उत्पन्न हुआ । महत् में व्यक्तित्व (Individuality) नहीं होता । इसलिये उसे ज्ञान (प्रकेत) का नाम नहीं दिया जा सकता । ज्ञान प्रथम बीज है, अहंभाव (अहंकार) उसका आविर्भाव शुद्ध, सत्व (Pure being) आभु के पश्चात् है ।

## सृष्टि का प्रादुर्भाव

जिसने प्राणादि सोलह वस्तुओं को बनाया है इससे वह षोडशी कहाता है[१] । सोलह कलायें ये हैं:—१. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४. वायु, ५. अग्नि, ६. जल, ७. पृथिवी, ८. इन्द्रिय, ९. मनः, १०. अन्न, ११. वीर्य, १२. तप, १३. मन्त्र, १४. कर्म, १५. लोक, १६ नाम हैं ।[२]

इसलिये इस सृष्टि को रचने वाला वही ईश्वर है । 'स इमांल्लोकानसृजत' ऐतरेयोपनिषद अ० १, खं० १, मं० २

यह सांख्य दर्शनानुसार सृष्टि का क्रम है । भाव के बाद 'तद्भाव' आता है । अहंकार ज्ञाता (मन्ता) का ज्ञातृभाव है । ज्ञाता ज्ञेय को चाहता है । इससे एक ओर इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है । दूसरी ओर ज्ञेय की । ज्ञेय केवल ज्ञेय रूप में, जब उसमें और भेद-भाव की सृष्टि नहीं हुई, तन्मात्र (केवल) वह होता है । तन्मात्र अधिक व्यक्त होकर भूतों में परिणत होता है ।

---

१—यस्माजातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि स च तेन षोडशी ॥ यजु० ३२५, पृ० १०२६ ।
पुरुषो यस्मिन्नेतः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ प्रश्नोपनिषद् प्र० ५।२

२—स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः प्रथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेष च नाम च । प्रश्नो० प्र० ५।४ ।

अब इन पदार्थों का क्रम टेढ़ा होता है। कुछ ऊपर कुछ नीचे…। (ऋ०१०।१२६।५)[1]

प्रकृति से विकृति का किस प्रकार निर्माण होता है इसका स्वामी जी इस प्रकार वर्णन करते हैं। परमात्मा प्रकृति में 'क्षोभ' उत्पन्न करता है जिससे, तीनों गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है और प्रकृति निश्चित नियमों के आधार पर विकृति की ओर चल देती है। प्रकृति का सर्वप्रथम तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूतों की उत्पत्ति होती है।[2] प्रलयावस्था में जबकि गुण अपनी वास्तविक अवस्था में विद्यमान थे। परमाणुओं का कोई अस्तित्व नहीं था, क्योंकि उनका अभी निर्माण नहीं हुआ था।[3] सृष्टि में परमाणु बाद में आकर उत्पन्न हुए।[4] पंचतन्मात्रेय परमाणु रूप में थी।

इसके अतिरिक्त सांख्य के गुण परमाणु की विखण्डित हुई शक्ति हैं। विखण्डन के पश्चात् परमाणु अवयवों में विभाजित न होकर सत्व, रज और तम में परिवर्त्तित हो जाता है। इससे भी परमाणु को अवयवों की दृष्टि से परम सूक्ष्म कहा जा सकता है। परमाणु के विखण्डन के विषय में आधुनिक विज्ञान भी ठीक इसी प्रकार कहता है। परमाणु विखण्डनीय है। खण्डित होकर यह तीन रूपों प्रोटोन, इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोन में विभाजित हो जाता है। इसमें प्रोटोन परमाणु की नाभि शान्त-भाव से स्थित रहते हैं तथा धनावेशयुक्त होते हैं, ये इलेक्ट्रोनों की ऋणावेशयुक्त शक्ति का सन्तुलन करते रहते हैं। इलेक्ट्रोन ऋणावेशयुक्त होते हैं तथा नाभि के चारों ओर तीव्र वेग से परिक्रमा करते हैं। न्यूट्रोन नाभि में प्रोटोन के साथ निष्क्रिय भाव से विद्यमान रहते हैं तथा ये आवेशरहित होते हैं। विज्ञान की प्रोट्रोन, इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोन की मान्यता सांख्यों के सत्व, रज व तम ही हैं। विज्ञान इन्हीं तीनों से परमाणुओं की उत्पत्ति मानता है।

वैशेषिककार भूतों की उत्पत्ति परमाणुओं से मानते हैं। परमाणु सांख्यकार के तन्मात्र ही है। मेरी समझ से तन्मात्र और भूतों के बीच एक और अवस्था है, जिसे परमाणु कहा जाता है।

## भूतों का क्रम क्या था ?

भूतों के क्रम को उपनिषत्कार ने सजाया है, बांधा है—

**आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः पृथिवी………।**

आकाश (Etherecai state) से वायु, वायु (Gaseous state) से अग्नि, अग्नि (Angaseous state) से जल, उस जल (Lipuid Siale) से पृथिवी (Solid state), तैत्तिरीयोपनिषद् के एक मन्त्र में कहा गया है "उस (ईश्वर) और प्रकृति से आकाश, अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्व

---

१—तिरश्चीनो विन्तो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासी३त् । रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् । R. V. १०।१२६५

२—सत्यार्थ प्र० पृ० २१०

३—परमाणवोऽपिनासन् दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २, पृ० ४०१

४—सत्यार्थ प्र० पृ० २२२

❀ १. प्रकाशयुक्त पदार्थ, २. आकाश, ३. विद्या, ४. परमात्मा, ५. क्षेत्रज्ञ या आत्मज, ६. दिव्यगुण युक्त वाले पदार्थ, ७. जीव, ये अविनाशी हैं।

+ ऋ० १०।१२६।४

(सर्वत्र) फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से आकाश उत्पन्न सा होता है, वास्तव में अवकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सके ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है[1] । आकाश दो प्रकार के हैं, एक शून्याकाश जिसमें समस्त सृष्टि वर्तमान हैं, जिसका लिंग-प्रवेश निकलना है तथा दूसरा शब्द का माध्यम है, जिसका गुण शब्द है ।

'वेद' में इसे इस प्रकार दर्शाया गया है—

"यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः ।
यत्नातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन् मातरिश्वा तदानीम् ॥"

अथर्व० १० । ८ । ८० ॥

अर्थात् जिस ब्रह्म में आकाश (सूक्ष्मतम भूत) पृथिवी (स्थूलतम भूत) सबको प्रकाशित करने वाली अग्नि (मध्य भूत, उसी में एक पत्नी, आपः और (वायु अग्नि से क्रमशः स्थूलतर और (सूक्ष्मतर भूत) स्थिर थी ।

भौतिक शास्त्रवेत्ता भी प्राकृतिक प्रपंच की सूक्ष्म अवस्था (Ether) को मानते हैं । वे कहते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईथर (Ether) वर्त्तमान हैं । वायवीय (Gaseous) आदि अवस्थाओं का उससे पीछे घटित होना सम्भव हो सकता है ।

## पुनः प्रश्न उठता है कि भूत क्या है ?

इन पांच भूतों को रासायनिक तत्त्व समझना हमारी भूल है । यह भौतिक शास्त्र का विषय है । वर्त्तमान भौतिकी में 'ईथर' को उष्णता और प्रकाश (Heat) और प्रकाश (Light) का आधार माना है । वैदिकी तार्किकों ने पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों (शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध) को एक-एक भूत का आधेय बनाया है । उष्णता प्रकाश, विद्युत की अपेक्षा यह प्राचीन वर्गीकरण ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है । वैदिकी तर्क में उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव है । 'नासीदासीत्' में 'सत्' (आभु) था । केवल व्यक्त नहीं हुआ था । आभु में 'मनसो बीज' था । उसमें 'तिरश्चोनोरश्मि' था, सूक्ष्म भूतों में स्थूल भूतों की सत्ता थी, आविर्भाव पीछे हुआ । वेदादि शास्त्रों में ईश्वर को 'विश्वकर्मा' (Disposer and Maker) इसीलिये कहा जाता है वह 'विश्व को रचने व धारण करने वाला है ।'

## लोक के चारों ओर सात परिधियां

वेद कहता है कि परमात्मा ने प्रत्येक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियां रची हैं, अर्थात् पृथिवी के चारों ओर सात आवरण हैं ।[2] इनमें पहिला समुद्र, दूसरा त्रसरेणु सहित वायु, तीसरा मेघ-मण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल, पांचवां वृष्टि जल से ऊपर एक प्रकार की वायु, जिसको धनंजय कहते हैं तथा सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनंजय से भी सूक्ष्म हैं ।

---

१. See सत्यार्थ प्रकाश पृ० २२२ ।

२. सप्तास्यासत्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ यजु० ३१ । १५ ॥

इसके अलावे (२१) इक्कीस समिधायें हैं—(१) प्रकृति, (२) बुद्धि, (३) जीव तीनों मिले हुए हैं, (२) श्रोत्र, (३) त्वचा, (४) नेत्र, (५) जिह्वा, (६) नासिका, (७) वाक्, (८) पग, (९) हाथ, (१०) गुदा, (११) उपस्थ (लिंगेन्द्रियादि), (१२) शब्द, (१३) स्पर्श, (१४) रूप, (१५) रस, (१६) गंध, (१७) पृथिवी, (१८) जल, (१९) अग्नि, (२०) वायु और २१वां आकाश।[२]

इस ब्रह्माण्ड में हमारे सूर्य जैसे करोड़ों सूर्य हैं, जो पृथक्-पृथक् अपने सौर मण्डल के ग्रह परिवार को प्रकाशित करते हैं।[१] वेद इन पिण्डों को गतिशील कहता है।[३] वेद गतिशील पिण्डों को गौ नाम से सम्बोधित करता है। श्रुति में 'गौ' शब्द से ये पदार्थ भी गिनाये गये हैं—(१) भूमि, (२) सूर्य, (३) किरण, (४) विद्युत्, (५) वाणी, (६) स्त्रोता (७) चन्द्रमा (गौतम), (८) सुषुम्ना रश्मि तथा (९) गमनशील। इसीलिये कहा जाता है कि 'परमात्मा' ने ही सर्वप्रथम 'गोमेध यज्ञ' किया।

## सूर्य की उत्पत्ति

ये बातें वेद और वेदांत सम्मत है कि सर्वप्रथम 'हिरण्यमय प्रकाश' व 'हिरण्यगर्भ' था।[४] अग्नि से पूर्व ज्योति थी, सूर्य से पूर्व अग्नि थी। अग्नि पिण्ड से ही सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिये सूर्य को 'आग्नेय' कहा जाता है। इसलिए अग्नि को पूर्व रूप तथा सूर्य को पर (दूसरा) रूप कहा जाता है।[५] नीहारिका (Nebuta) से सूर्य, सूर्य से पृथिवी आदि ग्रह।[६] चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है।[७] सूर्य अपनी परिधि की ओर अकेला घूमता है किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता।[८] उन्नीसवीं शताब्दी में ही महर्षि ने बताया था कि आकाश का कोई भी गुरुपदार्थ बिना घूमे स्थित नहीं रह सकता इससे सूर्य भी घूमता है।[९] यह समस्त ब्रह्माण्ड, जिसमें सूर्य जैसे एवं इससे बृहत् करोड़ों पिण्ड हैं। परन्तु परमात्मा के सम्मुख तुच्छ एवं उसके किंचित् मात्र प्रदेश में हैं।[१०] परमात्मा अनन्त है विश्व सान्त। परमात्मा विश्व को अपने अन्दर धारण किये हुए हैं, विश्व उस परम पुरुष के एक प्रदेश में है।[११] परमात्मा समस्त विश्व में ओतः प्रोत हुआ धारण कर रहा है इसी से ईश्वर को वेद में 'विभुः प्रजासु' (यजु० ३२.८) कहा है। छान्दोग्योपनिषद् में भी सृष्टि क्रम को इसी प्रकार दर्शाया गया है—"एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोरसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋचस ऋचः साम रसः साम्रउद्गीथो रसः॥

छान्दो० प्र० १। ख० १। मं० २॥

(१) **सूर्य पुत्री पृथ्वी की सृष्टि**—इन भूतों का पृथिवी रस है। अथवा ये जो चराचर दृश्यमान पृथिवी के पदार्थ हैं, इन सबों का आश्रय पृथिवी ही है। अतः इनका रस (आश्रय) पृथिवी कही गई है। यहां 'रस' शब्द अपने अर्थ का केवल द्योतक है। वाचक नहीं।

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका: पृ० १२९, २. सत्यार्थ प्र० पृ० २३२, ३. दयानन्द ग्र० मा० भा० २ पृ० ४३० श० सं०, ४. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्॥ यजु० १३।४॥ ५ अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्व रुपम्। आदित्य उत्तर रुपम्॥ तैत्ति० उ० शिक्षा वल्ली अनु० २। २। ६. R. V. 10.129.Ior नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योत विद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रुपाणिपुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे॥ श्वेता० उ० अ० २।११। इसमें भी सृष्टिक्रम की झलक दिखलाई पड़ती है। ८. सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः। अग्निर्हिम् ८. द०ग०मा० भाग २ पृ० ४३२ व स०प्र० २३३, १०: पृ० ४०८ शं०सं०स्यांभेषजंभूमिएवोप मंमहत्॥ यज० २३।१०॥ यजु० ३१।३॥

(२) **जल की उत्पत्ति**—पृथिवी का रस जल है।

(३) **औषधियों का प्रादुर्भाव**—जल का औषधि रस है । जिसके फल पक जाने पर बिलकुल सूख जाय उसे औषधि कहा जाता है (ओषध्यः फलयाकान्तः इति कोशः) जल की सहायता से ही औषधियों की उत्पत्ति और पालन होते हैं। इसलिये जल का नाम जीवन है। जल सबों को जिलाने वाला है। (पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् (इति कोशः)।

(४) **मानव का प्रादुर्भाव**—औषधि का पुरुष रस है। यहां सकल अन्न का नाम औषधि कहा गया है। इसी से पुरुष उत्पत्ति होने के कारण से भी औषधियों का रस पुरुष है अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः । स्मृति ।)

## सजीव शरीर में 'रज' वीर्य का निर्माण

वनस्पति एवं जन्तु के शरीर में वीर्य व रज अनेक विधियां या चरण पार कर बनते हैं। ये सभी अन्न एवं जल से प्राप्त होते हैं। इसलिये वेदान्त में कहा गया है अन्न से प्रजायें उत्पन्न होते हैं "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। तैति० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु० २।। अन्न तथा जल पृथिवी या चन्द्रमा एवं सूर्य के संयोग से प्राप्त होते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि पृथिवी में या चन्द्रमा में रज और सूर्य में वीर्य (प्राण) की शक्ति वर्त्तमान हैं, और सूर्यादि के निर्माण की शक्ति परमात्मा में है। भौतिक पदार्थों के संयोग से शरीर का निर्माण किया जाता है लेकिन चेतनता लाने के लिये आत्मा का संयोग किया जाता है। परमात्मा सृष्टि की वृद्धि कैसे करता है ? इसकी पुष्टि में उपनिषद् का प्रमाण दे रहा हूं—"तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे वहुधा प्रजाः करिष्यत इति ।। प्रश्नो०उ०४।। अर्थात् वे प्रसिद्ध महर्षि बोले—निश्चय ही प्रजा उत्पन्न करने की इच्छावाला (जो, प्रजापति है, उसने तप किया, उसने तपस्या करके सृष्टि की। उसने एक तो रयि और दूसरा प्राण (सूर्य) का भी जोड़ा पैदा किया, कि ये मेरी नाना प्रकार की प्रजाओं को बढ़ायेंगे। आदित्य ही प्राण है और चन्द्रमा ही रयि हैं—"आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा ।।" प्रश्नो० ५ ।। या यहां प्राण उसी ईश्वर प्रदत्त गति को कहते हैं जिसका नाम विज्ञान वेत्ताओं ने शक्ति (Energy) किया हुआ और उसी गति से विकृत हुई प्रकृति रयि कहलाती है, इस रयि को विज्ञान में प्रकृति Males) कहा जाता है वैज्ञानिक भाषा में प्राण नाम जिस गतिशक्ति का है और रयि जिस प्रकृति को कहते हैं, उन्हीं के मेल से विकृत प्रकृति या विकृति की, सूक्ष्म स्थूल होती हुई अवस्थाओं के नाम, महत्तत्व····· पृथिवी है।'[1]

अतः सृष्टि के पूर्व सभी तत्व परमात्म शक्ति में ही निहित होते हैं। उसी की कृपा से हिरण्यगर्भ[2] एवं पृथिवी उत्पन्न होती है। ये सभी नाम परमात्मा के ही हैं। अतः 'रत्नगर्भा'[3]

---

१. प्रश्नो० महात्मा नारायण स्वामी जी पृ० ४,५, सन् १९५३

२. हिरण्यगर्भ' परमात्मा एवं भौतिक सूर्य का नाम है।

३. 'रत्नगर्भा' परमात्मा के ही नाम है क्योंकि वह न तो स्त्री है और न पुरुष ही। वह अव्यय है (नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्य तदव्ययं ।। मुण्डो० प्र० खं० ६ ।। इसलिये वेद माता एवं पिता दोनों कहकर पुकारता है (त्वं नः पिता वसो त्वं शतक्रतो बभूविथ ।। सा० उ०प्र० ८ । अर्थ प्र० २।१३।२) । अतः यह नाम भी उसके लिए प्रयुक्त है।

माता होती है और 'सविता'[1] पिता होता है। रत्नगर्भा के रज एवं सविता के वीर्य से ही शरीर का निर्माण होता है। पृथिवी रूपी गर्भ से सभी प्राणियों एवं वनस्पत्तियों के जन्म होना सम्भव है। अतः वेद स्पष्ट कहता है—"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।"[2] अथर्व० १२।१।१२ ॥ इस प्रकार सभी पदार्थ हो जाने पर अन्त में मनुष्य का प्रादुर्भाव होता है। सर्वप्रथम सृष्टि वसंत संपात् में ब्रह्ममुहुर्त में, 'त्रिष्टुप' के निकट होते हैं, तथा (Hi:h & strong Powerfull fertilizat on) पृथिवी के अन्दर ही होते हैं जिससे सब 'युवा बालक एवं युवा बालिका' (युवति) ही जन्म लेते हैं। प्रथम सृष्टि अमैथुनी सृष्टि होती है। बाद में मैथुनी सृष्टि से सृष्टि का विस्तार होता है।

## आर्य ईश्वर के पुत्र ?

इसलिये 'अर्य' शब्द ईश्वर का बोधक है। उसी 'अर्य' से अपत्यार्थ में 'आर्य' शब्द बनता है। (नि० २.२२) "आर्यः ईश्वर पुत्रः" (निरुक्त) या ईश्वर के पुत्र का नाम आर्य है।[3] "प्रजा आर्या ज्योतिरग्रः" ऋ० ६। ३३। ६॥ इस कारण हम लोगों को आर्य बनने के लिये वेदानुसार चलना होगा।

इस प्रकार का सृष्टिक्रम एक 'कल्प' का है। प्रत्येक सृष्टि के बाद प्रलय[4] (Dissolution) एवं प्रलय के पीछे पुनः सृष्टि होती है। कल्प के आदि में परमात्मा सृष्टि का निर्माण उसी प्रकार करता है।[5] जैसे उससे पूर्व कल्प में किया था, सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय दिन और रात की तरह चलते हैं। इस प्रकार का चक्र (Cyeli) प्रवाह से अनादि है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा। वैदिकी तर्क प्रकृति का विकास पुरुषार्थ (जीवों की आवश्यकता) के अनुसार मानता है। इसका

---

१. 'सविता' परमेश्वर की ही शक्ति का नाम है—"सविता वै देवानाम् प्रसविता।" शत० ब्रा० "सब देवों की उत्पत्ति करने वाली शक्ति 'सविता' है—'सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमानः॥ तैत्ति० ब्राह्म० ३। १०। १। २॥ 'सु' धातु से 'सविता' शब्द बनता है। इस धातु के तीन अर्थ हैं--प्रसव, ऐश्वर्य, एवं प्रेरणा। लेकिन कहीं-कहीं भौतिक सूर्य का नाम भी सविता है।

२ द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरेत बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३ र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितगर्भमाधात्॥ ऋ० मं० १६४। मं० ३३॥

३. sce 'सचित्र हिन्दी विश्वकोष' भा० पृ० ६७३, १६१५, या 'निरुक्त शास्त्रम्' भाषाभाष्य प्र० सं० पृ० ३६। ८॥ by Pt B. Dalji.

४. नाशः कारणालयः सा० उ० १। १२२।

५. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः। ऋ० ८। अ०। मं ३॥ इसके अतिरिक्त ऋत, सत्य, रात-दिन, समुद्र, अर्णीव, संवत्सर इत्यादि कावरानि इस प्रकार करता है जिसे वेदमन्त्र में ही दर्शाये दे रहा हूं क्योंकि ये प्रचलित मन्त्र है ही एवं विस्तार के भय से मैं व्याख्या नहीं कर रहा हूं।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धातपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी।:
ऋ० मं० १०। सू० १६०। मंत्र १,२॥

साक्षी एक मात्र केवल निर्गुण चेता (आत्मा) एवं परमात्मा ही है—"साक्षी चेता केवलो निर्गुणञ्च" श्वेता० अ० ६।११)

## ऋषि एवं दार्शनिक में भेद

आज का दार्शनिक तर्क को कसौटी पर कस कर सिद्धान्त को जानता है। लेकिन वैदिक ऋषि ने सचाई को देखा, फिर माना। दार्शनिक एवं ऋषि में केवल इतना ही फर्क है। ऋषि अपनी शरीर रूपी प्रयोगशाला में कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर मन रूप मन्त्र से काम लेकर आत्म-साक्षात्कार करता है। पुनः हृदय रूपी आकाश में ज्ञान चक्षु से सत्य का साक्षात्कार करता है, उसे देखता है। ऋषि अन्तः साधना से सत्य की खोज शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में करता है। लेकिन विज्ञान का अनुसंधाता वाह्य साधनों से वाह्य जगत् में सत्य का साक्षात्कार दुनियां वाले को दिखला देता है। 'ऋष्य' का अर्थ है खोजना, अन्वेषण करना, छान-बीन करना तथा Rese का अर्थ भी यही। आज का विज्ञान-वेत्ता (Research scholar प्राचीन ऋषियों से मिलते-जुलते ही है। लेकिन इनमें आत्मिक-ज्ञान का अभाव है और उनमें आत्मिक-ज्ञान पूर्ण था। अतः ऋषि का अर्थ ही है "वैदिक मन्त्रों का साक्षात् करने वाला (मन्त्रद्रष्टारो ऋषियो भवन्ति-निरुक्त) उन्हीं ऋषियों के पथगामी ऋषि दयानन्द जी सरस्वती थे। जिन्होंने आज त्रैतवाद का सिद्धान्त उन लोगों के समक्ष रखा है। ऋषि के वर्णन में बल होता है, वह स्पष्टवक्ता है, लेकिन तार्किक अनुमान से काम लेता है, इसलिये उसके वर्णन में साक्षात्कार के समान बल नहीं होता हैं।

आधुनिक विज्ञान-वेत्ता को समझाने के लिये विज्ञान पढ़ना उसी प्रकार जरूरी है जैसे अंग्रेजों से लोहा लेने के लिए अंग्रेजी पढ़ना अत्यन्त अनिवार्य था। आंग्ल भाषा के मर्मज्ञ होने पर ही भारतीयों ने अपना शासन वापस लौटाया, वेदवेत्ता को आधुनिक विज्ञान समझाने के लिए विज्ञान-वेत्ता को वेदवेत्ता होना पड़ेगा। इसीलिए मुझसे पंडित विद्याधर जी शास्त्री ने शुभकामना देते कहा था कि यदि वैज्ञानिक संस्कृतज्ञ हो या संस्कृतज्ञ वैज्ञानिक हो तो वे अलभ्य रत्न प्राप्त हो सकते हैं जिनका आज नामो-निशान नहीं हैं। वेदान्त विज्ञान को इस दृष्टिकोण से देखते हुए कहता है—"विज्ञानेन जातानि जीवन्ति।" तैत्ति० भृगुवल्ली, अनु० ५॥

अर्थात् विज्ञान से ही उत्पन्न हुए प्राणी जीवित रहते हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि विज्ञान वेद के साथ ही था। अतः ईश्वर, जीव, और प्रकृति अनादि है।

## परमात्मा ही सृष्टिकर्त्ता

अन्त में मैं ईश्वर को रचयिता मानते हुए इस निबन्ध को यहीं समाप्त करता हूं।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वादधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्त्सो अङ्गवेद यदि वा न वेद॥

ऋ० अ० ८। अ० ६। वर्ग १९, मं० ६॥

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियतास्कम्भः प्रविवेश तत्र यत्र प्राविशत् कियत्तद्बभूव॥

अथर्व० कां० १० अनु० ४। मं० ८॥

देवा पितरो मनुष्या गंधर्वाप्सरसश्चमे ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवादिविश्रितः ।।

अथर्व० कां ११ प्रपा० २४ अनु० २ मं० २७ ।।

अर्थात् जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है वही इस जगत् का धारणकर्त्ता, नाशकर्त्ता और स्वामी भी है। हे मित्रो ! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है वही उसको प्राप्त होता है और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है उसी ईश्वर में सम्पूर्ण जगत् निवास करता है और जब प्रलय होता है तब भी सम्पूर्ण जगत् कारणरूप होकर ईश्वर की सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है। जो उत्तम, मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है, उन सबको परमेश्वर ने ही रचा है। उसने इस जगत् में नाना प्रकार की रचनाएं की हैं और एक वही इन सब रचनाओं को यथावत् जानता है, जो इस जगत् में कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ-कुछ उसकी रचनाओं के गुणों को जानते हैं वह सबको रचता है और आप रचना में कभी नहीं आता। देव, पिता, मनुष्य, गंधर्व एवं अप्सरसः उसी ईश्वर की सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं। जो प्रकाश करने वाले और प्रकाश स्वरूप सूर्यादि लोक, चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक भी उसी की सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं। इसीलिये प्रश्नोपनिषद् में शौनक एवं अंगिरा संवाद में प्रश्न किया गया है—"शौनक कस्मिन्तु भगवो विज्ञाते सर्वभिदं विज्ञातं भवतीति।" प्रश्न शौनक—भगवन् ! किसके जान लेने पर यह जो कुछ देखने, सुनने और अनुमान करने में आता है, सबको सब जान लिया जाता है, वह परमतत्व क्या है ?

उत्तर—अंगिरा—द्विविद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापर च ।।

उत्तर—अंगिरा—इस प्रकार निश्चयपूर्वक जो ब्रह्म को जानने वालों का कहना है कि वेद विद्याएं दो हैं एक परा और दूसरी अपरा विद्या।

वेद के कुछ दावे आज वैज्ञानिक जगत् में स्वीकार्य हैं, वहां अभी कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण भी लगते हैं।

# वैदिक--सृष्टि--उत्पत्ति

—ब्र० बलदेव—

युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी महाराज अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश के अष्टम समुल्लास में सृष्टि-उत्पत्ति विषय में प्रश्नोत्तर के रूप में लिखते हैं:—

प्र०—यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है वा अन्य से ?

उ०—निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। परन्तु इसका उपादान कारण प्रकृति है।

प्र०—क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की ?

उ०—नहीं ? अनादि है।

प्र०—अनादि किसको कहते हैं ? और कितने पदार्थ अनादि हैं ?

उ०—ईश्वर, जीव और जगत कारण ये तीन अनादि हैं।

प्र०—इसमें क्या प्रमाण है ?

उ०—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।" ऋ० १।१६४।२०
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। यजु० ४०।८

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालना आदि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य, व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रता युक्त सनातन अनादि हैं। और (समानं) वैसा ही (वृक्षं) अनादि मूल रूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ। इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं।

## प्रकृति का लक्षण

**सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। सांख्य सूत्र। छां० उ० ६।२।१**

अर्थात्—सत्व, रज और तम ये तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है, उसका नाम प्रकृति है।

## सृष्टि किसे कहते हैं ?

**नित्यायाः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरूत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक् पृथग्वर्तमानानां तत्वपरमाणूनां प्रथमाः संयोगारम्भः संयोग विशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिसृष्टिरुच्यते ।।**

अर्थात्—अनादि नित्यस्वरूप सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् परमाणु अवयव विद्यमान हैं, उन्हीं का प्रथम जो संयोग का

आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर=दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनते-बनाते विचित्र रूप बनी है। इसी से यह संसर्ग होने से 'सृष्टि' कहाती है।

### सृष्टि-उत्पत्ति में कारण

सृष्टि उत्पत्ति के तीन कारण हैं:—

१. निमित्त कारण। २. उपादान कारण। ३. साधारण कारण।

निमित्त कारण दो हैं—एक सब सृष्टि को बनाने धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था करने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा, दूसरा-परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तिर बनाने वाला साधारण निमित्त कारण 'जीव'।

उपादान कारण—प्रकृति परमाणु हैं।

साधारण कारण—जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तब जिन-जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार साधन और दिशा, काल और आकाश साधारण कारण हैं।

जगत् के उपादान कारण प्रकृति परमाणुओं से सृष्टि का वर्तमान रूप कैसे आया है। इसी विषय पर प्रस्तुत लेख में विचार किया जायेगा।

## सृष्टि-क्रम

(क) सृष्टि का सबसे मुख्य कारण पुरुष अथवा परमेश्वर है। इस पुरुष शब्द के तीन अर्थ हैं:—

(ख) सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है। वेद में तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रकृति के लिये अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:—

| | | | |
|---|---|---|---|
| (१) प्रधान | शान्ति पर्व २३८।२६ | (८) क्षेत्र | गीता १३।२ |
| (२) तमः | ऋ० १०।१२९।३ | (९) विधानम् | देवल धर्म सूत्र |
| (३) अव्यक्त | कठ० उप० ३।११।११ | (१०) गौः | वायु पु० २३।५५ |
| (४) स्वधा | ऋ० १०।१२९।२ | (११) अलिंग | शान्ति पर्व ३०३।४७ |
| (५) सत्वः | शान्ति पर्व २४१।१ (पूना सं०) | (१२) परा | वायु पु० ५।२० |
| (६) अजा | श्वेताश्वतर उप० ४।५ | | |
| (७) ज्येष्ठ | ऋ० १०।१२०।१ | | |

सम्पूर्ण प्राचीन आर्ष ग्रन्थ सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन पुरुष की इच्छा की अभिव्यक्ति के पश्चात् प्रधान से आरम्भ करते हैं। पुरुष की इच्छा से प्रधान में क्षोभ उत्पन्न हुआ। जिससे रजो गुण प्रधान होकर गति में आया। गति शून्य प्रकृति में (Inertia) का सिद्धान्त काम करता था।

यह शून्यता (Inertia) का सिद्धान्त क्या है ? विज्ञान की भाषा में देखिये:—

"Inertia — It is the property of a body in virtue of which it remains in a state of rest or of motion with Constant velocity in a straight line, unless it is compelled to change that state by an entrnal forces".

प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में कम्पन है। प्रकृति की यह वही गति है जिससे महा प्रलय की शान्ति भंग होकर प्रकृति विकृत रूप में परिणत हुआ करती है और इसी गति को विज्ञान की भाषा में शक्ति कहते हैं।

विज्ञान प्रकृति के साथ शक्ति को भी नित्य मानता है। परन्तु शक्ति गुण है। गुण गुणी का समवाय सम्बन्ध है। अतः शक्ति किसी का गुण होना चाहिए। यदि शक्ति की प्रकृति का स्वाभाविक गुण मानते हैं, तो उसमें (प्रकृति) में कभी प्रलय स्थिति नहीं हो सकती। किन्तु प्रलय होती है, इसलिये शक्ति प्रकृति का स्वाभाविक गुण नहीं हो सकता। प्रलय के सिद्धान्त का भौतिक विज्ञान भी समर्थन करता है। उष्मा के क्लाशियस सिद्धान्त को देखिये—

The energy of the universe is constant but the entropy of the univers tends to wards a maximum (It is not converteble into wark),This latrer energy allready converted in to heat and distributed in the coolor masses is invocably lost as for as any farther is concerned.

All difference of temperature must ultimately disappear and the completely latent heat must be equally distributed through one inertmass of motionless matter, All organic life and movement must ceas when this maximum of Entropoy has been reached. That would be the real end of the world.

गतिशून्य प्रकृति को जगत की उत्पत्ति के लिये गति की आवश्यकता होती है। यजुर्वेद के एक मन्त्र के एक भाग में आया है—

**तदेजति तन्नैजति ॥ यजु० ४०।५**

अर्थात्—वह ईश्वर ही गतिशून्य प्रकृति में गति उत्पन्न करता है, परन्तु स्वयं गति में नहीं आता। उस गतिदाता परमेश्वर के स्वरूप को न समझ कर आधुनिक गति अर्थात् शक्ति को नित्य मानने लगे।

यूनानी दार्शनिक अरस्तू के विचार इस विषय में वेद के सर्वथा अनुकूल हैं। वे लिखते हैं—

"God was merely the souree of movement. The first mover who himself is never moved. (Vide she seven Ages by the auther of the Mirrors of Downing street. Page 46)

## प्रकृति के नित्यत्व का वैदिक सिद्धान्त

महाभारत के शान्ति पर्व में एक परम सूक्ष्म सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। वह है प्रकृति के नित्यत्व का सिद्धान्त। जो निम्न शब्दों में उल्लिखित है—

**दीपादन्ये यथा दीपाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः।**
**प्रकृति सूयते तद्वद् आनन्त्यान्नापचीयते ॥** शान्ति पर्व २१२।३६

अर्थात्—एक दीपक से जैसे अन्य सहस्रों दीपक प्रज्वलित होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति अनन्त लोकों को उत्पन्न करती है। अनन्त होने से वह कभी क्षीण नहीं होती।

## प्रधान में क्षोभ

वायु पुराण का प्रमाण है—

क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ।
प्रधानं पुरुष चैव प्रविश्याण्डं महेश्वरः ।
प्रधानात् क्षोभ्यमाणात् तु रजो वै समवर्तत ।। वायु पु० ५।११-१२

अर्थात्—परमेश्वर ने परमयोग से अण्ड में प्रवेश करके प्रधान और पुरुष (जीवात्मा) को क्षोभित किया । प्रधान के क्षुब्ध होने से रज प्रकट हुआ । रज ही उनमें प्रवृति कराने वाला है ।

## महतत्व की उत्पत्ति

प्रधान के क्षुब्ध होने के बाद उसमें प्रसार प्रारम्भ होकर महत्तत्व की उत्पत्ति हुई ।

गुणभावाद् वाच्यमानो महान् प्रादुर्बभूव ह ।। वायु पु० ४।२४

अर्थात्—गुणों से महान् कहा जाने वाला तत्व प्रादुर्भूत हुआ ।

प्रकृति अनन्त है, और सूर्य आदि सब ग्रह सान्त हैं । प्रकृति के एक अंश मात्र से ही इन सब ग्रहादिकों की उत्पत्ति हुई है ।

गुणभावाद् भाष्यमाने महातत्व बभूव ह ।
सूक्ष्मः स तु महानग्रे अव्यक्तेन समावृतः ।। ब्रह्म० पु० १।१।३।१४

अर्थात्—प्रधान के परिणाम आगे-आगे उसके अन्दर होते हैं । स्पष्ट है ग्रह आदि सम्पूर्ण जगत् प्रकृति के आवरण से ढके हैं ।

## महत्तत्व के तीन भेद

प्रधान में सत्व, रज, तम इन तीनों का साम्य था । अतः इसके परिणाम महान् के भी तीन भेद हुए । १. वैकारिक, २. तैजस, ३. भूतादि ।

## अहंकार की उत्पत्ति

महान् से भी अहंकार उत्पन्न हुआ । इसके भी तीन भेद थे ।

त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्वादजायत ।। शान्ति पर्व० २३८।२७

अर्थात्—महत्तत्व से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ । अहंकार के तामस भेद की भूतादि संज्ञा है ।

## पंचतन्मात्राएं

अहंकार के अनन्तर पांच भूततन्मात्रों की उत्पत्ति हुई—

भूत सर्गमहंकाराद् तृतीयं विद्धि पार्थिव ।। शान्ति पर्व० ३०२।२४

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्राएं हैं । महाभूतों की उत्पत्ति भी महाभारत में तन्मात्राओं के साथ ही बतलायी है । इन्द्रियों का जन्म भी वायु पुराण में इन्हीं भूतों के साथ माना है ।

अहंकारस्तु महतस्तस्माद् भूतानि चात्मनः ।
युगपत् संप्रवर्तन्ते भूतान्येवेन्द्रियाणि च ॥ वायु पु० १०३।३८

## महाभूतों का उत्पत्ति क्रम

तमोगुणी अहंकार से शब्द तन्मात्रा और उससे आकाश, आकाश से स्पर्श तन्मात्रा उससे वायु, वायु से रूप तन्मात्रा उससे अग्नि, अग्नि से रस तन्मात्रा और उससे जल उत्पन्न हुआ। जल से गन्ध तन्मात्रा उससे पृथिवी तत्व की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार तमोगुण प्रधान-अहंकार से पांचों भूतों और पांच तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। रजोगुण प्रधान-अहंकार से कर्मेन्द्रियां तथा सत्व गुण प्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियां तथा मन की उत्पत्ति हुई।

( महाभारत शान्ति पर्व २३८ )

## महाभूतों के दो मुख्य भेद

ऋग्वेद के नासीदीय सूक्त में महा भूतों का दो रूपों में का उल्लेख मिलता है—
(१) असत्, (२) सत्।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शम्भन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ ऋ० १०।१२९।१

इस मन्त्र में प्रयुक्त सत् और असत् दोनों शब्दों का शतपथ ब्राह्मण में बहुत सुन्दर विवेचन मिलता है। वहां का पाठ इ । प्रकार है—

असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः । किं तद् असद् आसीदिति । ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः । के ते ऋषय इति । प्राण वा ऋषयः । ते यत् पुरा-अस्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषं स्तस्माद् ऋषयः ॥

शत० ६।१।१।१

शतपथ में अन्यत्र भी ऐसे कई स्थल हैं जहां सत् और असत् का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत प्रकरण में असत् को ऋषि कहा है, जो प्राण रूप में थे। असत् को अमूर्त, अमृत, यत्, त्यत्-त्यय आदि नामों से वर्णित किया है तथा इसी प्रकार सत् के मूर्त, मर्त्य और स्थित आदि अनेक नाम शत० में आये हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—'तस्माद् असतः सद् अजायत'। ६।२

अर्थात्--असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है।

उपरोक्त वेद मन्त्र का भाव यह है कि सृष्टि के आदि में न सत् था, न असत्। उस समय तो प्रकृति के मूल परमाणु साम्यावस्था में विद्यमान थे।

## सम्पीडन सिद्धान्त

प्रकृति से विकृति की उत्तरोत्तर अवस्था परिवर्तन में सम्पीडन सिद्धान्त का काम कर रहा था। महाभारत में इसका बड़ा विस्तार से वर्णन है।

शब्दलक्षणमाकाशं शब्दतन्मात्रमावृणोत् ।
तेन सम्पीड्यमानस्तु स्पर्शमात्रं ससर्ज ह ॥ महा० शान्ति० २३६।३०

अर्थात्—शब्दतन्मात्रा ने आकाश को सम्पीडित किया । जिससे स्पर्श तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई । इसी प्रकार सम्पीडन के प्रभाव से सब भूत उत्पन्न हुए ।

## वेद में सृष्टि क्रम का वर्णन

वैदिक सन्ध्या में प्रयुक्त ऋग्वेद के तीन मन्त्रों पर विचार कीजिये:—

ओं ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णव ।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतोवशी ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथोस्वः ॥
ऋ० १०।१९०।१,२,३

भावार्थ—सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् प्रभु ने गत कल्प में चेतन अचेतन समस्त जगत् को ईक्षण द्वारा रचा था । उसके पश्चात् उसी ने अपनी महती सामर्थ्य से प्रलयकाल रूपी महारात्रीको उत्पन्न किया । तत्पश्चात् उसी सहज स्वभाव से सकल जगत् को बनाने वाले प्रभु ने प्रकृति के मूल तत्वों में गति उत्पन्न करके संवत्सर-प्रजापति-हिरण्यगर्भ रूप महदण्ड को उत्पन्न किया, और उसी के भीतर प्रकाशक और प्रकाश्य रूप उभयविध लोकों का निर्माण किया । तत्पश्चात् प्रत्यक्ष दृश्यमान प्रकाशक, प्रकाश्य लोकों, मध्यवर्ती आकाश एवं क्षुद्र गतिशील उल्का-पिण्डों की रचना की ।

## हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति

ऋग्वेद का मन्त्र है—

स ईं वृषाजनयत् तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति ।
सो अपां नपादनभिम्लानवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष ॥ ऋ० २।३५।१३

अर्थ—(सः) उस (वृषा) वर्षणशील अग्नि ने (तासु) उन आपः में (गर्भं) अण्ड को (अजनयत्) उत्पन्न किया । (सः) वह (शिशु) बालक (ईं) आपों को (धयति) चूंघता है, वे आपः (तं) उस शिशु को (रिहन्ति) चाटते हैं । वह (अपां नपात् विद्युत अग्नि) मानों दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो गया ।

इस गर्भ के निर्माण में अपां नपात् के अतिरिक्त अग्नि और वात का भी हाथ था । आपों के प्रधान होने से गर्भ, हिरण्यगर्भ हो गया । एक संवत्सर पर्यन्त यह आपः के अन्दर तैरता रहा । इसमें तीन प्रकार की गतियां हो रही थी । वे ही गतियां आगे चलकर पृथिवी आदि ग्रहों को दांय भाग के रूप में प्राप्त हुई हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१—पर्यप्लवन (Rotation about its own asu's).

२—प्रसर्पण (Direct speed).

३—समेषण (Revolution about the Center of the system).

## पृथिवी की उत्पत्ति

"इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा" । शत० १४।१।२।१०

अर्थात् —यह भूमि भुवनों में सर्वप्रथम उत्पन्न है । अण्ड के अधो भाग से इसकी उत्पत्ति हुई । आत्मनो ध्यानात् मनु० १।१२) अर्थात् ब्रह्म के अपने ध्यान और वायु के वेग से गर्भ दो टुकड़ों में टूट गया ।

पृथिवी की नौ सृष्टियां:—पृथिवी पर उत्तरोत्तर नौ प्रकार की सृष्टियां उत्पन्न हुईं ।

**स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत । स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूष सिकतं शर्कराम् अश्मानम् अयो हिरण्यम् ओषधि वनस्पतिं असृजत । तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत् ॥**

अर्थात्— इस पृथिवी पर क्रमशः फेन, मृतिका, शुष्कायम, ऊषर, सिकता, शर्करा, अश्मा, अय-हिरण्य तथा ओषधि-वनस्पति उत्पन्न हुई । ये ही पृथिवी की नौ सृष्टियां हैं ।

## पृथिवी गर्भ में अग्नि

शतपथ ब्राह्मण में पृथिवी को अग्निगर्भा कहा है—

**अग्नि गर्भां पृथिवी** । शत० १४।६।४।२१

यूरोपियन गैमो लिखता है—

"The temperature of the rocks steadily increases as wedig deeper and deeper beneath the surface..

यह पृथिवी परिमण्डला (surrounding atmospheres) है । यह अयस्मयी, सर्पराज्ञी विसरूपा तथा दधिरूपा है । ये नाम इसके क्यों पड़े, इसके लिये यहां स्थान नहीं है । तदर्थं एक पृथक् लेख की आवश्यकता हैं ।

## अन्तरिक्ष की उत्पत्ति

पंच भूतों में आकाश तत्व की उत्पत्ति पूर्व बतला चुके हैं। यह अन्तरिक्ष शब्द उस आकाश शब्द का पर्याय नहीं है । इसीलिये सत्यार्थ प्रकाश में देव दयानन्द ने लिखा है—'वास्तव में आकाश (अन्तरिक्ष की उत्पत्ति नहीं होती । महदण्ड की नाभि से अर्थात् मध्य भाग से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति हुई ।

**नाभ्याः आसीद् अन्तरिक्षम्** ॥ ऋ० १०।९०। १४

अन्तरिक्ष में वायु का प्रधान स्थान है। वायुर अन्तरिक्षे 'दीप्यते' । जै० ऋ० १।१९२

अर्थात्—अन्तरिक्ष में वायु दीप्त होता है । यह किससे दीप्त होता है ?

अग्निना । वायुना, आदित्यः । आदित्येन चन्द्रमाः ।

अर्थात् —अग्नि से वायु, वायु से सूर्य और सूर्य से चन्द्रमा प्रकाशित होता है । प्रश्न होता है कि अग्नि किस से दीप्त होता है ? उत्तर है—प्राणेन वाऽग्नि र्दीप्यते । (शत०)

अन्तरिक्ष स्थान नहीं है। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी अन्तरिक्ष में (Cosmic rays) आदि का अस्तित्व मानते हैं।

Coming out into the interstellar medium from the envelopes of these stars. (which lie in the region of the galactic plane) Cosmic particles fill the whole quasi-spherical galaxy, and there they lose their energy, mainly as a result of nuclear collisions. (Elementary particle and cosmic Ray Physics, Vol IV P. 390).

वायु के साथ ही अन्तरिक्ष में वयांसि उत्पन्न हुये तथा मरुतों का भी जन्म हुआ। मरुत तथा वयांसि अग्नि प्रधान हैं। मरुतों की अन्तरिक्ष में संख्या ४९ है। उनमें से मरीचि सर्व श्रेष्ठ है। मरीचिः मरुताम् अस्मि ।। गीता १०।२१, मरुत आपः कणों की वि युत युक्त रश्मियां हैं। ये सात-सात के गणों में चलते हैं।

## अन्तरिक्ष में विद्युत चक्र

अन्तरिक्ष में मरुतों के कारण विद्युत-चुम्बकीय-क्षेत्र उत्पन्न होते हैं।

Barnet writes—A current of electricity is always surrounded by a magntic field, and conversely that unedr certain conditions magnetic forces can be induced electrical currents.

अन्तरिक्ष की विद्युत के चार भेद हैं—पूर्व में सूर्यकांता, दक्षिण में शतह्रदा, पश्चिम में तडित् और उत्तर में सौदामिनी। ये चार और इनके अवान्तर भेद मरुतों के कारण ही बनते हैं।

## आदित्य-सृजन

सोऽकामयत। भूय एव स्यात् प्रजायेतेति। स वायुनाऽन्तरिक्षं मिथुनं समभवत्। ········ततोऽसावादित्यऽसृज्यत। ······अथ कपाले य रसो लिप्त··द्यौरभवत् ॥

शत० ६।१।२।३

भाव यह है, कि हिरण्यगर्भ के ऊपरी भाग से आदित्य की उत्पत्ति हुई। कपाल में जो रस लिप्त था उसकी रश्मियां बनी। और कपाल से द्यौ की सृष्टि हुई। आदित्य में पार्थिव अंश नहीं अथवा रजः के रूप में अति स्वल्प है। वायु, आपः और अग्नि परमाणुओं का आदित्य में बाहुल्य है। ऐसा ही वैज्ञानिकों ने परीक्षणों से सिद्ध किया है—

The Earth's density is some four times as great as the sun's, Since the mean density of the earth is 5.5 times that of water, that of the sun is 1.4. Alredy we are beginnig to glimpse the fact that the sun can not be in a solid state, for its constituents materials are on the average muchless dense than those of solid materials of which the earth is composed. (jbid, Page, 342)

## कभी सूर्य-भूमि के समीप था

इमे वै सहास्तां ते वायुर्व्यवात् ।। तै० सं० ३।४।३

अर्थात्—ये (तीनों लोक) निश्चय एक साथ थे । वायु ने उन्हें पृथक् किया ।

Various universes were much closer together when the solar system was formed than thay are now. (Sikon the other worlds P. 150).

## चन्द्रमा की उत्पत्ति

चन्द्रमा का जन्म पृथिवी से नहीं, आदित्य से हुआ । चन्द्रमा के पार्थक्य के समय आदित्य प्रकाश और उष्णता का पूरा पुंज नहीं बना था । यदि वह वर्तमान सूर्य रूप बन गया होता तो उससे निकलने वाला चन्द्र भी उष्णता आदि गुण युक्त होता ।

स आदित्वेद दिवं मिथुनं समभवत् ।……ततश्चन्द्रमाऽसृज्यत् । एष वै रेतः । अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्, तानि नक्षत्राण्यभवन् । अथ य कपाले रसो लिप्त आसीत् ता अवान्तरदिशोऽभवन् । अथ यत् कपालमासीत् ता दिशोऽभवन् ।।
शत० ६।१।२।४

अर्थात्—आदित्य का दिन से मिथुन हुआ । उससे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ । यह ही रेत है । अश्रुओं से नक्षत्र बने । कपाल के रस से अवान्तर दिशाएं तथा कपाल से दिशाएं उत्पन्न हुईं ।

ऋक्षचन्द्रग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्य सम्भवाः । वायु० पु० ५०।६६

## नक्षत्र उत्पत्ति

चन्द्रमा के सृजन के साथ ही अन्य नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई । यह ऊपर बतला ही दिया है । नक्षत्रों की कुल संख्या २७ है कुछ विद्वान् २८ भी मानते हैं । अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, आद्रा, पुर्नवसु, पुष्य, मघा, फाल्गुनी (पूर्वा उत्तारा, च), हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येठा, मूल, षाढा (पूर्वोत्तारा), श्रवण, घनिष्ठा, शतभिषज्, भाद्रपदा (उभौ), रेवती और आश्लेषा ये २७ नक्षत्र हैं । अभिजित नक्षत्र २८वां है । इतने ही उपनक्षत्र हैं ।

तानि वा एतानि सप्तविंशतिः नक्षत्राणि । सप्तविंशति ह्योपनक्षत्राणि । एकंकं नक्षत्रम् अनुपतिष्ठन्ते ।। शत० १०।४।५

## ग्रह तथा केतु

ग्रहों की उत्पत्ति हम सूर्य से बतला चुके हैं । सभी ग्रह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं—

The plants are cool bodies and have no intrinsic light of their own, we see a planet by means of light from thc sun that falls upon it and is refleckd back, as the

sun light penetrates into the atmosphere of the planet, it is partially scattered and partially absorved. (Sifeon other worlds P. 49)

सूर्य की पृथिवी से दूरी ९ करोड ४० लाख मील मानकर सब ग्रहों को एक पैमाने पर ऐसे दिखला सकते हैं—सूर्य को ६" व्यास की गेंद मान ले तो उससे बुद्ध ७, शुक्र १३, पृथिवी १८, बृहस्पति ९०, शनि १७०, वारुणी ५४० और यम ७०० गज दूर बिन्दु के समान होगे। सभी सूर्य की परिक्रमा करते हैं।

केतुओं की संख्या देवल ऋषि के अनुसार १०८ है। यथा—आग्नेय (१५), रौद्र (२१), उद्दालकिसुत (१०), मृत्यु (४), काश्यपेय (१४), माहेय (२५), सोसम्भव (३), बारुण (३), यमपुत्र (१३) धूमकेतु सब केतुओं में प्रमुख है।

## असंख्य महद्दण्डों से सृष्टि विस्तार

अण्डानां तु सहस्राण्ययुतानि च। ईदृशानां तथा तत्र कोटि कोटिशतानि च॥

विष्णु पु० ७।२७

अर्थात्—अण्ड सहस्रों के सहस्र और दश सहस्र थे। ऐसे अण्ड करोड़ो-करोड़ो सैंकड़ों थे। इन्हीं करोड़ों अण्डों से करोड़ों सृष्टियां उत्पन्न हुई।

# वैदिक साहित्य का प्रयोजन और मानववाद

—डा० दिलीप वेदालंकार—

**'वेद' का अर्थ है विश्वात्म ज्ञान।**

वेद-विद्या लक्ष्य मानव जीवन और विश्व-जीवन की रचना की व्याख्या करना है। इस प्रकार सृष्टि विद्या ही वेद-विद्या है। सृष्टि विद्या अनन्त है। उसी प्रकार वेद-विद्या का भी कोई अन्त नहीं। तुच्छ से तुच्छ भूत के कार्यकलाप पर दृष्टिपात कीजिये, उसी में एक विश्व समाया हुआ है। अणु परमाणु-विद्युदणु (इलेक्ट्रन) के संगठन-विगठन के परीक्षण द्वारा पदार्थों व भूतों की जानकारी लेना प्रक्रिया है। किन्तु प्रत्येक भूत के भीतर विद्यमान अक्सर प्राण तत्व का दर्शन यह ऋषियों की पद्धति है। आचार्य यास्क के शब्दों में 'ऋषि' वह है "जिसने धर्म का साक्षात्कार अर्थात् स्वयं अनुभव किया हो।"[२] धर्म का अर्थ है "धारणात्म तत्व"[३] कोई मत, सम्प्रदाय व पंथ धर्म नहीं। "धर्म उन नियमों की संज्ञा है जिनसे यह सृष्टि-प्रक्रिया गतिशील है।" यह सहज प्रतीत होता है कि क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् के भूत में कोई ध्रुव तत्व अवश्य है। यह प्रत्यक्ष दृश्यमान ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से सम्पूर्ण भौतिक प्रपंच प्राणी समूह से और फिर जड़-चेतन रूप उभयविध सृष्टि किसी परात्पर सूत्र से परस्पर आबद्ध है।[४] चर्म चक्षुओं एवं तर्कादि से अगोचर इस "सूत्रस्य-सूत्रम्" चक्षुओं ने अन्तः प्रत्यक्ष द्वारा दर्शन प्राप्त किया है।[५] मनुष्य के सम्मुख सृष्टि का जो अनन्त विस्तार है, वह उसी सच्चिदानन्द स्वरूप, निर्विकार, सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी विश्वात्मा की कृति। सृष्टि कर्त्ता परमात्मा की यह जड़ चेतन सृष्टि उसकी माया या छाया नहीं, अपितु उसके कुछ शाश्वत नियम सूक्ष्म और विराट् विश्व के अनन्त रूपों की एक सूत्र में ग्रथित किये हैं। विज्ञान बतलाता है कि कोटि-कोटि प्रकाश वर्षों की दूरी पर स्थित नक्षत्रों में परमाणु के विकास व विलय के जो नियम कार्य कर रहे हैं, वे ही हमारी

---

१—विदन्ति आनन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यपथा येर्येणु वा
तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते "वेदाः" (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, पृ० २०)

२—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। (निरुक्त १।२०)

३—धारणाद्धर्मः।

४—यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजाः इमाः।
सूत्रस्य सूत्रं यो विद्यात् सो विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥ (अथर्ववेद १०।८।३८)

५—(क) अन्तरिच्छन्ति तं जनं रुदं परो मनीषमा।
गृमणार्धन्ति तं ज जिह्वा समम्। (ऋ० ८।७२।३)
(ख) वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा यत्। (अथर्व० २।१।१) यजु० २५।८

इस पृथ्वी पर भी हैं। दसों दिशाओं और सभी कालों में विश्व-प्रवाह की एक अखण्ड धारा बह रही है। अगणित परीक्षणों के उपरान्त भी इन नियमों की अखलित गति में किसी प्रकार का विपर्यय नहीं पाया जा सका। इन्हीं नियमों की ध्रुवता में दृढ़ विश्वास से ही आज वैज्ञानिक नि:शंक होकर यहीं भूलोक पर बैठे बैठे चन्द्र लोक व मंगल ग्रह की यात्रा की योजना तैयार कर देते हैं। इसका कारण विश्व का अखण्ड नियम है जो सर्वत्र फैला हुआ है। वैज्ञानिक इसे "सुप्रीम ला" कह कर श्रद्धा से नत है। वैदिक भाषा में यही "ऋत" कहलाता है। जड़ चेतन सब में ऋत का एक तन्तु ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य, ग्रह-उपग्रह, ये सभी ऋतपथ के अनुयायी हैं। देवगण भी ऋत से बढ़ने वाले (ऋतावृधा:) कहे गये हैं। अग्नि-देव ऋत का रक्षक (गोपामृतस्य) ऋत से उत्पन्न हुआ। (ऋत प्रजात) ऋत से घिरा हुआ (ऋतप्रवीत) है। वैदिक ऋषि कहता है कि ऋत के फैले हुए तन्तु को देखने के लिये मैं लोक-लोकान्तर घूम आया।[1] द्युलोक और पृथिवी, लोकान्तरों और दिशाओं में सर्वत्र मैंने ऋत के तन्तु को फैला हुआ देखा। ऋत और सत्य उत्पन्न करने के लिये ईश्वर ने भी तप किया।[2] इस कल्पना में अनुभव की सच्चाई निहित है। ऊपर प्रतिपादित विधान में जगन्नियन्ता के सत्यसंकल्प का स्पष्ट प्रभाव है। सत्य और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। सृष्टि-प्रवाह में जो स्थान ऋत का है, मानव के नैतिक व्यवहार में वही स्थान सत्य का है। मनसा, वाचा, कर्मणा समरूप होना ही सत्य है। इस सत्य के प्रसाद पर आरूढ़ होने के लिये व्रत की सीढ़ी की जरूरत है। व्रत-विहीन जीवन उस नौका की भांति है जिसके नाविक ने अपने गन्तव्य स्थान का निश्चय न किया हो। देव सदा सत्यमय बने रहते हैं, क्योंकि उनके व्रत नित्य हैं। जो जीवन में सत्य के व्रत को अपनाता है, उसी का जीवन दीक्षित है।[4] वेद बताता है कि सत्यवादी का प्राण उसे उत्तम लोक में धारण करता है।[5] अर्थात् सत्यवादी का जीवन ऊंचा उठता है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में "यज्ञमय परमात्मा के संसार की उत्पत्ति का वर्णन है कि सृष्टि का सृजन करते समय आदि पुरुष ने अपनी निरन्तर आहुति देकर संसार की प्रत्येक चीज बनाई। ब्रह्माण्ड में निरन्तर एक यज्ञ हो रहा है। ब्रह्माण्ड में जो यज्ञ हो रहा है वह परोपकारार्थ है। अत: यज्ञ का सबसे प्रधान गुण त्याग है। इसके बिना यज्ञ के अन्य अंग सर्वथा पंगु हो जाते हैं। यह वह दिव्य संकल्प है जो पूर्ण शक्ति, पूर्ण रूप से दिव्य बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है। यज्ञ वह शक्ति है जिससे सत्य चेतना क्रिया किया करती है। यज्ञ का भाव है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है, उसे वह ब्रह्मापर्ण कर दे। भगवान् मनु का कथन है कि पंच महायज्ञों व इतर यज्ञों के अनुष्ठान से मनुष्य अपने शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप

---

१—परि विश्वा भुवनान्यायम्।
ऋतस्य तन्तुं विततं दृशेकम्॥

२—परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वः परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदभवत् तदपश्यत् तदासीत्॥

३—ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्।
तपसो ध्यजायत (ऋ० १०।१९०।१)

४—यः सत्यं वदति स दीक्षितः। (का० ७।३)

५—प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आद्धत (अथ० ११। प्राण शूक्त)

बना लेता है।[१] शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त मार्मिक ढंग से अग्निहोत्र कर्म से सम्बद्ध विभिन्न वस्तुओं को आध्यात्मिक व्याख्या को गई हैं। इसमें बताया गया है कि यज्ञ केवल भौतिक ही नहीं होता, अपितु उसका मर्म समझने के लिये या उसका उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिये उसको आध्यात्मिक दृष्टि से समझ कर उसका आध्यात्मिक अनुष्ठान करना आवश्यक है। सन्दर्भ इस प्रकार है— "अग्निहोत्री गो इस अग्निहोत्री की वाणी है। उसका बछड़ा इसका मन ही है। तो यह मन और वाणी समान से होते हुये भी भिन्न हैं। अतः बछड़े और उसकी माता को एक समान रस्सी से बांधते हैं। तेज अर्थात् अग्नि ही अग्निहोत्री की श्रद्धा तथा इसका आज्य (घी) सत्य है। उसे याज्ञवल्क्य ने कहा—' निश्चय ही यहां तब (सृष्टि के आरम्भ में) कुछ भी नहीं था, फिर भी सत्य का श्रद्धा में हवन किया जाता था।[२]

वस्तुतः यज्ञ वैदिक जीवन का आधार है। यह वह जिस पर ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, दर्शन, विज्ञान आदि अपना कृत्य पूरा करते हैं। यज्ञ उस आन्तरिक और बाह्य प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा यजमान यज्ञ पुरुष के प्रति समर्पित हो जाता है।

उपर्युक्त समग्र विवेचन का अभिप्राय यह है कि समस्त वेद दर्शन के केन्द्रीभूत विषय है—आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, ऋत-सत्य-व्रत-यज्ञ। जगत् के कारणभूत तीन मूल तत्वों का याथातथ्य उपदेश कर यज्ञमयी सृष्टि में निहित ऋत सत्य एवं व्रतों का दर्शन ही देवदर्शन है और वैदिक धर्म भी यही है—आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का सम्यक् विज्ञान प्राप्त कर "ऋत" के आधीन सत्यशील और व्रत परायण होकर यज्ञ कर्मों को करते हुए पूर्ण वैभवशाली जीवन व्यतीत करना, उस सर्वान्तर्यामी परमसत्ता का अन्तः प्रत्यक्ष करना तथा सब भूतों में एक आत्मतत्व के दर्शन द्वारा समदृष्टि बन कर प्राणिमात्र का उपनाद करना, अपनी समाज की, राष्ट्र की तथा सारी मानवता कीं शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति करना। वेद में धर्म, कर्म, विज्ञान दर्शन एवं उपासना योग कोई पृथक् विषय नहीं है। वहां जीवन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन एक अविच्छिन्न इकाई है। वहां व्यवित की सम्पूर्ण शक्तियो का उपभोग कर एक ऐसी पूर्णऔर सहज जीवन पद्धति के विकास करने पर वल दिया जाता है जिसमें भौतिक एवं मानसिक शक्तियों को व्यक्तित्व के सर्वांग सुन्दर विकास और समाज निर्माण के मार्ग में सहयोगी बना लिया जाता है।

स्पष्ट है कि वेद के इस धर्म, दर्शन और जीवन पद्धति को किसी मत, सम्प्रदाय या पंथ के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। वह तो ऋत तत्व के पुजारी सत्यान्वेषी ऋषियों की सत्यानुभूति का फल है। वह देश-काल की सीमाओं में न बांधा जाने वाला सार्वभौम सत्य है। संसार के विभिन्न मत-मतान्तरों की अनेक मान्यताओं ब तर्क और विज्ञान की कसौटी पर असत्य सिद्ध होती है। किन्तु वैदिक धर्म और दर्शन इन कसौटियों पर खरा उतरता है। "प्राणिमात्र में आत्म तत्व के दर्शन कराने वाले इस उदात्त धर्म एवं इस विश्वधारा संस्कृति में किसी प्रकार के द्वेष, भेदभाव और अत्याचार की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वेद-स्वयं कहता है कि आत्मदर्शी के लिये तो समस्त विश्व एक घोंसले की तरह बन जाता है—'यत्र विश्वं भवत्येकनीड्म्।' ज्ञान-कर्म उपासना की जो त्रिवेणी इसमें प्रवाहित हुई है वह मनुष्य मात्र के लिये समान उपयोगी है।

---

१—महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः। (मनु०२।२८)

२—द्र० शत० ब्रा० ११।३।१

वैदिक दर्शन कोरा ऊहात्मक दर्शनशास्त्र नहीं है और न ही वैदिक धर्म थोथा आदर्शवाद। इस दर्शन में विश्व मिथ्या या भ्रम अथवा ब्रह्म की माया या छाया नहीं है।[1] यह भी विश्वात्मा की तरह अनादि और अनन्त हैं। इसमें उत्पन्न होने वाले जीवों की भी अपनी पारमार्थिक सत्ता है।[2] यहां पर हर जीवन की सार्थकता है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त शरीर प्राणी के लाभ एवं उपयोग के लिये है। उसकी दी हुई अन्य भौतिक वस्तुएं भी जीव के उपयोग के लिये है। उनमें हेयता या तुच्छता कैसी? अतः संसार को दुःखमय मानकर उससे डर कर भागने का उपदेश यहां नहीं मिलता। यहां तो हर ऋषि अपनी सब इन्द्रियों के उपभोग को रखते हुये पूरे सौ वर्ष व इससे भी अधिक ही जीना चाहता है। उसे जीवन के सब वैभव चाहिए दुधारु गोवें चाहिये, प्रजननशक्ति सम्पन्न सांड चाहियें, तीव्रगामी बलवान् घोड़े चाहिएं, उत्तम रथ चाहिये, अन्न चाहिये, धन चाहिये, स्वर्ण चाहिए, वीरपुत्र चाहिये।[3]

अतः वेद सब मानव जीवन की लोकयात्रा की सिद्धि का मार्ग भी प्रशस्त करता है। उसमें मनुष्योपयोगी सब ज्ञानों का मूल विद्यमान है—गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, नौविमानादि विद्या, सृष्टि विद्या, विविध प्रकार की कलाएं, उद्योग-धन्धे, व्यापार देशाटन, काव्यशैलियां, काव्यालंकार आदि कितने हो विषय वेद में समाविष्ट हैं। स्वामी दयानन्द का कथन है कि वेद के चार विषय हैं—

"विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। इनमें भी विज्ञान मुख्य है क्योंकि इसमें परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त सभी पदार्थों का साक्षात् ज्ञान है।"

इस सृष्टि वर्णन के सन्दर्भ में ही यज्ञविद्या, उद्गीथविद्या, भूतविद्या, आचारविद्या आदि न जाने कितने विद्याओं के संकेत वेदों में स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं। उन सबका स्वरूप और मर्म क्या है? यह आज भी वेद के विद्वानों के लिये चुनौती है। यह सब देख-जानकर स्वामी दयानन्द की यह धारणा हृदय में घर कर लेती है कि वेद सब सत्यविद्याओं की पुस्तक है। विज्ञान

---

१—द्र० पृ० ६४।

२—द्र० पृ० ७४।

३—(क) गावो अस्मन्नुत मद्रमक्रन्सीदन्तु गोष्ठ रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरु रूपा इय स्युरिन्द्राय पूर्वी रस्सो दुहानाः। (ऋ० ६।२८।१)

(ख) शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसातन्नाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो, मध्या रारिषतायुर्गन्तो॥
अर्थात्—हे देवताओ! आपने सौ वर्ष के आसपास ही हमारे तनों का बुढ़ापा बनाया है। तब तक हमारे पुत्र भी पिता हो चुके होते हैं। हमारा जीवन इसी प्रकार चले। बीच में ही यह टूट न जावे।

(ग) मानो हेतिर्विवस्वतः।
आदित्या कृद्रिमा शरूः।
पुरा न जरसो वधात्। (ऋ० ८।६७।२०)
अर्थात्—हे आदित्यो! हमारा जीवन बुढ़ापे तक ठीक चले उससे पहले ही काल की कटनी उसे काट न दे या और कोई अन्य कोई अस्वाभाविक मार इसे मिटा न दे।

और दर्शन दोनों के मूलभूत सिद्धान्त वेद में प्रतिपादित हैं। वर्णाश्रम की पद्धति पर एक सुदृढ़ समाज व्यवस्था की नींव वैदिक महर्षियों की मानव समाज को एक अमूल्य देन है। वेद ने मानव मात्र के लिये सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नीतिशास्त्र का विधान किया है। राजा और प्रजा के धर्म व पारस्परिक सम्बन्ध नियत कर मनु ने सुदृढ़ शासन व्यवस्था की है। अतः मनु के ये वचन सर्वांशतः सत्य हैं—

"सेनापतित्व, राज्यशासन, दण्डविधान नेतृत्व तथा चक्रवर्ती राज्यशासन इन सबके लिये वह योग्य होता है जो वेद शास्त्र को जानता हो। भूत, वर्तमान और भविष्य सब वेदों से सिद्ध होते हैं। सनातन वेदशास्त्र ही संसार के सब प्राणियों के लिये परम साधन है। वृद्धों, विद्वानों और साधारण मनुष्यों के लिये ही वेद ही सनातन चक्षु हैं। इसकी इयत्ता असीम है, दुर्विज्ञेय है।[1] भगवान् व्यास का भी मन्तव्य है कि इस लोक में समस्त आगमशास्त्र तथा सभी प्रवृत्तियां वेद को ही आधार बनाकर प्रवृत्त हुई हैं।[2] मुनि याज्ञवल्क्य का कथन है कि वेदशास्त्र के अतिरिक्त कोई अन्य शास्त्र नहीं। सभी शास्त्र सनातन वेदशास्त्र से ही निःसृत हुए हैं।[3]

## मनुर्भव

इस चराचर सृष्टि में मनुष्य ही "कर्म-योनि" को ग्रहण करता है और चिन्तन-शक्ति से युक्त होता है—"मत्वा कर्माणि सीव्यति" (निरुक्त) अतः वेद-प्रतिपादित समस्त विज्ञान कर्मकाण्ड और उपासना-मार्ग मनुष्य के लिये ही है। वही ब्रह्म-साक्षात्कार का अधिकारी भी है। अन्य प्राणी समूह तो "भोग-योनि" में जन्म लेने से स्वतन्त्र ज्ञान क्रिया से रहित भय, शोक आदि प्रवृत्तियों से ही विवश होकर विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। हर मानव जुलाहे की भांति निरन्तर कर्म-तन्तुओं के बाने को बुनता रहता है। अतः वेद में कहा है—

"जीव जुलाहे अपने ज्ञान-प्रकाश के ताने को तानता हुआ तू द्युलोक तक अनुसरण करता जा। इस तरह कलाविदों एवं ज्ञानियों के बुद्धि कौशल से बनाये गये ज्ञान रूपी प्रकाशमय तरीकों की तू रक्षा कर इस तानें में भक्तों के व्यापक कर्मों को एकसार बुन मनशील हो और दिव्य जन के जीवन को (इस दिव्यजन रूपी वस्त्र को) फैला अर्थात् बना।[4]

---

१—सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्॥
पितृ देव मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यम् प्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ (मनु० १२।१००, ९७।९४

२—यानीहागमशास्त्राणि याश्चकाश्च प्रवृत्तयः।
तानिवेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथा क्रमम्॥ (महा भा० अनु० १२२।४)

३.—न वेदशास्त्रदन्यत्तु किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥

४—तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि, ज्योतिष्मतः पथोरक्षधियाकृतान्।
अनुल्वणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्य जनम्॥ (ऋ० १९।५३।६)

हे जीव ! तू हमेशा कुछ न कुछ बुनता रहता है। अपने भाग्य को, अपने भविष्य को, अपने जीवन को बुनता रहता है। जीवन इसके सिवाय और क्या है कि मनुष्य अपने ज्ञान (समझ) के अनुसार कुछ दूर तक देखता है और फिर उसके अनुसार कर्म करता जाता है।

इस तरह जीव अपने ज्ञान के ताने में कर्म का बाना डालता हुआ निरन्तर अपने जीवन-पट बनाया करता है। किन्तु हे जीव-जुलाहे अब तू अपना यह मामूली रद्दी कपड़ा बुनना छोड़ कर दिव्य जीवन का खद्दर बुन, "देव्यजन" को उत्पन्न कर। इसके लिये "जीवन का खद्दर बुन तुझे बड़ा सुन्दर और बड़ा लम्बा ताना करना पड़ेगा। तू अपने रज के ज्योति के, ज्ञान प्रकाश के चमकीले ताने को तानता हुआ, भानु तक, भुलोक तक चला जा। भुलोक तक विस्तृत प्रकाशमान ताना तन।" दिव्य पट के लिये यह जरूरी है ऐसे दिव्य वस्त्र बनाने की लुप्त हुई कला की रक्षा इस तरह हो सकती है। अतः इस उद्योग में पड़ कर तू उस ज्ञान प्रकाशमय प्रणालियों की रक्षा कर जिन्हें कि कलाविदों ने अपनी कुशल बुद्धि द्वारा बड़े यत्न से आविष्कृत किया था। दिव्य-जीवन बनाने में पड़ कर उन देवानाद प्रकाशमान मार्गों की रक्षा कर जिन्हें कि इनके ज्ञानी यात्रियों ने चलाया था। अस्तु, ज्ञान के इस दिव्य ताने को तू फिर भक्तों के कर्म द्वारा बुन, इस ताने में भक्ति रस से भिगोया हुआ अपने व्यापक क्रम का बाना डालता जा और ध्यान रख, तेरी बुनावट एकसार होवे कभी ऊंचा-नीचा या गंठीला न होवे। सावधान रह कि सदा उस ज्ञान के अनुसार ही तेरा ठीक कर्म चले और वह कर्म सदा प्रभु शक्ति से ही प्रेरित हो। इस सावधानी के लिये तुझे पूरा मननशील होना पड़ेगा, सतत विचार तत्पर होना होगा। तभी यह दिव्य जींवन का सुन्दर पट तैयार हो सकेगा। अतः हे जुलाहे ! तू अब दिव्य जीवन बुनने के लिये उठ और इस लुप्त होती जाती अमूल्य दिव्य कला की रक्षा कर।

परमेश्वर ने सब प्राणियों को उत्पन्न कर मानव देह की रचना की। उसमें उसे अपनी सम्पूर्ण कारीगरी की परमावधि प्रतीत हुई। ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—"उन देवताओं के सामने गाय लायी गई, उन्होंने उसे देखकर कहा कि यह जैसा चाहिये वैसा नहीं है। पश्चात् उन देवताओं के सामने घोड़ा लाया गया। उन्होंने उसे देखकर कहा कि यह भी जैसा चाहिये वैसा नहीं है।" पश्चात् उन देवताओं के सामने 'पुरुष' अर्थात् मानवी देह को लाया गया।

इस मानवी देह को देवों ने देखा और कहा कि अहा ! यह सुन्दर बना है। निश्चय ही मानव शरीर—"सुकृति" है। अतः हे देवों ! इसमें प्रवेश करो और अपने योग्य निवास में जाकर रहो। आगे कहा गया कि मनुष्य शरीर को अपने योग्य स्थान समझ कर देवताओं ने उसमें प्रवेश किया तथा सानन्द रहने लगे। अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रविष्ट हुआ। वायु, प्राण बन कर नासिका में प्रविष्ट हुआ। सूर्य आंख बनकर नेत्र में निवास करने लगा। दिशाएं स्रोत्र बन कर कानों में जाकर रहने लगीं। औषधि वनस्पतियां बाल बनकर त्वचा में रहने लगीं। चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ।[1] मृत्यु अपान बनकर नाभि में रहने लगा और जल-वीर्य बनकर

---

१—ताभ्यो गामानयत, ता अब्रुवन्, न वे नो यमलमिति।
ताभ्योऽश्वमानयत, ता अब्रुवन्, न वे नो यमलमिति।
ताभ्यः पुरुषमानयत्, ता अब्रुवन्, सु कृतं बतेति।
पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीत्। यथायतनं प्रविशतेति॥ (एत॰ उप॰ १।२)

शिश्न में रहने लगा ।[1] इस प्रकार यह पुरुष शरीर देव-मन्दिर है ।[2] संहिताओं में भी परमात्मा के विश्व रूप देह में तैंतीस देवताओं के निवास के वर्णन की भांति ही उसके अंशभूत मानव-शरीर में भी उन्हीं देवताओं के पुत्र रूप देवों की सत्ता का भाव विद्यमान है। अथर्ववेद में कहा गया है—"पहिले दस देवों से दस देव एक साथ उत्पन्न हुए। उनको प्रत्यक्ष जो जान ले वही अब ब्रह्म के विषय में प्रवचन कर सकता है। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, विक्षति, व्यान, उदान, वाणी और मन ये दस छोटे देव बड़े देवों के पुत्र हैं।—ये दस पुत्र देव, दस पिता देवों से उत्पन्न हुये थे। पिता देवों ने पुत्र देवों को मानवी शरीर में स्थान दिया और वे पिता देव भला कहां जाकर बसने लगे ? ये देव संसिच् नामक हैं। सब मर्त्य पदार्थों को अपने अमृतरस से सिंचित करके ये देव मनुष्य शरीर में प्रविष्ट हुए—अस्थि की समिधा बनायी और रेतस् का घृत बनाया और रेतस् के साथ ये देव मानवी शरीर में घुस गये। इन देवताओं के साथ ब्रह्म ने शरीर में जीव भाव से प्रवेश किया। इसलिये ज्ञानीजन इस पुरुष को ब्रह्म ही मानते हैं। सब देवरूपी गौवें गोशाला में रहने के समान इस शरीर रूपी शाला में रहती है।"[3] अथर्ववेद में अन्यत्र मानव शरीर को नौ द्वारों वाली अयोध्या, देवों की नगरी कहा गया है।[4] मानव-शरीर में देवताओं के प्रवेश की बात श्रीमद् भागवत् में भी वर्णित है।[5]

धर्म-अर्थ-मोक्ष-काम इन चारों पुरुषार्थों का एकमात्र साधन मानवीय शरीर है। मानवी शरीर न मिला, क्षीण रहा अथवा काल की कटनी से अकाल में ही कट के रह गया तो कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इसलिये वेद में शरीर के संरक्षण, पोषण तथा दीर्घायु होने की बार-बार प्रार्थना की है।[6]

वेद में मनुष्य को "अमृत-पुत्र" ही कह दिया है—वह सूरि है, वर्चस्वी है, शुक्र है, भ्राजमान् है, आनन्दमय है—

सूरिरसि, वर्चोधा असि, तनूपानोसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥
शुक्रोसि, भ्राजोसि, स्वरोसि, ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयासमति समं क्रामम् ॥ (अथर्व० २।११।४-५)

---

१—अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णे प्राविशन्।
औषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्
मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशन् ॥ (एत० उप० १।२)

२—द्र०—अर्थ १०।७।१२,१३,२७,३३,३४।

३—दश साकमजायन्त देवा देवेभ्य, पुरा।
यो वै तान् विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥

४—नवद्वारा देवानां पूरयोध्या (अथ० का० सू० १०।२)

५—श्रीमद् भागवत्, ३।२६।६३-७०

६—द्र०—ऋ० ७।६६।१६, यजु० ३६।२४, अथर्व० १६।६०।६१ इत्यादि।

अर्थात् हे नर ! तू तो विद्वान् है, शरीर-रक्षक है। अपने को पहचान। श्रेष्ठों तक पहुंच, बराबर वालों से आगे बढ़। हे नर ! तू तो शुक्र है, तेजस्वी है, आनन्दमय है, ज्योतिष्मान् है। अपने को पहचान श्रेष्ठों तक पहुंच, बराबर वालों से आगे बढ़।

किन्तु सुकृति का फल यह दिव्य मानव-देह यों ही व्यर्थ जाने के लिये नहीं है उसे सांसारिक विषयों में उलझ कर नहीं रह जाना है। अतः वेद उसका उद्बोधन करता है—

उत्क्रामातः पुरुष मावपत्या
मृत्योः षड्वीशमनमु वमनः।
उद्यानं ते पुरुष नावयानं
जीवातु ते दक्षताति कृणोमि ॥ (अथर्व ८।१।४-६)

अर्थात्—हे नर ! उन्नति कर, अवनत मत हो, मौत की वेड़ी को काट डाल। हे नर ! देख, जीवन में तेरी उन्नति होनी चाहिये, अधोगति नहीं। तेरे अन्दर में जीवन और बल को फूंकता हूं।

अपने वास्तविक स्वरूप को जान कर मनुष्य वेद के शब्दों में सिंहनाद कर उठता है—
अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं, न मृत्युवे वतस्थे कदाचन।
सोमभिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु, नेमे पूरवः सख्ये रिषायन ॥ (ऋ० १०।४८।५)

अर्थात्—मैं इन्द्र (आत्मा) हूं। कभी भी हराया नहीं जा सकता। मेरा ऐश्वर्य कभी भी छीना नहीं जा सकता। प्रकृति के साथ मेरी लड़ाई ठनी है। प्रकृति मेरा ऐश्वर्य छीनना चाहती है, पर मैं प्रकृति के साथ संघर्ष में सदा विजयी होता हूं और जितना-जितना विजयी होता जाता हूं, उतना मुझमें नया-नया ऐश्वर्य होता जाता है। ऐसा क्यों न हो ? मैं तो मौत को भी खा जाने वाला हूं। सब दुनिया को खा जाने वाली मौत भी मेरे सामने नहीं ठहर सकती है। हे मनुष्यो ? तुम कहां प्रकृति की मोहिनी मूर्ति के सामने ऐश्वर्य के लिये गिड़गिड़ाते फिरते हो ? यह माया तुम्हें धोखा ही दे सकती है, ऐश्वर्य नहीं दे सकती। इससे जो कुछ ऐश्वर्य मिलते तुम्हें दीखते हैं, वे सब वास्तव में मेरी शक्ति से ही मिलते हैं। इसलिये आओ, मनुष्यो ! तुम मुझसे ऐश्वर्य मांगों। मैं तुम्हें सब कुछ दूंगा। पर एक शर्त है। सोम का सेवन करते हुये—यज्ञार्थ कर्म करते हुये ही तुम मुझसे ऐश्वर्य मांगो, संसार में सच्चा सोम का रस आत्म-ज्ञान ही है। इस ज्ञान के निष्पादन करने में सहायक तुम्हारे जितने कर्म हैं, वे सब सोम सवन ही हैं। ये यज्ञार्थ कर्म हैं। ये यज्ञ कर्म तुम्हें अमर बनाते हैं। हे मनुष्यो ! तुम मुझ आत्मा से मैत्री करो तो तुम विनाश से पार हो जाओगे। यह दावा है कि मेरे मित्र का इस संसार में कोई नाश नहीं कर सकता। आओ। मेरे पास आओ। मैं आत्मा तुम्हें अमर बना दूंगा।

हे नर-तन पाने वालो ! सुनो। तुम्हारे ही आत्मा का यह सिंहनाद है। तुम्हारा आत्मा गरज रहा है, सुनो।[1]

वेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैदिक विद्वानों ने अनेक भ्रांतियां उत्पन्न कर दी हैं। इसका कारण उनकी विकासवाद में अन्ध भक्ति है जिसके अनुसार प्रारम्भिक मनुष्य जंगली थे तथा

---

१—प्रा० अभयदेव—"वैदिकविनय", भाग-२, पृ० १३।

मानव ने भाषा, विज्ञान तथा आत्म-विज्ञान में उत्तरोत्तर उन्नति की है। ऐसे ही एक "जर्मन विद्वान् ओल्डनबर्ग" का विचार है कि वेद में—"प्राचीन गडरियों के विस्मय व आशंका से भरे गीतों के अतिरिक्त रखा क्या है ?"

वेद केवल पुरुष रूप में कल्पित प्राकृतिक घटनाओं के प्रति की गई भद्दी पूजा है। अथवा, इसमें कर्मकाण्ड में बोले जाने वाले अर्ध धार्मिक, अर्थ-जादू भरे स्तोत हैं, जिनको पढ़कर आदिकाल के अर्ध श्रद्धालु पशु प्राय: मानव आशा करते थे कि इन मन्त्रों के प्रभाव से उन्हें सुवर्ण, अन्न और पशु मिलेंगे और वे रोगों, अनर्थो एवं राक्षसी प्रभावों से बच सकेंगे और इस प्रकार अलौकिक स्वर्ग के स्थूल आनन्द भोग सकेंगे। इन जंगली पुरोहितों के देवता भी जंगली ही थे, जिनका काम, जब चाहा, घोड़ों और रथों पर आसमान चीरते हुए थोड़ी-सी पुरोडास, मक्खन, मांस के टुकड़े और एक प्याला सोम के लिये दौड़ते चले आने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।' न वैदिक धर्म में आध्यात्मिक अभ्युदय के लिये कोई दैवी स्तुति ही है। ऐसा लगता है कि जैसे उनका काम वैदिक कविता और स्वर्ग की कामना के अतिरिक्त कुछ नहीं था। विंटरनित्स लिखते हैं—"ऋग्वेद के सूक्तों में सपिंड्य और सगोत्र्य विवाह, स्त्री-अपहरण, व्यभिचार, भ्रूण हत्या तथा धोखा, चोरी और डकैती का भी उल्लेख है। आधुनिक जातियों की वर्गीकरण विद्या (Enthnology) सतयुगी पुरुषों का अस्तित्व आदि नहीं मानती, मानव जाति का वर्गीकरण विद्या का आधुनिक विद्वान् जानता हैं कि पहला मनुष्य अति असभ्य था। अति विभिन्न साँस्कृतिक अवस्थाओं की अनन्त सीढ़ियां चढ़कर उन्नति होते-होते अर्धसभ्य जातियां और सभ्य जातियां बनी हैं। किन्तु यह विकासवाद वेदों के आगे टिक नहीं सकता। विश्व वांग्मय में प्राचीनतम माने जाने, वाले ग्रन्थ ऋग्वेद में एक परम सत्ता की स्पष्ट स्वीकृति, सृष्टि में विद्यमान एक अटूट नियम"ऋत" का अन्वेषण, विश्व-बन्धुत्व, उन्नत सामाजिक व्यवस्था इत्यादि तथ्यों से इस काल्पनिक विचार का निराकरण हो जाता है।

इसके विपरीत मैक्समूलर, केगी, पिशेल, गैलडनर आदि कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो कि वेद के उत्कर्ष और उत्तम काव्य के काफी प्रशंसक हैं तथापि वे वेद को मात्र गाथा शास्त्र और कर्मकाण्डपरक पुस्तक मानते हैं तथा वेद के आध्यात्मिक तथा नैतिक महत्व की उपेक्षा करते हैं। उनकी यह भ्रान्ति वस्तुत: प्रसिद्ध वेदभाष्यकार आचार्य सायण के भाष्य से उत्पन्न हुई है। सायण भाष्य के अनुसार वैदिक शिक्षा का उपयोग ऐसे आचार सम्बन्धी धर्माचरण में नहीं हैं, जिसके नैतिक तथा आध्यात्मिक परिणाम होते हैं किन्तु याज्ञिक क्रिया-कलाप के यान्त्रिक तौर पर किये जाने में हैं जिसके भौतिक फल मिलते हैं। इसी कर्मकाण्ड के सांचे के अन्दर वह वेद की भाषा को ठोक-पीट कर डालता है।

वेद-रहस्य को प्रकाशित करने वाली एक किरण स्वामी दयानन्द के भाष्य में उदित हुई। स्वामी जी ने आचार्य यास्क के निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन तथा वेद की अन्त: साक्षी से इस रहस्य को जाना कि वैदिक शब्द योगिक तथा योगरूढ़ हैं, रूढ़ नहीं। इस प्रकार स्वामी जी ने बहुदेववाद तथा मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादित सर्वेश्वरवाद का प्रबल खण्डन किया।

वस्तुत: इन पाश्चात्य विद्वानों ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र आदि का जो बखेड़ा खड़ा कर रखा है, वह अभी अटकल पच्चू ही है तथा उसके परिणाम परिवर्तनशील हैं। वैदिक मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ होते हैं। आधिभौतिक रूप में भी

वेद में इस भौतिक जगत् से सम्बद्ध विज्ञान का ही प्रकाश होता है, न कि लौकिक कथानकों का। ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों ही विषय प्रतिपाद्य हैं और तीनों का समन्वय मानव जीवन में अपेक्षित हैं। वेद की ऋचाओं में—इन्द्र अग्नि द्वारा एक ही परम देवता परमात्मा के गीत गाये गए हैं। ये अनेक नाम इसी अभिप्राय और उद्देश्य से साभिप्राय प्रयुक्त किये गए हैं कि उस एक देव के भिन्न-भिन्न गुणों तथा शक्तियों का वर्णन करें।

प्रकृति प्रवन्ध का विषय—"वैदिक साहित्य में मानववाद" है। अतः वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में भी थोड़ा विचार कर लेना यहां अभीष्ट है। वैदिक साहित्य का मुख्य विकास ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—इन चार वेदों से सम्बन्धित संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के रूप में हुआ। इनके अतिरिक्त इन्हीं को समझने समझाने में सहायक होने वाले एवं इन संहिता आदि मूल ग्रन्थों में सांकेतिक अनेक प्रकार की विद्याओं व क्रमबद्ध अनुशासन एवं विस्तार आदि करने वाले बहुसंख्यक लक्षण शास्त्रों का पदपाठों, प्रातिशाख्यों, अनुक्रमणियों, अंगों, उपांगों और उपवेदों के रूप में धीरे-धीरे विकास हुआ।

ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना यज्ञों के विधान और विवरण स्पष्ट रूप से देने के लिये हुई है। अतः विधि और अर्थवाद ही उनके स्वरूप के मुख्य अंग रहे। परन्तु उनके बनाने वाले ऋषि लोग याज्ञिक मात्र न थे, विचारक भी थे। वे विभिन्न याज्ञिक कर्मों के तात्विक और औपचारिक भावों की गवेषणा भी किया करते थे। यही यज्ञ क्षेत्रीय ज्ञान-विज्ञान की चर्चाएं "आरण्यक" कहलाने वाले ग्रन्थों का मुख्य विषय है।

आरम्भ में ये आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ अन्तिम भागों के रूप में जुड़े रहते थे। शुक्ल यजुर्वेदियों का 'बृहदारण्यक" अभी तक उनके शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अर्थात् १४वें कांड के रूप में ही पाया जाता है। धीरे-धीरे ऐसा लगने लगा कि इन ग्रन्थों का विचारात्मक विषय ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकांड स्वरूप मुख्य विषय से ठीक मेल नहीं खाता। परिणामतः, इनका पृथक् ग्रन्थों के रूप में विकास होने लगा।

कर्मकाण्ड और ज्ञानकांड की दोनों ही धाराएं बहुत पहले से समानान्तर होकर चलती आती थी। इनमें से कर्मकांड की धारा जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों के रूप में विस्तृत हुई, वैसे ही ज्ञान कांड की धारा भी उपनिषद्-नामक ग्रन्थों के रूप में विस्तृत हुई। इसी कारण उपनिषद्-साहित्य को "वेदान्त" अर्थात् "वेद-मत" भी कहा गया।

उपनिषदों में जहां सामान्यतः ऐहिक और आमुष्यिक, दोनों ही प्रकार के सुखों से उदासीन मोक्ष-मार्ग का उपदेश पाया जाता है. वहां मोक्षपद की प्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञादि कर्मों के त्याग का नहीं, प्रत्युत उनसे प्राप्य फलों की आसक्ति के त्याग का ही प्रायः निर्देश किया है। कहीं-कहीं यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा भी की है। ईशोपनिषद् (मं० २) में तो यहां तक कह दिया गया है कि कर्म-निरत रहते हुए भी मनुष्य मोक्ष-लाभ कर सकता है। अतः यही कहते बनता है कि उपनिषदों में कर्म-सापेक्ष एवं कर्म-निरपेक्ष, दोनों ही प्रकार के मोक्ष-मार्ग के संकेत मिलते हैं।

वैदिक वाङ्मय के घटक स्वरूप संहिता-ग्रन्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक-ग्रन्थ और उपनिषद्-ग्रन्थ सभी मिलकर "श्रुति" अर्थात् मूल वचन कहे जाते हैं।

## वेदांग

वैदिक ऋषि-कुलों में मुख्यतः वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का पठन-पाठन चलता था। उस अभ्यास क्रम में दो बातें मुख्य होती थीं। उच्चारण, पाठ अथवा गान शुद्ध हो और पद-पदार्थ का ठीक बोध हो। साथ ही, व्यावहारिक दृष्टि से, शिष्यों को यह भी परि-ज्ञान कराना होता था कि यज्ञ कर्म किस-किस समय और किस-किस प्रकार करना चाहिये तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तरों पर आचरण कैसा-कैसा होना चाहिये।

इन वेदांगीय ग्रन्थों द्वारा मुख्य रूप से छः विद्याओं का अभ्यास कराया जाता था। इन विद्याओं के नाम थे—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष। इन "अंगों" अर्थात् "विद्याओं" के अभ्यास का इतिहास बहुत पुराना है। मुण्डकोपनिषद् (१,१,५) में तो इन्हें यही छः नाम लेकर इसी क्रम से परिगणित किया ही है, संहिताओं, ब्राह्मणों,आरण्यकों और अन्य उपनिषदों में और भी ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं, जिनसे इन विद्याओं का पर्याप्त व्यापक प्रचार सूचित होता है।

उसी स्रोत से प्रेरणा पाकर स्मृतियों और धर्मशास्त्रों एवं रामायण, महाभारत तथा पुराणों के विशाल साहित्य का विस्तार हुआ। इधर की ही मौलिक प्रेरणाओं के परिणाम स्वरूप पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक सूत्रों की रचना हुई, जिनमें प्राचीन भारत का वैदिक तत्वज्ञान निहित है। ये ही प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय वेदों के छः उपांग कहलाते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद, गन्धर्व वेद, धनुर्वेद और अर्थवेद, इन चार विद्याओं की और आगे विवृद्धि हुई और इन्हें उपवेदों का नाम दिया गया। इनके अतिरिक्त नीतिशास्त्र, अलंकारशास्त्र और वास्तुशास्त्र आदि उत्तरोत्तर विकसित होती रही प्राचीन भारत की अन्य सभी विद्याएं भी मूलतः पूर्वीय वर्णित वाङ मय पर ही आश्रित थीं।

अतः वैदिक साहित्य राशि को ही युग-युगान्तर से बहती चली आ रही भारत की शाश्वत वाङमयी गंगा की गंगोत्तरी कहना सर्वथा उचित होगा।[1]

कुछ लोगों की ऐसी मान्यता बन गई है कि ऋग्वेद में आध्यात्मिक रहस्य-विज्ञान का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है, यज्ञ का भी वहां गौण स्थान या अवान्तर सम्बन्ध है।

यज्ञसंस्था का पूर्ण विकास तो ब्राह्मणों में ही देखने को मिलता है। इन लोगों का विचार है कि वैदिक युग के उस प्रारम्भिक काल में मानव-मस्तिष्क का विकास यहीं तक पहुंच पाया था कि बाह्य जगत् के अन्तर्गत जो कुछ हो रहा है, वह भिन्न-भिन्न देवताओं की महिमा का खेल है। इस भावना से कुछ आगे बढ़ने पर, धीरे-धीरे, यह भाव भी पैदा हो गया था कि ये सब देवता किन मुख्य देवताओं के ही अवान्तर रूप हैं और वे तीन हैं—अग्नि, इन्द्र तथा आदित्य। तदुपरान्त जब इन तीन देवताओं की भी तात्विक एकता के आभास की ओर मानवीय बुद्धि कुछ और आगे बढ़ी और समय पाकर सर्वत्र व्यापक तत्-सद्-एक-स्वरूप विश्वात्मा का कुछ-कुछ भान प्राप्त कर सकी, तब साहित्यिक विकास के इतिहास के दृष्टिकोण से उपनिषत्काल का सूत्रपात हो चुका था।

किन्तु बात यह नहीं है। वेद में भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपों से उस एक

परमदेव की विश्व रूपता को प्रकट करते हैं।[1] न केवल तथाकथित वाद के अंशों में प्रत्युत सारे ही ऋग्वेद में हमें इस विचार की पुष्टि करने वाले मन्त्र और वचन मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने वेद के एक पक्ष-कर्मकांड की परम्परा को ही पकड़ा तो दूसरी ओर उपनिषदों के रचयिता मननशील ऋषियों ने वेद को अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के प्रकाश में देखा और उसे अपनी ही भाषा में प्रस्तुत किया। उपनिषद्-धारा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म के विरोध में नहीं हैं अपितु उसके समानान्तर ही समान मूल स्रोत वेद के ही दूसरे पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य की धारा अति विस्तीर्ण है।

संक्षेप में इस चराचर जगत् ही एक ऐसा प्राणी है जो विवेक बुद्धि से समन्वित हैं। वही ज्ञान की प्राप्ति कर तदनुसार शुभ कर्मों का सम्पादन कर कल्याणपथ का पथिक बनने का अधिकारी है। मनुष्य योनि एवं मनुष्यत्व की महत्ता को विश्व के सभी धर्म ग्रन्थों, विचारकों और दार्शनिकों ने एक स्वर से सोदघोष स्वीकार किया है।

सम्पूर्ण सृष्टि में मानव की श्रेष्ठता और मानव शरीर की दुर्बलता के कारण समय-समय पर मानव-कल्याण को लेकर अनेक प्रकार के अध्ययनों, आन्दोलनों, दर्शनों व चिन्तन-धाराओं का प्रादुर्भाव हुआ है। सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान एवं कला कौशल का मूल मनुष्य ही है। इस मानव-हित को लेकर पाश्चात्य में १९वीं तथा २०वीं शताब्दी में मानववाद दर्शन की एक विचारधारा के रूप मैं प्रारम्भ हुआ। मानववाद समष्टिगत होकर व्यष्टिकल्याण की चिन्तनधारा हैं। वह समस्त मानवजाति को लक्ष्य मानकर व्यष्टि-मानव के कल्याण का जीवन-दर्शन है, मानवीय गुणों के प्रति जागरुकता ने पुनर्जागण काल में मानव गौरव की स्थापना की और साहित्यकारों, नीति-शास्त्रियों, शिक्षा-विशारदौ, धार्मिक नेताओं तथा राजनैतिक और सामाजिक चिंतकों को आकृष्ट किया। बीसवों शताब्दी के प्रो० शिलर ने कहा कि मानव अनुभव ही इस संसार में चिन्तन का विषय, समस्त मूल्यों का मापदण्ड और समस्त वस्तुओ का निर्माता है। इस प्रकार मानववाद आधुनिक काल का एक प्रसिद्ध और बृहत् दर्शन हित बन गया और साम्यवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद तथा अन्य अनेक रूपों में मानवहित के उद्देश्य को लेकर समाज के चितकों कै मनन का विषय बना। मानव-हित के लिये मानववाद को धार्मिक, नैतिक, भौतिकवादी एवं राजनैतिक आदि अनेक दर्शनों की प्रतियोगिता में जाना पड़ा। पश्चिम में काण्ट, सार्त्रे, शिलर, जाक भारिता, श्वित्जर, कारलिसलेमांट, जान स्टुअर्ट, मिल आदि तथा भारतीय विचारकों में भी श्री अरविंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, श्री पी० टी० राजू, श्रीमती एलनराय तथा श्री शिवनारायण राय आदि कितने ही विद्वानों ने मानववाद को अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया।

---

१—द्र०—पृ० ९१।

जर्मन दार्शनिक, दार्शनिक काण्ट ने व्यावहारिक बुद्धि की मुख्यता का उल्लेख किया तथा शिलर उसे मानते हुये प्रेय की धारणा को प्रधान और यथार्थ की धारणा को गौण मानते हैं। सार्त्रे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को आवश्यक मानते हैं और उनका अस्तित्ववाद मानव केन्द्रित होकर रह गया। फ्रेंच विचारक जाक मारितां आन्तरिक मानवीय गुणों का विकास करने पर बल देते हुए भौतिक जीवन के आनन्द को क्षुद्र मानते हैं और "त्यागमय वीरोचित जीवन की कामना को मानव-वाद में आवश्यक बतलाते हैं,वे मानववाद में धर्म और ईश्वर के साथ नैतिक और सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति को अनिवार्य मानते हैं। इसके विपरीत जान स्टुअर्ट, मिल आदि अनेकानेक दार्शनिक मानववाद का मूलभाव ऐसी नैतिकता को मानते हैं जो ऐहिक जीवन, भौतिकवाद तथा सांसारिक सुख तक सीमित हैं तथा जो प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता का भौतिक दृष्टि से ही मूल्यांकन करती हैं—आध्यात्मिकता अथवा पारलौकिकता के लिये उसमें कोई स्थान नहीं।

प्रो० पेरी ने शिक्षा-सम्बन्धी तत्व पर अपनी परिभाषा में प्रकाश डाला। 'प्रो० लेमाण्ट ने सृजनात्मक स्वतन्त्रता और मानव-मानव में मैत्री भावना को अपने मानववाद में स्थान दिया है। डा० अलबर्ट श्वितजर ने मनुष्यमात्र की समानता को महत्व दिया है। इस समानता के लिये नैतिक गुणों का विकास और उनका पोषण अनिवार्य माना है। श्री अब्राह्म का मत भी मानववाद में अलौकिक तथा दैवी विशेषताओं का संकेत करता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण वक्तव्य का अभिप्राय यह है कि अभी २०वीं सदी में पश्चिम में अपने मानव वाद का कोई निश्चित स्वरूप एवं नियत परिभाषा नहीं बन पाई है, तथापि यह एक ऐसा जीवन दर्शन है जो लोक मंगल की भावना,समत्व की भावना सथा भेद भावों, पूर्वाग्रहों एवं अन्धविश्वासों से उन्मुक्त होकर औदित्य और त्याग का दिव्य सन्देश देता है तथा मानव के अन्तः बाह्य परिष्कार के द्वारा उसे मानवोचित गुणों से युक्त करके पूर्ण विकास की ओर अग्रसर करता है। किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान मानववाद के चिंतकों एवं पोषकों ने मानव कल्याण के विभिन्न तत्वों पर प्रायः एकांगी दृष्टि से ही विचार किया है। जिन चिन्तकों ने मनुष्य के भौतिक और आत्मिक उभयविध विकास की आवश्यकता को अनुभव भी किया, वे भी मानव-जीवन की कोई ऐसी निश्चित योजना प्रस्तुत नहीं कर सके जिसका अवलम्बन लेकर व्यष्टि एवं समष्टि मानव अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि कर सके।

इसके विपरीत वैदिक संस्कृति के प्रणेता तत्वदर्शी महर्षियों ने आत्मानुभूति के अन्तदर्शन से इस समस्त चराचर सृष्टि के मूल में निहित, सृष्टि के निर्मित कारण, सर्वव्यापक एवं सर्वान्त-र्यामी परमसत्ता का साक्षात्कार किया जिसके नियन्त्रण में यह निखिल ब्रह्माण्ड चल रहा है। उसके नियम ऋत-अटल एवं शाश्वत हैं। प्राणिमात्र उसी परमपिता की सन्तान रूप है। ईश्वर दयालु

एवं न्यायकारी है। वास्तविक दया के लिये न्याय-व्यवस्था परमावश्यक है, यह बात लोकसिद्ध है। अतः उसकी न्याय व्यवस्था कर्मसिद्धान्त के फल स्वरूप ही प्राणी विभिन्न योनियों में संसरण करता है। वस्तुतः समस्त प्राणियों में निहित आत्मा एक हैं। वह अजर और अमर है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्मानुसार ही विभिन्न शरीरों को प्राप्त होता है। अतः सब प्राणियों में एक आत्मा तत्व के दर्शन करना तथा सबको परमपिता की संतान समझ कर उनमें भ्रातृभाव रखना वैदिक दर्शन की शिक्षा है। इसके साथ ही वैदिक कर्म सिद्धान्त सब प्रकार की नैतिकताओं का मूल है।

वैदिकतत्व द्रष्टाओं का विश्वास है कि निरन्तर संस्कार से प्राणी शनैः-शनै ऊंचा उठता हुआ अन्ततः परमात्म साक्षात्कार कर मोक्ष व अपवर्ग का अधिकारी बनता है। किन्तु वैदिक दर्शन सब प्राणियों में भ्रातृत्व भाव जगाकर सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझने का आधार प्रस्तुत करता है। यहां हिंसक की हिंसकवृत्ति का भी नियमन कर उसकी शक्तियों का प्राणी-हित में उपभोग कर उन्हें भी आत्म विकास के पथ पर ले आया जाता है।

किन्तु मनुष्य के बुद्धि समन्वित प्राणी होने से वैदिक ज्ञान व दर्शन का केन्द्र बिन्दु तो मनुष्य ही है। अन्य प्राणी तो "भोग-योनि" में जन्म लेने से अन्तः प्रवत्तियों से ही विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। केवल मनुष्य ही "कर्म योनि" में जन्म ग्रहण कराता है और बुद्धिपूर्वक शुभ कर्मों में प्रवृत्त होकर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के बन्धन काटकर मोक्ष पद का अधिकारी बन सकता है किन्तु इस मुक्ति के लिये वैदिक धर्म इस संसार को तुच्छ या दुःखरूप मानकर इससे भागने का सन्देश नहीं देता। यह विश्व भी ब्रह्म रूप ही है और प्रत्येक मनुष्य को इसका भोग करना ही है। लेकिन क्योंकि सब प्राणी आपस में भाई-बन्धु ही हैं। अतः समस्त भौतिक-पदार्थों का उपभोग एवं ज्ञान-विज्ञान का उपयोग सबने मिलकर करना है यह विचार उसमें त्यागपूर्वक उपभोग करने की दिव्य प्रेरणा—त्यक्तेन भुंजीथा—उत्पन्न करता है भौतिकता और आध्यात्मिकता का सन्तुलन और सामंजस्य वैदिक-संस्कृति की एकान्तिक विशेषता है। यहां मानव-जीवन को एक अविच्छिन्न इकाई मानकर उसके शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक सर्वविध-विकास की योजना बनाई गई है। वैदिक आश्रम व्यवस्था जहां व्यक्ति के पूर्ण विकास की व्यवस्था है वहां वैदिक वर्णव्यवस्था मानव के सामूहिक विकास की। दोनों एक साथ चलती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपास्य यमनियमों में भी जहां "नियम" प्रधान रूप से व्यष्टि के उत्कर्ष का मूल है वहां यमों की भूमि पर ही समस्त मानव-कल्याण का प्रसार प्रतिष्ठित है। अस्तित्ववादी भी सत्य, अहिंसा आदि का किसी न किसी रूप में आश्रय लेता है किन्तु उसका आधार बालुकामय ही होता है और उस पर निर्मित मानव-कल्याण का महल किसी भी समय धराशायी हो सकता है। यही कारण है कि विश्व शान्ति और विश्वबन्धु की रट लगा लगा कर भी समय-समय पर व्यक्तियों और राष्ट्रों ने मानव जाति को युद्ध और अहिंसा की आग में झोंका है।

वैदिक संस्कृति का प्राण है -- "यज्ञ"। यह मात्र कर्मकाण्ड व बाह्य न होकर मनुष्य की आत्मा का अंग भी है और व्यक्ति को -- सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय त्याग की प्रेरणा देता रहता है।

एक ईश्वर में अटूट विश्वास एवं उसकी उपासना, परमात्मा की अटल व्यवस्था "ऋत तत्व" के अनुसार सत्यमय जीवन, सब प्राणियों में समदृष्टि, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति मानना, अष्टांग-योग द्वारा व्यष्टि-समष्टि का सर्वविध उत्कर्ष करना ही वैदिक-समाज व्यवस्था तथा वैदिक शासन व्यवस्था का भी मूल मन्त्र है।

वेद में मानव के नैतिक और आत्मिक विकास के लिये जहां एक सुनियोजित आचार-शास्त्र का विधान है वहां मानव के भौतिक अभ्युदय के लिये विविध प्रकार का विज्ञान, शिल्प, उद्योग एवं कलाएं भी वेद में वर्णित हैं। जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रबन्ध में किया गया है।

इस प्रकार यद्यपि मानव-कल्याण की प्रबल भावना से ही पश्चिम में मानव-वादी चिंतन-धारा प्रवृत्त हुई किन्तु वह अभी अपनी विकास-परम्परा में ही है और मानव-हित के लिये उसके सर्वविध विकास और परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कोई निश्चित एवं एक सूत्र में ग्रथित समाज व्यवस्था, शासन-व्यवस्था और आचार-शास्त्र नहीं दे सकी। हमारा विश्वास है कि ऊपर वर्णित वैदिक धर्म ही मानव-मात्र का सच्चा सुन्दर-स्वरूप प्रस्तुत करता है।

# A Cursary Look on the Subjects-which Got no Response from Writers.

□ *Acharya Vaidyanath Shastri*

**In the eve of the Arya Samaj foundation Centenary celebration some salient subjects were fixed for having the articles of the learned scholars on them for the Ved Sammelan. Unfortunately some of them in spite of greater response on the other subjects of the exhaustive list, remaind untouched. I, as the convener of the Ved-Sammelan which was unprecedented, shoulder the responsibility to write something on these subjects. In the following lines I will try my best to do justice with them.**

## 1. Meaning of term Yajna-

**In the Vedas the Yajnas occupy a very important place. The term denoting these Yajnas is very comprehensive and flexible. The english language has no appropriate word for translating the terms *Yajna* and *Dharma*. Sacrifice and religion are not the real terms to be used respectively for YAJNA *and* DHARMA. In the Vedic verses all deeds, approaches, attainments and accomplishments of merit wisdom and art are encompassed by the term Yajna. In one chapter of holy Yajurveda (the 18th) this term has been verily applied to give the various meanings. All the arts and sciences are covered by it. It is due to the comprehensiveness of the term and its ambits that *Yajna* performed by the Aryans gave rise to various sciences. Says Swami Dayananda "All the acts of acumen, soberiety and dexterity and the Yajna performances from Agnihotra to Asvamedha are called Yajna." In the words of Yajnayalkya Yajna vai sresthatamam Karma i.e. all the excellent acts are called *Yajna*. The term not only means the acts of voluntary nature but also means the things of substantive and existing nature. "Yajnena Yajnamayajanta devah." i.e. the learned persons perform *Yajna* by Yajna, the fire. Here the *Yajna* stands to mean ignious substance. Tasmad Yajnat Sarvahutah etc. i.e. the *R.K.*, *Yajuh Saman* and Atharvan have their emergence from God who is adorable and worshippable by all. Here the term Yajna means God. In this way it is quite obvious that term Yajna has a very vast meaning.**

## 2. Absolutism And the Vedas.

**The realization of absolute is, as it is said, the final goal of philosophy. There is opposition to this fact that all knowledge is the knowledge of relations and yet we make an**

effort to transcend the region of relativity to arrive at the absolute. What is an absolute ? Can it be defined ? Taylor says. "We may, in fact conveniently define the absolute as that structure of the world system which may and every consistent purpose must recognize as the condition of its own fulfilment. To deny the existence of an absolute, thus defined, is in principle to reduce the world and life to mere chaos". At another place he says "Our absolute can now be said to be a conscious life which embraces the perfect Small Systematic unity as the contents of experience "Many philosophers like Kant and Fishtes have defined this absolute to suit their views, but, we are not going to make an attempt to give defination of absolute here.

The Neo-Vedantins would consider an absolute to suit them by reducing whole of the world to a choas or illusion. Nihilists, who are the pleader of the concept of Nagarjuns' void-theory also define absolute to their own convenience by annihilating the world to negation. But, no theory of absolutism would be perfect which does not reconcile itself to true scientific theories and facts, and the methods which a pragmatist may employ. Hegal seems too nearer to concept of an absolute because he takes a comprehensive views. His absolute is ground, organic unity and final end or term. We find in the creation law, order and purpose contrary to lawlessness disorderliness or purposelessness. Thus so far, the world is real. The relativity does not deny or contradict reality. We always find, that within a number of phenomena, there exists a general principle, and again, a higher principal presides over a number of minor principles. But the higher principle does not deny the minor ones. It simply embracest hem all. Nor a general principle denies phenomena. If the phenomena are illusive, the underlying principle may be equally illusive, if the relativity is unreal the absolute becomes meaningless. We are convinced of an absolute because we believe in the real diversity.

The doctrine of absolutism does not deny the reality of the relative world. The idea of an absolute embraces the minor and major principles. It gives coherence to the apparently incoherent world. The goal of knowledge is to transcend from ordinary phenomena to minor principles, from minor principles to laws, from laws to the fundamentals and ultimately, to the final law of laws, the absolute. Had phenomena not been a truth, the minor principles would not have been true and so have been our laws, fundamentals and the absolute itself. The verse of the Atharvadveda says—" YO VIDYAT VITATAM SUTRAM ETC. ie One who knows the thread or chain of the Thread or chain is the law of laws,. he knows the great Brahman, the Supreme Being. This is how the study of natural laws leads to the knowledge of Brahman. Really this is the idea of an absolute which the Vedas inculcate.

### 3. Time and Space In the Vedas.

Time and space play great roles in the arena of philosophy. What is time and how it can be defined is a question which seeks its solution from all philosophies. Same is the case with space. Some thinkers take undue advantage of time and space in dealing with the reality of ontological existences and specially the world around us. They say that time and space are two factors which reduce all the things to void. These two are the curb which limit all the things.

These limits can not anyhow be crossed over. They are not only dangers for the eternity of things but also even the reality of things. Time always flows in the flux of the things which are created, born and produced. It does not interfere into the existence of those things which are unborn, unproduced and uncreated. The influence of time on such things only affect the change of the things, into various states but not their reality. If a thing is created or born time is one of its causes. Says Atharva Veda कालो प्रश्वो बहति सप्तनामा सहस्राक्षो ह्यजरो भूरिरेता: । तमारोहन्ति कवयोविपश्चितः तस्य विश्वा भुवनानि चक्रा ।

Here the time has been described very powerful. Its activities are multifarious. It is pushing all the things with great vigour. The learned only can arrest the pressures of time. All the created objects tiny or gigantic are the wheels of this time. Time is flowing with rapidity in all the non-eternal things. So Veda presents very good and sound definition of time. Time is a kind of succession of changes which take place in all the changeable things. But it does not affect their metaphysical reality. All the things which are in effect-forms feel the pressures of time. This time is the base of arithmetic. The past, present and future are three phases of time which are felt by all the mental phenomena. Time flows through the tendencies and activities of mind. The Chittavrittis are always giving the clue of forceful influence of it. The past, present and future are caught by mind. Says Yajurveda येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परि गृहीतम् i.e. It is the mind which catches over the flow of past, present and future.

Space is the second factor which requires here a serious consideration. The possibility of motion in all direction is space. Space is the second curb which affects the things which are gross. It does not affect the things which are rare or infinitesimal. It's pervasiveness in the gross things does not anyhow affect the reality and eternity of things which are respectively gross and rare. An atom or the matter are not affected by space. A thing is divisible and non-eternal due to its being gross and composed of various parts not because of being pervaded by space. Space is known as *AKASHA*. The science of mathematics is the science of space-Height, length and breadth of a thing which is gross are due to space. These three give rise to the succeptibility of mathematics. The Yajurvedic Verse—इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् etc. give rise to this idea. The world perceptible to us is tridimensional. These dimensions are height, length and breadth. The fourth dimension is time which causes change. I would like in course of time to write a book exclusively on the subject of time and space.

## 4. Swami Dayanand's contribution to the Study of the Vedas.

Swami Dayanand's Contribution to the study of Vedas is not unknown to the scholars who are engaged in this field. The most important contribution of the great Swami in the range of knowledge is that he re-orientated the study of the Vedas, which had been neglected and ignored before his emergance. He gave a very sound approach to reach the depth of the meanings of Vedic Verses. He unequivocally declared that Vedas are the repository of all true knowledge. His Introduction to the Commentaries on the Vedas give the full idea of what, did he want to do and profess about the Vedas. His commentaries on the Rgveda and

the Yajurveda are emitting Vedic light towards all direction. like light houses. His revival of Vedic studies will bring fruit in future. He laid down his life in the service of the Veda and God. We do not attempt here more to say any thing regarding his unforgettable contribution. Let the posterity itself judge and come to conclusion on this point.

## 5. Universal Norms of Vedic Ethics.

Ethics is a normative science. The Vedas lay more emphasis on the ethics. Vedic ethics is not only for a person, a place or a time. It is for all human kind and for all time and clime. It is of universal nature. Its norms are for all and for ever. The fundamental elements of morality are laid down as under :

1. YAMAS and NIYAMAS
   Vidence Truthfulness, honesty, celibacy, non-attachment and purity external and internal, contentment, austerity, self study and devotion to God.

2. Ten Ingredients of righteousness—Perserverance, balance of mind on the occasion of condemnation or eulogy, respect or "disrespect", profit or loss and other troubles, control of mind, honesty, internal and external purity, control over senses, improvement of intellect, acquisition of accurate knowledge of all the things from the earth right upto God and applying it into life to keep consonance in thought, word and deed, truth and abandonment of anger.

3. Ten Principle--as follows :
   Kama—desire for goodness.
   Sankalpa—Aptitude for attaining goods.
   Vichikitsa—Raising doubts to arrive at real conclusion.
   Shraddha—Profound faith in God.
   Ashraddha—Aversion from blasphamy and mal—arguments etc.
   Dhritih—Imperturbability in the movements of pleasures and pains.
   Adhritih—Non-persistency in the matter of unrighteousness.
   Hrih—Hesitancy in non-adoption of truth.
   Dhih—Attitude of adopting virtues.
   Bhih—Tendency of fear arising out when something is thought to be done against the commandmmets of God.
   —Effort and confidence in God.
   —Performance of Yajnas.
   —Guidance from the dictates of conscience and ethical characteristic of God and idea of doing good to others.
   —Performance of duties of Varnas and Ashramas.
   —Yogic attainments.
   —Synthesis of knowledge and action.

## 6. Is Modern Communism Based on the Philosophy of Vedant.

What is really Vedant ? The philosophical system of the Veda is called Vedant. It is not the termini of the Veda. Anta here means principles or sidhant. So vedic Sidhanta is known as Vedant. The philosophical system of Vyasa in his Brahmasutra is known Vedanta. This system is concerned with three eternal substances in the root of the universe and they are God, s ul and matter. These are expressly described in the Vedant of Vyasa. This system gives its interpretation of the history as the spirituo-materalistic. Modern communism accepts the idea of the materialistic interpretation of history. Thus there is such vast gap between the two philosophies that it cannot be given fillip. So it is absurd that modern communism is based on the philosophy of Vedant.

The philosophy of the Vedant of Vyasa include in it as its fundamentals the following salient points :

1. Belief in One God.
2. God is the creator, sustainor and annihilator of the world.
3. He is an ideal of moral laws.
4. Souls are many and the world created by God has the purpose of being the means of Jivas' BHOGA AND MOKSA.
5. There is unity, uniformity and purpose in the worldly creation.
6. Matter is the material cause of the universe and is under the control of God.
7. God dispenses the justice and gives the fruit of the actions of the Jivas.
8. Disequilibrium has some base due to the law of KARMAN.

It is not being made known as how these principles of Vedant can be basis of the modern communism.

Now a days the interpretation of Shankara is declared by some stalwarts of neo-vedantic philosophy as the philosophy of Vedant. The real Vedant of Vyas is not in picture. Now neo-Vedanta has been given the name of the philosophy of Vedanta. It is a kind of dishonesty that Vyasasas' original Vedanta philosophy is being cornored and Shankaras' interpretation has been given the place of the Vedant. But by this fraud nothing can be gained. A lie never becomes truth. Shankaras' theory of Neo-Vedant is another name of Nagarjunas' nihilism. Both are the same. It is the opinion of some thinkers. Both believe in Anirvachaniyata. Both deny the reality of world. Both say that the Parmartha tattva—is neither existence nor non-existence. But this is not the philosophy of Vedant. It is a counterfeit of Vedant and tamasha of negation.

# Are some Vedic Verses Meaningless

□ *Acharya Vaidyanath Shastri*

SOME scholars allege that there are many verses in the Vedas which may be called entirely obscure. Some others go one step further and declare that some Vedic verses are not only obscure but quite unintelligible. There are few who, actuated by their habitude of extremity, say that there are some verses not only obscure or unintelligible but completely meaningless.

To describe Vedic verses obscure or unintelligible or meaningless is really a notion which, in its entirety, is dependent either upon the tendentious handling or upon the ignorance, of the subject. Raising doubts against the meaningfulness of the Vedic Mantras is not a new thing. It is traceable to not later than but some what prior to the period of the great war of Mahabharata when various treatises to explain the mystery of the Vedic religion and philosophy were under preparation. In the first instance we take here the etymology of *Yaskacharya*, called *Nirukta*. This is a science which deals with the various aspects of the formation and meaning of the Vedic words as well as the subject-matter etc. of the *Veda mantras.*

Delineating the utility and different functions of this science of *Nirukta Yaska* says "Moreever, without it the precise meaning of Vedic verses cannot be understood. For one who does not understand the meaning, a thorough investigation of account and grammatical form is not possible, hence this science is the complement of grammar and a means of accomplishing one's own object."

This declaration of Yaksa was objected by *Kautsa* in a very categorical manner. The arguments advanced by *Kautsa* to refute the statement of *Yaska* are as follows :

If the object of the science of *Nirukta* is to ascertain the meaning of the Vedic verses it is useless, for Vedic verses have no meaning. It is established on the strength :—

(a) that, because prepositions have the arrangement and order of their words fixed and immutable.

(b) that, because the accomplishment of the ritual form is enjoined by Brahmanas, as, 'spread it wide', and so he spreads; Let me pour out', and so he pours out.

(c) that, because their meaning is impossible, as 'Save him O plant ! and while striking, one declares 'Do not injure him O, axe.

(d) that, because their meaning is contradictory, as 'There was but one Rudra and no second, and Rudras, who are thousand without number ; O Indra thou art born without a foe, and Indra vanquished hundred armies together.

(e) that, because one enjoins a person who is already acquainted, as 'Address the hymn to Agni which is being kindled.

(f) that, because it is said, 'Aditi is every thing'. 'Aditi is heaven Aditi is atmosphere etc. will be explained later on.

(g) that, because their meaning is obscure, as *amyak, yadrismin, jaryayi, kanuka* etc.

Yaskacharya emphasizing his previous statement says that Vedic verses are significant because their words are identical with those of the spoken language. To speak that Vedic verses are meaningless is entirely absurd for many words which are used in the Vedas, are also identically used in the *bhasa*, the language of daily use. If used thus these words by their nature and characteristics convey their meanings, then, on the same ground, they used in Vedas will also have and convey meaning. It is the nature of the word to be significant, it matters not whether they are used in *bhasa* or in the Vedas. If Agni in our daily use gives some meaning because it is a word, it will surely give meaning when used in the Veda, because it is an expression there also. It would be absurd for *Kautsa* to deny that the words in spoken language express a meaning. Thus he is constrained to admit that the Vedic verses have a meaning.

So far as the Brahmanas are concerned they are meant for the perfection of the *Yajnas.* The prescription of the form or the injunctions for the action which is to be performed, is declared by a *mantra* of the Rg or the *Yajurveda*, as 'Be firm in your married life and your this bond be strong, playing with your sons and grand-sons etc. Thus Brahmanas lay only a proper emphasis on what has been prescribed by the *mantras* to perform.

Yaska replies the queries of *kautsa* to quash his objections in the following manner.

(a) As to the objection that propositions have their words fixed their order too is immutably fixed, our reply is that it is the same with regard to the everyday speech of the world, as Indra and Agni, father and son.

(b) As to the objection that the accomplishment of the ritual form is enjoined by the Brahmana, we reply that this is a mere reiteration of what has been said already.

(c) As to the objection that their meaning is impossible, we reply that no injury is to be afflicted, so it must be understood by the authority of the Vedic passage.

(d) As to the objection that their meaning is contradictory, our reply is that the same objection is applicable to the every day speech of the world, as 'this Brahmana has no "rival', 'this King has no enemies', etc.

(e) As to the objection that one enjoins a person who is already acquainted, our reply is that in salutation a person announces his name to one who is already acquainted with it; the mixture of honey and curd is declared to the guest who is already acquainted with it.

(f) As to the objection that Aditi is everything, we reply here that it is the same in the everyday speech of the world, as :All fluids reside in water'.

(g) As to the objection that their meaning is obscure, our reply is that it is not the fault of the post if the blind man does not see it, it is the fault of the man himself. Just as among the country-folk a man becomes distinguished with knowledge so among the scholars of the traditional Vedic lore a man of profound knowledge alone is worthy of praise.

At different places in his treatise *Yaska* gave the meaning of the words which were quoted by Kautsa in this context. The meanings are as follows :

*Amyak*—straight, concerned with spiritualism etc. Rg. I. 169-3.
*Yadrismin*—like that, in semblence with that. Rg. 5.44.8.
*Jaryayi*—was born, pro-created, was generated etc. Rg. 6.12.4.
*Kanuka*—shining; brilliant; effulgent; in possession, at disposal etc.

In his treatise of Mimansa philosopy, sage *Jaimini* dealing with the *yajnas* etc. coincidently has raised the similar questions regarding the matter. He has also maintained that the Vedic verses are meaningful. Any doubt about their meaningfulness is absurd. *Acharya Yaska* and sage *jaimini* both belong to Mahabharata period.

Sometimes, it is alleged that Vedas are meant only for the performance of *yajnas* and the verses which are not prescribed for any such performances are useless.

But it is totally wrong. The Vedic verses which issue injunctions are applicable in *yajnas* and rituals but those which do not issue any injunction of such a kind give the background of such injunctions. They perform the task of explaining their utility and feasibility etc, If Vedas, let it be for granted for a little, are meant only for issuing injunctions in performance of *yajnas* should on this ground be it established that they have no meaning ? Injunctions themselves imply that they have meaning.

The arguments put before *Jaimini* regarding the obscurity of Vedic verses, may be purported here as under :—

1. That the Vedic verses describe such things which are not present in the world, as the *Purusa*, is thousand-headed and thousand-eyed.
2. That the functions of living or conscious things have been described in non-living things and thus the non-living object has been addressed in vocative case, as 'protect O plant'.
3. That there are found some contradictory statements, as '*Aditi* is heaven and *Aditi* is atmosphere'.
4. That the prescriptions for reading the Vedas do not reveal the fact that they (Vedas) should be read with their meaning.

5. That there are certain verses which are entirely obscure, as *Amyaksa srinneva jarbhari turpharitu*. Here the expressions amyak, jarbhari and tuiphari are quite obscure.

6. That there is statement of some mortal (historical) person and place etc., as *'kinte krinvanti kikatesu'. gavah'*. Here *kikat* etc. express historical persons and things.

Jaimini refuted these arguments in the following manner.

1. As to the objection that Vedic verses describe such a thing which is not persent in this world, the reply is that expressions have various meanings directly or indirectly. The indirect meaning has some unique aspect which is not to be found in the direct meaning. Thousand-headed and thousand-eyed *purusha* is not any worldly object but it is the universal spirit whose presence in the living creatures implies that all their heads and eyes are the heads and eyes of His own. This fact has been made known to people by the *mantra* under question.

2. So far as the second objection is concerned our reply is that here the speciality and peculiarity of the plant has been described. It is distinctively meant here that this plant serves the purpose of protecting the child, not killing or injuring him. According to Vedic grammar it is not in vocative case but it is in nominative case. It means that the plant protects the child, does not kill him.

3. As to the objection that there are contradictory statements in the Vedic verses, our reply is that it is the flexibility of word that it gives etymologically various meanings. These meanings are not contradictory to each other in their proper context. In the world we use Sovereign is gold and necklace is also gold, but there is no contradiction at all.

4. As to the objection that there is no prescription for reading the Vedas with their meaning, we reply that reading itself implies the learning. Without knowing the meaning there is no use of reading.

5. As to the objection that certain verses are obscure, our reply is that these verses have their meaning, but it is our fault or ignorance that we do not know them. *Amyak* means straight, spiritualistic, etc. *jarbhari* and *turfari* in their context are used for '*asvinau*; denoting their protective and destructive powers.

6. As to the objection that there is a statement of historical things, our reply is that these names are not names of any particular persons, places or things but they are names denoting common thing. *Kikat* is a name of common place where there is no feeling of righteousness, duties, sacraments, *yajnas* and other worldly attainments. *Pramaganda* means those common persons who earn money through highest rate of interest.

*Jaiminiya mimansa* holds the Vedas as supreme authority. It declares that there is an immutable connection between the Vedic expressions and worldly objects. On this very strength is maintained that the relation between words and their meanings is eternal. Without accepting the meaningfulness of Vedic verses all this is not possible. Jaimini's emphasis on theory of predication also can be of no use without this acceptance.

Thus, it is crystal clear that *Yaska* and *Jaimini* maintained the unobscurity, intelligibility and meaningfulness of the Vedic verses. If some one, now-a-days says and pleads otherwise that is only a repetition and refashioning of the arguments of *Kautsa* and of *mimansa* which were totally quashed by *Yaska* and *Jaimini*.

To make this subject interesting and convincing we give here the translation of those verses whose meaning is alleged to be covered under impenetrable obscurity.

1. *Chattvari sringa trayo asya pada dve sirse sapta hastaso asya. Tridha baddhah vrisabho roraviti maho devo martyam aa vivesa.* Rg. 4.58.3.

(a) According to Gopath Brahmana and Nirukta of *Yaska* the verse is interpreted in the *Yajnik* sense and the interpretation is as under—
Became evident to mind of human beings the sense and sentiment of *yajna* whose performance is based on the recitation, application and injunction of the four Vedas; which has to be performed in three proper times—the Morning, afternoon and evening; which has two factors, the beginning and the end; in which the seven metres like *gayatri* etc. are used and wherein the sciences of *mantra*, *Kalpa* and *Brahmana* are systematically utilized and which is the source of rain etc.

(c) According to *Mahabhasya* of *Patanjali* it has been exposed in the sense of grammar : *Mahodevah*, the word got inspired in human being Noun, verb, preposition and particle and the four parts of speech which decorate it. Three tenses are used to denote it completely. It is of two kinds, the eternal and non-enternal. It has seven cases. Its accent rises from three places, the brain, the throat and the stomach. It serves all the purposes of speech and hence it is called *brisabha*.

(c) Many other scholars like *Rajsekhar*, *Sayana* and the great Swami Dayananda Sarasvati etc. have interpreted this verse in various senses. If all these translations are collected here, they will be more than 13 in number. Thus, the verse yielding so many meanings of scientific nature and value cannot at any rate be treated as meaningless and obscure. If it is obscurity, we would have to search for another definition and meaning of unobscurity.

2. *Sahasra sirsa purusah Sahasrakash Sahasrapat. Sa bhumim sarvatah spritva atyatisthaddasangulam.* *Rg. X.* 90 1.

The all-pervading Absolute God is such a Being in whom thousands of eyes and thousands of feet of the worldly creatures have their existence. Perveding all the existing beings alround He even transcends them which are composed of ten principles (the five subtle and the five gross elements).

3. *Aditir dyauh aditirantariksam aditir mata sa pita sa putrah. Visve deva aditih panchjanah adilih aditir jatamaditir janitvam.* *Rg*, 1. 89. 10

(a) Aditi, the unimpaired material cause of this universe (being the cause of their existence) is heaven, Aditi is atmosphere, Aditi is mother, father, and son, Aditi is all the elements of creation and is the five section of human beings, Aditi is what is born and what shall be born.

(b) All these heaven etc. are unimpaired.

(4) *Ekaya pratidha pibatsakam saransi trinsatam. Indrah somasya kanuka.* *Rg*. 8.77.4.

In this verse the word '*Kanuka*' plays very important role. It is due to its etymological construction that the verse gives here three meanings. *Kanuka* has been used here as an adjective of *saransi* and Indra and as an adverb of the verb *pibat*. These three meanings are as under :

(a) *Indrah*, the Sun without changing its own position drinks the shining retained rays of the moon throughout thirty days and nights of the first and second half of the month.

(b) *Kanuka Indrah*, the refulgent Sun, posited on its axis, drinks the rays of the moon throughout thirty days and nights of the first and the second half of the month.

(c) Indra, the Sun remaining in constant position, drinks the rays of the moon throughout thirty days and nights of the first and the second half of the month to entire fulfilment of its operation.

5. *Amyaksa ta Indra ristirasame sanemyabhavam maruto junanti. Aganischiddhi samatase susukvanapo na dveepam dadhati prayansi.* *Rg*. 1.169.2.

(a) O, Lord Almighty ! Thy weapon of lightening is very straight in its *Modus operendi* to cause rain for us. It is due to this that the monsoons turn the long preserved water of cloud to fall as rain. The atmospheric fire of the cloud emits sparks lowing belowing in the sky. People get a produce of plenty of grains like the waters which surround a continent.

(b) O, enlightened man ! may we attain the spiritualkno wledge with which you are endowed. By the means of that wisdom devotees can know the eternal and unborn Divinity. The sparks of spiritual fire enlighten like the waters which surround a continent.

6. *Jyayansamasya yatunasya Ketuna risisvaram charatt yasu nam te. Yadrismindhayi tamapaṣyaya vidad ya u svayam vahate so aram karat.* *Rg.* 5.44,8

(a) O, ye learned person ! he who through the medium of learning acquired from the celebrated inceptor, receives from him the important teachings regarding God and by dint of his prayer and perseverance acquires knowledge of those activities which you tend to practise and of that thing in which you concentrate your mind ; leads an ideal life.

(b) O ye learned scientist, this most impellent universal fire, through its important operation, gives rise to various activities of scientific studies, he who takes interest in these studies and devotes his mind in the subject which ivolves his own interest, and attain the thorough knowledge of that through his investigation and experiment, can lead an accomplished life.

7. *Sasmakebhiretari na susaragnih stave dama aa jatavedah. Dyranno vanvan kratva narvosrah piteva jaryayi yajnaih.* *Rg* 6.12.4

Permeating in all the worldly objects and creatures this fire is lit in our *yajnagnih* by our prayers of pleasure like a king who is bound by his vow to achieve his eherished goal in the battle to win. The wood-sticks are the combustion of this fire. Having its place in various herbs and woods it saturates in all the objects by its own operation. This is like that bull which enhances the bouvine progency. This fire is produced by the *yaijmanas* through their performances.

8. *Kinte krinvanti kikatesu gavah nashirom duhre na tapanti gharmam. A no bhar pramagandasya vedo naichasakham maghvan randhaya nah.* *Rg.* 3.53.14

O Indra, the soverign ruler what purpose of yours is served by the cows in those places or colonies or people where there no *yajnas* and good deeds are performed and where there is no disposition to attain the ultramundane prosperity and peace and people are absorbed only in this world. Really they do nothing there. They do not yield the milk for preparing the mixture of Soma. Their milk and the other milk products are not used to perform the ceremony or *yajnas.* O Indra ! confiscate the wealth of userer and bring it to us (your subjects) and subdue him.

9. *Srinneva jarbhari turphnritu naitoseva turphari parpharika. Udanyajeva 'jemana maderu ta me jarayvajarau marayu.* *Rg.* 10.106.6

Asvinau, the two vital airs (*prana* and *apana*) or the two electricities, (positive and negative) are preservative and protective, are constructive and destructive like a goading instrument or a scythe which has two set of function in its operation. They like a lethal weapon, are the means of causing destruction and disaster. Like a pair of seaborn gems or moon-stones, they are attractive and source of causing delight. They make strong and save from being the subject of early old age my body which is mortal and viviparous by its nature.

The function and operation of *paranapan*, the two vital airs and the electricity which is of two kinds, the positive and negative, have been described in this verse. The early old age is such an incurable disease against which the precaution has been given in the verse. The treatment of this disease is natural and that has been emphasized that *pranapan*, the two vital airs should be always controlled and kept in regular position by yogic exercises and practices. If these two are normal in body two bodily electricities will also remain normal and strength thus maintained.

It is crystal clear that there is no obscurity in Vedic verses. They are meaningful and enclothed in them is the treasure of knowledge.

———

# PRE-Dayanada and Post-Dayananda Period of Interpretation :

SĀYANA-DAYĀNANDA-AUROBINDO,

—**by Dr. Swami Satya Prakash**

Aurobindo presents the problem of the Vedic interpretation in the folllowing words:

"We have in the Ṛgveda,-the true and the only Veda in the estimation of European scholars,-a body of sacrificial hymns couched in a very ancient language which presents a number of almost insoluble difficulties. It is full of ancient forms and words which do not appear in later speech and have often to be fixed in some doubtful sense by intelligent conjecture; a mass even of the words that it has in common with classical Sanskirt seem to bear or at least to admit another significance than in the later literary tongue; and a multitude of its vocables, especially the most common, those which are most vital to the sense, are capable of a surprising number of unconnected significances, which may give according to our preference in selection, quite different complexions to whole passages, whole hymns, and even to the whole thought of the Veda."

(*The Secret of the Veda*, Centenary Edition Vol. x. p. 2)

During the past several centuries, there have been at least three types of major attempts to fix the sense of these ancient litanies:

(i) The first of these attempts exists only by fragments in the Brāhmaṇas and the Upanisads, (ii) An interpretation almost in the same strain has been followed by another Indian scholar Sāyanṇa-this is the traditional ritualistic interpretation of the Vedic texts, as if the entire text of the Ṛgveda (and the Yajurveda other too), was meant to be used for one or the other purpose in sacrifices. (iii)Lastly, we have another mode of interpretation which has been introduced by modern Western scholarship (European and American), based on comparisons and conjectures, i. e. claimed to be based on the comparative philology, and systematic study of human behaviours through ages in different lands.

In respect to the traditional ritualiste interpretation, and the conjectural Western interpretations, Aurobindo rightly remarks as fallows:

"Both of them present one characteristic in common, the *extraordinary incoherence* and *poverty of sense*, which their results stamp upon the ancient hymns. The separate lines can be

given, whether naturally or by force of conjecture, a good sense, or a sense that hangs together; the diction that results, if garish in style, if loaded with otiose and decorative epithets, if developing extraordinarily little of meaning in an amazing mass of gaudy figure and verbiage, can be made to run into intelligible sentences; but *when we come to read the hymns as a whole*, we seem to be in the presence of men who, unlike the earlier writers of other races were incapable of coherent and natural expression or of connected thought. Except in the briefer and simpler hymns the language tends to be either obscure or artificial; the thoughts are either unconnected or have to be forced and beaten by the interpreter into a whole. The scholar in dealing with his text is obliged to substitute for interpretation a process almost of fabrication. We feel that he is not so much revealing the sense as hammering and forging rebellious material into some sort of shape and consistency." (*Vol. X. p.* 3)

These observations of Aurobindo are valid in regards to the interpretations given by either Sāyaṇa or by our Western scholars like Max Muller, Geldner. Oldenberg, Griffith or Wilson. If these interpretations are accepted, then the hymns of the Ṛgveda (and other Vedas) would be justifiably qualified by such terms as "*obscure and barbarous compositions*". But one thing is exceptionally remarkable. These so called obscure and barbarous compostion have had the most splendid good fortune in all literary history. They have been the reputed source not only of some of the world's richest and profoundest religions, but of some its subtlest metaphysical philosophies. In the fixed tradition of thousand of years they have been revered as the origin and standard of all that can be held as authoritative and true in Brāhmanas, Upaniṣands, in the Six Systems of Indian philosophy, and even in the later and medieval literature of Indian thought. Tney have been invariably regarded as the literature of ultimate Supreme Authority (Svataḥ Pramāṇa). They have inspired the teaching of all saints, seers and sages. The name borne by them has been the Veda, the knowledge, a term which stands for the highest spiritual truth of which the human mind is capable. But, as Aurobindo rightly remarks. if we accept the current interpretations, whether Sāyaṇas or the modern theory, the whole of this sublime and sacred reputation is *a colossal fiction*. If we accept the traditional or Western interpretations, the hymns would be nothing more than the nāive superstitions fancies of untaught and materialistic barbarians concerned only with the most external gains and enjoyments and ignorant of all but the most elementary moral notions and religious aspirations. Of course. rituals have some value in life but the entire Vedic texts have nothing else in them but rituals is an idea repugnant to any rational thought. As we have said, the Vedas were held in the highest esteem by all the Systems of Indian Philosophy, particularly of the Upaniṣads, and it is so well known that the true foundation or starting point of religions and philosophies are these Upaniṣads, and if so, if the Vedas are to be traditionally interpreted, then these Upanisada have to be conceived as a revolt of philosophical and speculative minds against the ritualistic materialism of the Vedas. The entire Vedānta, the yoga, the Sāṁkhya, the Nyāya or the Vaiśesika system can be directly traced to elaborate the theses propounded in the Vedic texts.

The European scholars have confuses issues beyond expectations. Aurobindo writes in this context: "But this conception, supported by misleading European parallels, really explains

nothing. Such profound and ultimate thoughts, such systems of subtle and elaborate psychology as are found in the substance of the Upanisads, do not spring out of a previous void. The human mind in its progress marches from knowledge to knowledge, or it renews and enlarges previous knowledge that has been obscured and overlaid, or it seizes on old imperfect clues and is led by them to new discoveries. The thought of the Upaniṣads supposes great origins anterior to itself, and these in the original theories are lacking. The hypothesis, invented to fill the gap, that these ideas were borrowed by barbarious Arya invaders from the civilized Dravidians, is a conjecture, supported only by other conjectures. It is indeed coming to be doubted whether the whole story of an Aryan invasion through the Punjab is not *a myth of the philologiests*.

(*Vol. X p*. 4).

In fact, the Veda has to be seen from another perspective. It is the revelation of an age anterior to our intellectual philosophies. It is *Śruti* and not a *Sāstra*. In that original epoch, when it was given to us, thought proceeded by methods other than those of our logical reasoning and speech (the accepted *modes of expression*) which in our present day habits would be inadmissible. The wisest then depended on *inner experience* and the suggestions of the intuitive complex for all knowledge that ranged beyond mankind's ordinary perceptions and daily activities. Their aim was illumination, as Aurobindo puts it, not logical conviction, their ideal the *inspired seer*, not the accurate reasoner. The *Ṛṣ* was not the individual composer of the hymn, but the *seer* (*drastā*) of an eternal truth and an impersonal knowledge. The language of the Veda itself in *Śruti*, a rhythm not composed by the intellect but *heard* a divine *word* that came vibrating out of the Infinite to the inner audience of the man who had previously made himself fit for the impersonal knowledge (Aurobindo Vol. X. p. 8.). So speaks-Dayānanda about the Vedas, so spoke the older *Ṛṣis*, and so speaks Aurobinno about the Vedic revelation. The words themselves, *dṛṣṭi* and śruti, sight and hearing, are Vedic expressions; these and cognate words signify, in the esoteric terminology of the hymns, revelatory knowledge and the contents of inspiration (*Śabda*, *artha*, and the *sambandha*).

There is a progressive preparedness for the reception of the divine revelation in the hymns themselves so often. *Knowledge itself was a travelling* and a reaching, or a finding and a winning (as Aurbindo puts it); the revelation of the *mysterious* comes only at the end, the light was the prize of a final victory. There is continually in the Veda this image of the journey, the Soul's march on the path of Truth. On that path as it advances, it also ascends; new vistas of power and light open to its aspiration; it wins by a heroic effort its enlarged spiritual possessions. If a coherence is to be appreciated in a particular hymn, this type of approach has to be constantly kept in mind. The hymn would by and by raise you from an exoteric to an esoterin realm, A particular verse might be referring to mundane fire for the time being, but by and by it would raise you to the realm of the cosmic Fire and then finally take you to the Inner Fire, the Divine Warmth, which is the secret of life. And similarly, a casual reference to ordinary broad dy light or the light appearing every day at dawn, may take you through a series of successive steps to the cosmic light and finally to the Inner Spiritual Light of one's own consciousness or even the Divine Light of the Supreme Self,

If one gets familiarised with this technique of the Soul's march on the path of Truth, then to him, the Veda would neither be a collection of verses, being an attempt to set down the results of intellectual or imaginative speculation, nor would they consist of the dogmas of a primitive religion.

The Vedas were revealed to the earliest man, and since then, they were traditionally handed down to posterity with utmost care in accuracy. It is difficult to say when they were for the first time classified into the details of the *Saṁhitās*. But there are certain considerations which justify us in ascribing to it an almost enormous antiquity. An accurate text, accurate in every syllable, accurate in every accent, was a matter of supreme importance to the Vedic ritualists; for on scrupulous accuracy depended the effectuality of the sacrifice. We are told, for instance, in the Brāhmaṇas the story of Tvaṣṭṛ, who, performing a sacrifice to produce an avenger of his son slain by Indra, produced, owing to an error of accentuation, not a slayer of Indra, but one of whom Indra must be the slayer (*Indra-Śtarū*). The prodigious accuracy of the ancient Indian memory is also notorious and proverbial. And the sanctity of the text prevented such interpolations, alterations, modernizing revisions as have replaced by the present form of the Mahābhārata, the ancient epic of the Kurus.

The ancients were not satisfied with the *Saṁhita pāṭhas* of the Vedic verses in which the rigid rules of euphonic combination of separate words (*Sandhi*) were applied. The Vedic *Ṛṣis*, as was natural in a living speech, followed the ear rather than fixed rule; sometimes they left them uncombined. And therefore, they have not only retained with accuracy the *Snṁhita*-combined the separate works, sometimes they *pāthash*, but the *Pada-pāṭhas* also with proper accentuation. In these Padapāthas, all euphonic combinations are again resolved into the original and separate words and even components of compound words indicated.

A few illustrations of the Saṁhitā and the Pada-pāṭha for the same Rgvedic mantra are given below:

1. Saṁhitāpāṭha

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्यं देवमृत्विजम्,
होतांरं रत्नधातमम् ।

(with accents)

Agnimīḷe purohitam yajṅasya devamṛ
tvijam; hotāram ratnadhatamam.

(without accents)

Pada-pāṭha

अग्निम् । ईळे । पुराऽहितम् । यज्ञस्यं । देवम् ऋत्विजेम् ।
होतांरम् । रत्न ऽधातमम् ।।

(with accents)

Agnim ile purah' hitam yajñasya  
devam ṛtvijam hotāram ratna'  
dhātamam.

(without accents

2. Saṁhita pāṭha

अग्नि: पूर्वेभिऋर्षिभिरीडयो नूतंनैरूत ।  
स देवाँ एह वंक्षति ।

(with accents)

Agniḥ pūrvedbhir—ṛṣibhirīḍyo nūtanairuta:  
so devāṁ eha vakṣati

(without accents)

Pada-pāṭha

अग्नि: । पूर्वेभि: । ऋर्षिमभि: । ईड्यं: नूतंनै: । उत ।  
स: । देवान् । आ । इह । वक्षति ।

(with accents)

Agniḥ purvebhiḥ ṛṣi'bhih īḍyaḥ  
nūtanaiḥ uta saḥ devān ā iha  
vakṣati

(without accents)

(These pada—pāthas would be a help in proper ghana-pāṭhas, māte pāṭhas, jatā pāthes, etc.), besides the interpretations depending on accents too.)

**Coherence in the Vedic hymns.**

We can thus entirely reply on the Vedic texts available to us today. in the form of the Pada-pāṭha. Very few are the instances in which the exactness or the sound judgment of the Pada-pāṭha can be called into question. "We have then", as Aurobindo says, "as our basis a text which we can confidently accept and which, even if we hold it in a few instances doubtful or defective, does not at any rate call for that often licentious labour of emendation to which some of the European classics lend themselves." Aurobindo further says, "Nor is there, in my view, any good reason to doubt that we have the hymns arrayed, for the most part in the right order of their verses, and in their exact entirety. The exceptions if they exist are negligible in number and importance. When the hymns seem to us incoherent, it is because we do not understand them. Once the clue is found, we discover that they are perfect wholes as admirable iu the structure of their thought as in their language and their rhythms."  
Vol. X p. 16.

**Natural meanings of Vedic terms.**

The only literature of the closest proximity to the revealed Vedic texts, is of the *Brahmanas* and the *Aranakas*; and both of them belong to the ritualistic period. Perhaps, there

must have been a gap of milleniums between the dawn of the Vedic knowledge, and the liturgical books of the Brāhmaṇic period. And therefore, Aurobindo is right when he says, that "for even in the earlier days of classical erudition, the ritualistic view of the Veda was already dominant, the original sense of the words, the lines, the allusions, the clue to the structure of the thought had been long lost or obscured; nor was there in the erudite that intuition or that spiritual experience which might have partly recovered the lost secret. In such a field, mere learning, especially when it is accompanied by an ingenious scholastic mind, is often a snare as a guide". (Vol. X. 16-17).

There has been a great contribution of the people of the ritualistic period, in that they preserved the Vedic texts with great care, but on the contrary, the greatest disservice they did, was that they obscured the natural meanings of the Vedic texts. The mantras were held sacred by them, but the real meanings were lost of them. And therefore, for the last so many centuries, the Vedas ceased to have any dynamic impact on the life of an individual or on society. Thanks to the insight and inspirations of Dayānanda at the close of the Nineteenth Century, followed by spiritual experiences of another great servant of the present century, Sri Aurobindo, there has been a complete metamorphosis of our thinking and evaluation of the Vedic texts. The greatest contribution of these two great sons of the soil has been the emancipation of the Vedic interpretations from the tragic hands of ritualistic periods and medieval scholists.

Maxmüller and other scholars of the West laboured hard on the Vedic texts, not only as pure academicians, but they were also sure, that if they could show to Indian people how meaningless and debaseful the concepts of their own Vedic scholiasts were, their future generation, more enlightened on account of the advances of modern philosophy and sciences, would refuse to accept the Vedas and the Vedic theology as their solace**.

---

**F. Maxmuller, as a true Christian, was convinced of the fact, that his translations of the Vedic Hymns based on the interpretations of Sāyṇa and other scholiasts, would take away the faith of Indians from the Vedas, and in consequence, Indians, would also become Christians in due course. We are told that he wrote a letter to his wife in 1868, in which he remarked thus, whilst he was busy ln editing the Rgveda:

"I hope I shall finish that work and I feel convinced, though I shall not live to see it, yet this edition of mine (of the Rgveda) and the translation of the Vedas will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of Souls in that country. It is the root of their religion, and to show them what the root is, I feel sure, the only way of uprooting all that has been sprung from it during the last three thousand years."

Of course, the result has been otherwise. Due to Dayānanda and people who have shared his views, the Vedas are much more popular in Indian Society today than in Maxmuller's days, and their teachings have started exercizing a dynamic impact on our society.

The great sage Yāska compiled one of the earliest lexicons of the Vedic terms, known as the *Nighantu*, and he wrote his own commentary on this book, known as the *Nirkuta*. The *Nighanṭu* constitutes one of the six *Vedāṅgas*, the others being the *Sikṣa* (orthography) by Pāṇini, *Chanda* (prosody) Paṅgala, *Jyotis*, (astronomy) by Vaistha etc., *Vyākarana* (Grammar) by Pāṇini, and Kalpa (Litany) and Liturgy) by various scholars of the ritualistic year. The study of these Vedāṅgas is supposed to be very essential if one wishes to arrive at the correct interpretation of the Vedic texts. But no academic knowledged of our rigorous Scholarly disciplines can be a substitute of *inspirations* and *personal experiences*, of a highly elevated self. The seers of the upanisads, could, therefore, reveal the mysteries of the Vedic texts much more than any other academician. We are fortunate in this respect that persons of the eminence of Pāṇiṇi (the celebrated author of the *Aṣṭādhyāyi*) and his commentator, Patañjali (the author of the *Mahābhaṣya* were not only academicians but were also inspired seers of deep experiences, and so were the authors of the six systems of Indian Philosophy.

Every great interpreter of the Vedic texts has taken help from Yāska. the lexicographer and the etymologist, and also from the derivations given in the *Brāhmaṇas*, in the Uṇādikoṣa, in the *Prātiśākhyas*, and from Pāṇiṇi's grammar as well as from the Mahābhāṣya. All these books accept the principle of the multiplicity of the Vedic interpretations,—the interpretations belonging to three major categories ! (i) the historical, or Śāśvata Itihāsa, the natural perpetual cosmological history, (ii) the ritualistic, pertaining to the Yajnas, and (iii) the spiritual or the mystic with deeper inner meanings. Dayānanda has added one more category to it, as would be seen from his commentaries. To Dayānanda, the Vedas constitute the living force, both mundane and spiritual. His is the dynamic realistic philosophy of life. and compatible with this concept he gets inspirations from the Vedas for all the disciplines of life. To him, the life is real and purposeful and the propriety in mundane life is a step of advancement towards the attainments of the spiritual realm. And therefore, he has declared that the Vedas constitute a store house of all true knowledge for the evolution of man. To him, God is not only a creator of the Universe, living and non-living, He is prime source of all true knowledge also, and therefore, there can never arise a conflict between true sciences, spiritual philosophies, and the right conducts of theological practices. And therefore, the Vedas contain the natural material to inspire us in all the multitdisciplines of life. That code alone could be regarded as rightful, which leads to individual and social success in life and to the spiritual attainments of the highest order God Himself is the Highest Personification of an ethical ideal, and this ideal has to be emulated in every sphere of human life, mundane and transcendental.

Of course, Sāyaṇa, or as a matter of fact, any other scholiast of the period, could not have been inspired with this realism and purposefulness of human life, and therefore, his interpretations, however, masterly, fall short of natural expectations. And, therefore, Aurobindo is correct when he says :

"Yet, even for the external sense of the Veda, it is not possible to follow either Sāyaṇa's method or his results without the largest reservation. It is not only that he admits in his method licenses of language and construction which are unnecessary and sometimes incre-

dible, nor that he arrives at his results, often, by a surprising inconsistency in his interpretation of common Vedic terms and even of fixed Vedic formulae. These are the defects of detail, unavoidable perhaps in the state of materials with which he had to deal. But it is the central defect of Sāyaṇa's system that he is obsessed always by the ritualistic formula and seeks continually to force the sense of the Veda into that narrow mould. So he loses many clues of the greatest suggestiveness and importance for the external sense of the ancient scripture—a problem quite as interesting as its internal sense. The outcome is a representation of the Rṣis, their thoughts, their culture, their, their aspirations, so narrow and poverty-stricken that, if accepted, it renders the ancient reverence for the Veda, its sacred authority, its divine reputation quite incomprehensible to the reason, or only explicable as a blind and unquestioning tradition of faith starting from an original error". (Vol. x p. 18).

The errors in Sāyaṇa's interpretations are as follows :

(i) Śruti is known for deep spiritual, philosophic and psychological meanings which ascribe sanctity to the text. Sāyaṇaus ually refuses ta enter into these depths. He dces not go sufficiently beyond the current verbal interpretations. He mentions for instance, but not to admit it, an old interpretation of Vritra as the Coverer (*ācchādakaḥ*, Dayānanda) who holds back from man the objects of his desire and his aspirations. For Sāyaṇa, Vṝtra is either simply the enemy or the physical cloud-demon who holds back the water and has to be pierced by the Raingiver.

(ii) Sāyaṇa is led away by the Paurāṇic myths and mythological events, as if the mythologies existed prior to the revelation of the texts. He does not go deeper into the rootmeanings or the etymologies or mystic sense behind these terms. The stories of the Purāṇas were woven round the Vedic words, capable of natural interpretations, milleniums of years afterwards. The Vedas were always held sacred in Indian Socioty, and the words, used in common parlance, were given as *propar names* to family children or to the personal figures in literature. The names of the four Rṣis, Agni, Vayu, Aditya, and Angiras, and so many other Rṣis associated with the Vedic hymns also belong to this category, not to speak of kings and princes of repute, who came to be so well known in epics and mythologies. A few such instances are quoted below: The modern Vedic scholars, who seek to interpret history on the basis of Vedic texts, have erred a step ahead of Sāyaṇa in this respect.

1. *Rāmā* and *Kṛṣṇā* in the Atharvā—veda:
   Naktam jātāsyoṣadhe Rāme—Kṛṣṇe asikni ca (Av. I, 23.1)
2. *Daśaratha* in the Rgveda
   Catvārinīśad daśarathasya śoṇāḥ (Rv. I. 126.4)
3. B*harata* in the Rgveda:
   Asadyā barhir bharatasya sūnavaḥ (Rv. II, 36.2)

4. Viśvāmitras in the Rgveda
Viśvāmitrāya dadatmaghāni (Rv. III. 53.7)
Viśvāmitrā arāsata (Rv. III.53/13)

5. *Visvāmitra and Jamadagni* in the Rgveda:
Sute Ṣātena yadyāgamam vāṁ prati
viśvāmitra-jāmadagni dame (Rv. X. 167.4)

6. Vena in the Rgveda:
Venanti venāḥ patayantyā diśaḥ (Rv. X. 64.2)
Venā duhantyukṣaṇam giriṣṭhām (Rv. IX. 85.10)
(Vena Bhārgava is the Seer of the Sūktas IX. 85
and X. 123, whilst vena is also the devatā of X. 123.
This vena has been identified with the planet
Venus also X. 123.1)

7. *Purūravaḥ and Urvāsi* in the Rgveda
Purūravaḥ punarastam parehi (Rv X. 95.2)
Pra-urvaśī tirata dīrghamāyuḥ (Rv. X. 95.10)
(For Urvāśi, also see V. 41.19 ; IV. 2.18; and X. 95.17)

8. *Arjuns in the Ṛgveda*
Ghoṣeva Śaṁṣam—arjunasya naṁśe (Rv. I. 122.5)

9. *Vasiṣṭhas in the Ṛgveda*
Prāvadindro brahmaṇā vo vasiṣṭhāh (Rv. VII. 33.3)

10. *Suśruta* in the Ṛgveda
Yaḥ Karmabhir-mahadbhiḥ Suśruto bhūt (Rv. III. 36.1)

(iii) A third element is the legendary and historic, the stories of old kings and Rṣis, given in the Brāhmaṇas, or by later tradition in explanation of the obscure allusions of the Veda. Sāyana's dealings with this element are marked by some hesitation. Often he accepts them as the right interpretation of the hymns; sometimes he gives an alternative sense with which he has evidently more intellectual sympathy, but wavers between the two authorities.

(iv) Ritualistic conceptions dominate over naturalistic interpretations. Not only are there the obvious or the traditional identifications, Indra, the Maruts, the triple Agni, Sūrya, Uṣā, but we find Mitra was identified with Day, Varuṇa with the Night, Aryaman and Bhaga with the Sun, the Rbhus with its rays. We have here, as Aurobindo remarks, the seeds of that naturalistic theory of the Veda to which European learning has give so wide an extension. The old Indian scholars did not use the same freedom or the same systematic minuteness in their speculations. Still

this element in Sāyaṇa's commentary is the true parent of the European Science of Comparative Mythology (Vol. x p. 20).

But here again, as Aurobindo remarks, it is the ritualistic conception that pervades; that is the persistent note in which all others lose themselves. In the formula of the philosophic schools, the hymns, even while standing as a supreme authority for knowledge, are yet principally and fundamentally concerned with the karmakāṇḍa, with works,—and by works was understood, pre-eminently, the ritualistic observation of the Vedic Sacrifices. Sāyaṇa labours always in the light of this idea. Into this mould, he moulds the language of the Veda, turning the mass of its characteristic words into the ritualistic significances,—food, priest, giver, wealth, praise, prayer, rite, sacrifice.

Wealth and food; — for it is the most egoistic and materialistic objects that are proposed as the aims of the Sacrifice, possessions, strength, power, children, servants, gold, horses, cows, victory, the slaughter and the plunder of enemies, the destruction of rival and malevolent critic. As one reads and finds hymn after hymn interpreted in this sense, one begins to understand better the apparent inconsistency in the attitude of the Gītā (or the Upaniṣads) which, regarding always the Veda as divine knowledge (Gītā XV. 15), yet censures severely the champions of an exclusive Vedism (Gītā II. 42),—all whose flowery teachings were devoted solely to material wealth, power and enjoyment.

It is, as Aurobindo observes, the final and authoritative binding of the Veda to this lowest of all its possible senses that has been the most unfortunate result of Śayaṇa's commentary. The dominance of the ritualistic interpretation had already deprived India of the living use of its greatest Scripture and of the true clue to the entire sense of the Upaniṣads. Sāyaṇas's Commentary put a seal of finality on the old misunderstading which could not broken for many centuries. (Vol. X p. 20.)

When Dayānanda talks of *Yajna* or *karma*, he takes a very wide view of life. The Vedic philosophy is a philosophy of plenty, of prosperity and liberality. To Dayānanda, yajña is not only the sacrificial ritual; it embraces all the achievements on a social plane to ameliorate the conditions of our worldly living against poverty, miseries, sickness and disease, and in the subsequent stage to assure a better future beyond death even. It is not the ritual that would lead to that goal; it is the hard, honest and sincere devotion in all departments of knowledge,—science, technology, philosophy and spirituality—that would assure the fruits of the yajnā. The *parā* and *aparā vidyās* both have to be acquired to meet these ends. Dāyananda finds in the Vedas an inspiration for such a life, which strikes a balanced note between the material prosperity and spirituality : vidyā and avidyā, Jnāna and karma, sambhūti and asambhūti, yoga and Sāṁkhya, all taken as complimentary to serve the highest aspirations of our individual and also of the society. Dayānanda and Aurobindo both have thus given new interpretation to the *Karma.kānda*, are not the one belonging to the ritualistic period, and which had brought the Divine Vedas to disrepute and ridicule.

## Viniyoga or the Ritualistic Application of the Vedic Texts

It has been rightly pointed out by the Vedic scholars, Western and Indian, that between the actual composition of hymns (or the actual revelation of hymns), and the age of the Commentators like Skandasvāmi, Venkaṭa Māhadava or Sāyaṇa, or even between the revelation and the days Niruktas, grammarian, and lexicographers, or even up to the time of the composition of the books like the *Taittiriya Saṁhitā* (which is of book rather to be placed in the rank of the *Brāhmaṇas* and *Araṇyakas*, than may be regarded as an independent Veda, *the Kṛṣṇa Yajurveda*), so many milleniums must have elapsed that neither the Brāhmanas or Araṇyakas nor the Niruktas, grammarians and the Commentators and scholiasts can be regarded as the true interpreters of the Texts; they at the most may be regarded as representing the notions of the times, and the practices of the days, when they were present. In this sense, Sāyaṇa, Mahídhara and others are in no way the representatives of the very old traditions even. Sāyaṇa was born in fourteenth century A. D. ; not to speak of the Rājasūya or the Aśvamedha yajñas, even the *darsapaurṇāmāsa yajna* and the *somayagas* were obsolete in his times and very few rituals, which survived, also got so much mixed up with Paurāṇic Gods and Gaddesses, that they could hardly be regarded as the representative of the Vedic traditions of milleniums B.C.

The objective of the Vedic revelation was manifold: to prescribe an eternal code of conduct for man; to show to the man his relationships with his surroundings and with the Creator; to impress upon him the cause of his bondage and to indicate in the broadest terms the way to attain freedom from that bondage; to reveal to the man some of the mysteries of Nature as to give him a start for further explorations; to lead the bonded soul on the path of truth, enlightenment and immortality. All these points may be summed up into three words: Jñāna (enlightenment) Karma (duty and action) and Upāsānā (devotion, dedication and love towards God). Man has to be instructed in respect to all these three and hence was the necessity of a special type of revelation to him; he alone has been provided with a characteristic intelligence to explore into the mysteries of the Unknown of inner and external realms, provided he gets initial directions and subsequent encouragements.

Thus it had been the the unique privilege of man that the *Śruti* was revealed to him at the earliest history, and has been his guide throughout. Man held this *Śruti* in his highest esteem, and had always regarded it as his privileged sacred lore.

By and by, man's culture grew, and his activities became multifarious. Duriug the course of his social evolution, as demand of his aesthetic sense, he developed rituals, formalities and ceremonies. These rituals were centered round certain dialogues, utterances, invocations. dramatizations, and performations of several types. The old seer was acquainted with the Vedic Mantras, and as his love knew no bounds for God and His Word, the Śruti, he took out the passages from this Divine Text and associated them with rituals and ceremonies which he held so sacred. The rituals became doubly sacred on account of these associations. This is how the *vinivoga* of the Mantras in numerous yajñas started milleniums ago.

By *viniyoga* is meant the recitation of *mantra* (verse) or its part, taken from the Vedic Sāmhitās and some other similar texts, along with the operations accompanying rituals and ceremonies. It must be remembered that the texts existed before the currency of the ritual; the text was not composed to be utilized in the rituals,—it had its sanctity even otherwise. But since the devotee had high regards for the texts and for the rituals both, he relevantly or even otherwise, got the two associated together. After a long and continuous usage of the text in the ritual. it was natural for people to have perpetuated this association to such an extent that one could not have thought of text without its association with the rltual. Thus in the course of time, we had, in a way, the *degradaiion* of the text. The deeper meanings of the texts were forgotten and their association with rituals ouly survived. This is why we say that Sāyaṇa, Mahdhara and other scholiasts in their commentaries do not give the true meaunings of the texts. They merely depict the relation of the text with the ritual.

The *viniyogas* (ritualistic applications of the texts) are relevant and irrelevant both. Relevant ones are known to possess *rūpa-samrddhi*. The term has been defined in the *Aitareya Brāhmaṇa* as follows :

> Etad vai Yajñasya samṛddham yad rūpa-samṛddham karma-kriyamāṇam ṛg-abhivadati (*AiBr*. I.1.4)

i.e. if one speaks out such a mantra, in which the operation to be performed in the sacred ritual is deseribed verbally too, this is known as the relevancy of the text (*its rūpa-samrddhatā*). They (the invitatory and offering verses) are *perfect in form* (*rūpa-samrddhatā*, as being addressed to Agni and Viṣṇu ; that in the sacrifice is perfect, which is *perfect* in *form*, that reai which as it is performed the verse describes. (A.B. Keith's translation.)

Unnnecessarily, a great emphasis has been laid on this concept of relevaucy or the *rūpa-samrddhatā*; usnally, it would be seen from the illustrations quoted in the *Aitareya Brāhmaṇa* itself, the relevancy is only *verbal* or nominal; on the basis of one or two words, occurring in the text, the relevancy is imposed on the verse without looking into the real purport of the text. This is why, the *viniyoga* has done more harm than actually and material good. Dayānanda has been the first man in the history to have taken away the stigma or stink of the *viniyoga* from the natural meanings of the texts. This has been his great contribution to the Vedic scholarship.

The *viniyoga* had given altogether a wrong impression about the prose and poetry of the Yajurveda text. This Veda has been rescued from the fetters of the *viniyogas* by Dayānanda. The greater bulk of the Yajurveda, particularly from Chapter I to XVII, and several other chapters, had, it appears, no use other than of their recitation on the occasion of some of the elaborate ceremonials which developed around them, such as : 'Darśapaurṇamāsa Yajna (rituals associated with full moon and no moon), Agnihotra (the fire-ritual), Āgrāyana-iṣṭi (concerned with food), Dākṣāyana yajna (associated with Daksa Prajāpati) Cāturmāsya yajna (pertaining to the rainy season), Soma Yāga (ritual connected with Soma plant), Vājapeya

Yajna (yajna of the Brāhmanas concerning food grains), Rājasūya (a yajna of the kṣattriyas concerning the glory of the State), Cayana nirūpaṇa (details concerning funeral pyres), Ahṣvamedha and numerous others. The entire *Śatapatha Brāhmaṇa* (barring the last Upanisadic Chapter the *Bṛhadāraṇyaka*) deals with these details. Of course, occasionally the *Śatapatha Brāhmaṇa* also refers to the deeper mystical and philosophical spirit behind the parables and the rituals. The beautiful Sūkta of Creation and of Social Order, the so-called the *Purusa Sūkta* has been nicknamed as the Naramedha Chapter (rituals dealing with human sacrifice), when we come to the Commentary of Māhīdhara and Uvaṭa (Chapter XXXI).

**Allusions to Mental and Supra-Mental Realm**

Whilest Dayānanda also referred to the mental and supramental realms, whilst commenting on various Vedic mantras in his commentaries and elsewhere, this subject as an exclusive specialization has been taken over by Aurobindo. He poses the problems thus; "Our first duty, therefore, is to determine whether there is, apart from figure and symbol, in the clear language of the hymns a sufficient kernel of psychologicol notions to justify us in supposing at all a higher than the barbarous and primitive sense of the Veda. And afterwards, we have to find, as far as possible from the internal evidence of the Sūktas themselves, the interpretation of each symbol and image and the right psychological function each of the gods. A firm, and not a fluctuating sense, founded on good philological justification and fitting naturally into the context wherever it occurs, must be found for each of the fixed terms of the Veda." (Vol. X. p. 32). After having given a serious thought to such problems, Aurobindo has formulated his "psychological theory" and has tried to explain the mystic reality behind such terms as Agni, Varuṇa Mitra, the Aśvins, the Maruts, Indra, the Viśvedevas, Sarasvati and her consorts, oceans and Rivers, the Seven Rivers or the Sapta-Sindhu, the Dawn, Cow and Aṅgiras, the lost Sun and the lost Cows, the Angirasa Ṛṣis, the Seven-headed thought, svar and daśagvas, the Pitṛs, the Hound of the Heaven, the Sons of Darkness, and Dasyus and the conquest over them.

Aurobindo took to the comparative study of Dravidian languages and Sanskrit, and in this connection, he says, "It did not take long to see that the Vedic indications of a racial division between Aryans and Dasyus and the identification of the latter with the indigenous Indians were of a far flimsier character than I had supposed. But far more interesting to me was the discovery of a considerable body of profound psychological thought and experience lying neglected in these ancient hymns. And the importance of this element increased in my eyes when I found first, that the mantras of the Veda illuminated with a clear and exact light psychological experiences of my own for which I had found no sufficient explanation, either in Europern psychology or in the teachings of Yoga or of Vedānta, so far as I was acquainted with them, and secondly, that they shed light on obscure passages and ideas of the Upaniṣads to which, previously, I could attach no exact meaning and gave at the same time a new sense to much in the Purānas." (Vol. X. p. 37)

I shall not enter here into the details, which my readers could read in the original writings of Aurobindo (See *The Secret of the Veda*, Centenary Library Edition Vol. 10, 1972). I shall be satisfied with quoting a few of the psychological renderings arrived at by Aurobindo of the Vedic terms :

| Term | Psychological Sense |
|---|---|
| Rtam | Truth |
| Dhī | Thought or understrnding |
| Rāya | Spiritual felicity |
| Vāja | Homogeneous totality of thought |
| Yajna | Action, internal or external, consecrated to gods. |
| Yajamāna | Soul or personality as doer |
| Ghṛta | Thought or mind |
| Indra | Illuminated mentality |
| Intra's two horses | Double energies of mentality. |
| Go (Cow) | Light, as a symbol of divine knowledge. |
| Asva (horse) | Vital energy. |
| Go-Aśva | Light-Energy companionship. |
| Bhūḥ | Earth (Anna) |
| Bhuvaḥ | Middle-region (antarikṣa) prāna |
| Svaḥ | Heaven (*manas*) |
| Mahas | Vastness and truth (Vijnā) (Satyam-ṛtam-ṛtam-Bṛhat) |
| Seven Worlds | Seven psychological principles—Sat, Cit, Ananda, Vijnāna, manas, prāṇa anna. |
| Death (Mṛtyu) | Moral state of matter, with mind and life involved in it. |
| Immortality (Amṛta) | State of infinite being, consciousness and bliss—Sat, cit—ananda. |
| Rodasī (Heaven and Earth) | Mind and Body. |

In this context, Aurobindo further writes, "The Vedic deities are names, powers, personalities of the Universal Godhead and they represent each some essential puisance of the Divine Being. They manifest the cosmos and are menifest in it. Children of Light, Sons of the Infinite, they recognize in the soul of man their brother and ally and desire to help and increase him by themselves increasing in him so as to possess his world with their light, strength and beauty. The Gods, call man to a divine companionship and alliance; they attract and uplift him to their luminous fraternity, invite his aid and offer them against the Sons of Darkness and Division, Man in turn calls the gods to his sacrifice. offers to them his swiftness and his strengths, his clarities and his sweetness,—milk aud butter of the shining cow, distilled juices of the Plant of Joy, the Horse of the Sacrifice, the cake and the wine, the grain for the God-Mind's radiant coursers. He received them into his being and their gifts into his

life, increases them by the hymn and the wine and forms perfectly,— as a smith forges iron, says the Veda, — their great and luminous godheads." (*Hymns to the Mystic Fire*, Vol. XI, p. 30).

Whilst Dayānanda's concept of the Vedic texts is very much the same as the concept of Aurobindo, yet there are essential differences too. Dayānanda's concept leads to pure monotheism in which the Supreme Self may be addressed. recalled or invoked with various names according to His qualities, characteristics, functions and attributes. He is one, though known by various names. His names are not meaningless ; — the etymology of the word directly appears to refer to the reason why God is known by that particular name. According to Aurobindo each deity represents "Some essential puisance of the same Divine Being". This concept of Aurobindo, whilst on on hand possesses the kernel of monotheism it leads in subsequent steps to monistic, patheistic and even polytheistic views of the cosmos. Whilst commenting on Dayānanda's Vedic monotheism, Aurobindo writes "Such a theory is obviously, difficult to establish. The Rgveda itself, indeed asserts (Rv. I. 164.46) that the gods are only different names and expressions of one universal Being, who in His own ality transcends the universe ; but from the *language of the hymns* we are compelled to perceeive in the gods not only different names, but also different forms, powers and personalities of the one Deva. The monotheism of the Veda includes in itself also the monistic, pantheistic and even polytheistic views of the cosmo and is by no means the trenchent and simple creed of modern theism. It is only by a violent struggle with the text that we can force on it a less complex aspect." (*The Secret of the Veda*, Vol. X. p. 30).

It is difficult to comment on the two concepts of the Vedic gods, propounded by the two great masters of the soil, Dayananda and Aurobindo. Aurobindo treads on dangerous grounds, as much as his mysticism may lead to the worst kinds of superstitions (of course, he takes a rational view), and may deteriorate into polytheistic pantheism. Aurobindo's symbolic mysticism is truly applicable to about a few thousands of the Vedic verses, with strenuous stretch of imagination ; his interpretations answer to the needs of mental and supre mental realms ; Dayananda saw in the Vedic texts a wider application to the multipurposeful life ; Dayananda's interpretations embrace in themselves the viewpoints of Aurobindo, and simultaneously provide a little beyond his realm too on both sides of the spectrum.

———

# A Study of the Vedas with special refererce to the Monotheism.

**Devendra Prasad Savitreya**

IT will be necessary to understand the 'Vedas' before understanding monotheism. "What are the Vedas ? What is the derivation of the word Vedas ? What is the importance of these ancient (Rishis) books ?

"The Vedas are eternal eyes of Deva, Pitris and men. It is beyond human capacity of measurement".[1]

"The Vedas are the fountain—head of all faiths".[2]

"The Vedas are the voice of God as they are enternal and self evident"@[3].

"There is no other higher, or nobler Scripture than the Vedas"£[4].

"The Vedas contain the elements of all true knowledge and it is the primary duty of every Arya to study and propagate the Vedic teachings which are contained in these holy scriptures. "+£[5].

"The Vedas contain seeds of knowledge. (Swami Daya Nanda Saraswati). In Sri Aurubido's words" I will add my own conviction that Veda contains other truths of science which the modern world does't possess at all".[6].

"The Vedas are the imperishable treasure-house of all truths, Vidyas and knowledge, sciences, religions guide-lines of character building.[7]

---

१. पित्तृदेव मनुष्याणाँ वेदश्चक्षु सनातनम् । अशक्यं चाप्रमेयंच वेद शास्त्रमिति स्थितिः ॥
मनु० २१६ । मानवार्य भाष्य १२ । ६२ ॥

२. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैबसाधूनामात्मनस्तुषिृरेव च ॥
मनु० १२ । ६४ । मानवार्य्यं भा० २ । ६ ॥

३. तद् वचनादा माम्नायस्य प्रमाण्यम् ।
१. १. ३. महर्षि कणादः

४. नहि वेदात्परं शास्त्रम् (गरुड पुराण)

5. IIId law of Arya Samaj by S. D. S.

6. Yogiraj Aurobindo (Tilak Dayanad P. 57 III rd Edition).

७. आकरः सत्यविद्यानां वेदेर्वं सनातनम् । ज्ञानविज्ञानधर्माणां चरित्न स्योपदेशकः ॥ 'वेद महिमा By "सावित्रेयः"

## Guidelines

The word Veda is derived from the root 'विद्' which means (know to 'knowledge)'. Thus the etymological meaning of the Veda is the book of true knowledge, physical as well as spiritual. Although the Veda is one, yet on account of its dealing with the different topics it has been further divided into four books or Samhitas. Which are called (the) I Rig Veda : II Yajure Veda, III. Sam Veda and the fourth is the Atharva Veda.

These books support the view that, there is its importance. All ancient Monothism (present) in the Vedas.

Maharshi Dayanand Saraswati was the founder of the Arya Samaj.

The Vedas are main foundations of the Arya Samaj. The light of Monotheism is revealed in the fundamental principles of the Arya Samaj : as the Maharshi was a monotheist. Monotheism implies that there is one God. The tenets of the Arya Samaj from the very beginning flow from prayers to one God, who was invoked to purge our hearts of all evils and impurities.[8] The holy Mantra runs :

"O, Savitar, God, send far away all troubles and calmities, and send us only what is good. (It is taken from R.V. £582. b) "8 Another Mantra says that God is one. How is God ? The problem is solved the following Mantra.

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

This Vedic mantra contains five features—

1. Did God exist before the creation ?
2. Was God "HIRANYAGARBHA" (हिरण्यगर्भ) ?
3. Did God create the universe and still sustain ?
4. Is God one or many ?
5. Should we worship him or any one else ?

The answer to all these question is that God existed before the creation. God was Hiranyagarbha, God created the Universe, God is one and not many. We should worship him alone and no other god.[9] .

---

८. ओं विश्वानिदेव देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥
or Savitar, God send far away all troubles and calamities and send us only what is good.

9. R, V. 10112/1 *Atharva* 4.5.7. y. v. 13.4/23 V 25.10 *Tairiya-Sanhita* 4/1/8/3/2/82, *Tandya Brahaman* 919/12.1/ .

So the Vedas tell us that God is our friend, our father and our supporter and protector. "[10].

This holy Mantra contains the word "कस्मै" "(Kasmai)" Like Latin cui, which either masculine or neuter. There is a sign of interogation at the end. The Mantra means what God—should be worshipped ? The answer to the query is provided in the Hiranyagarbha sukta at the end of 9th Sukta and beginning of 10th Sukta. The Mantra really means "एकस्मै देवाय हविषा विधेम" i.e. Sacrificial offering and prayer should be made to the only one God of Delight.

".According to Dayananda the Vedas declare the existence of only one God. The monotheism of the Vedas is the same as the Brahmavad of the Aupan shadic Rishis.

Since the mediaeval ages the wrong view has held away that the Vedas embody the Worship of many gods and that they are books preaching Polytheism. Western Sanskrit scholars widely propagated this line of thought. Dayanandji is firmly convinced of the existence of only Supreme Being and enjoin on us to worship Him alone. There is no provision in the Vedas for worshiping any other God than He.

To remove their wrong ideas and impressions it would be well to reproduce the following catechism (questions and answers) from the 'Satyarth Prakash" Q. Do the Vedas mention one God or Many gods ?

Ans. They mention only one God. No where in the Vedas is there mention of any gods.

Every where in the Vedas God is invoked in such metaphorical languages as "the God of gods' formless and all prevading. He is also invoked as the Supreme auther of creation". According to Dayanandji, the so called Gods such as Surya, Vayu Usha (dawn) are merely natural entities and Varuna. Rudra and other are spiritual entities.

They are not really separate gods bearing human bodies or bodies of their kinds ; they are simply forces affecting our lives on the practical plane. In other words they are natural forces which shed their inflauences upon our lives or they are forces which bear some relation to our spiritual growth. But they are by no means worthy of our adoration and worship.

There is one (Supreme Divine) who is the object of our worship. Whether the Vedas

---

1. (In other words-He is our kin, our father and holydispenser, he knows all beings and all ordinances. He is one in whom the Gods obtainings life eternal have risen upward to the third high station is own position of immortality and bless.
2. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
   यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैर-यन्त ॥ yajur Veda.

proclaim the existence of many gods depend upon which of the various interpretations of the Vedic commentaries is in accord with rationality and sound common sense. In other words, should we accept the interpretation according to the canons laid down by the ancient treatise of Nirukta or the ritual—oriented interpretation of Sayanan or the new—Naturological methodology of the western scholars ? I have already pointed out that if we want to get at the truth about the Vedas, we shall have to adopt the ancient Nairuktic methodology. European scholars have equated the word "Deva" with God, taking the word "Deva" in the sense of god, Mr. Macdonell, has made the fantastic statement in his book that the chariot of the sun-god is driven by seven horses. He also regards the Goddess Usha (Dawn) sometimes as the wife and sometimes as the mother of the sun God.

According to him, the goddess also evokes amorous passions in every god[12].

Mr. Max Muller has read a different kind of Polytheism into the Vedas. In his view, the worship of thirty three gods has been mentioned in the Vedas. But Dayanandji in course of his exposition, clearly showed that the number of Gods mentioned is actually 3339 (three thousands, three hundred and thirty three). Inspite of this he does not conclude that the Vedas advocate Polythestic cult. In support of his argument he says there is no affinity between the polytheistic cult of the ancient Greeks or the Romans and the so called Polytheism of the Vedas (In ancient), Polytheism prevailing cvailing in ancient Greece or Rome meant that under the domination of one supreme Being there were a number of minor gods. In the light of Dr. Max Mullers exposition, the concept of Polytheism (i.e. many minor—Gods under the domination of a Supreme power is analaogous to that of absolute monarchy or dictatorship ruling over the people of a state. He further points out that the Vedic Rishis used to regard each seperate deity, however small it is, as the Supreme Being and worship him. Max Mullar has given a new name to this concept of Polytheism in the Vedas and that is Kathoneism, that is the worship of the Gods one after the other or Henotheism—that is the worship of the gods severally.

According to Dayanandji, however, the Vedas support neither Kathoneism nor Henotheism, All the four Vedas use the term "Deva" in many Mantras and generally scholars take the term 'Deva' to indicate one Supreme Being. For this reason it has become rather difficult to apprehend the real intention of the Vedas because by taking "Deva" to mean God "Deva," who is worthy of worship. Nowhere do the Vedas support the worship of separate gods unless and until they are interpreted to denote differentnames of one Supreme Devive.

I. See 'A Vedic Reder for Students P. 92, by A. A. Macdonell, Reprint 1954.

13. It was necessary therefore, for the purpose of accurate reasoning to have a name different from Polytheism, to signify this worship of since Gods, each occupying for a time a supreme position and I proposed the name of Kathoneism that is a worship of one god after another or af Henotheism the worship of single gods.
F. Max Muller India what can it teach us ? p. 146. 147. 1892)

All other judgments regarding the meaning of the the term 'Deva' used in the Vedas is faulty. Dayanandji arrives at this conclusion following the cannons of interpretation of *Nirukta*. According to *Nirukta* the 1st word 'Deva' does not mean "God" ; it means one of these, 1. one who confers gift. 2. one who gives right : 3. one who instructs & supports (such as gurus parents) 4. Dyusthani the source of light, such as the sun.[1]

In Niruktas view any one possessing one of the attributes mentioned can be regarded as a God. If all these—epithets were applied to *God*, god becomes the God of Gods and when God is conceived as keeping under control all the *Vyavaharik* gods *i.e.* the forces of nature, such as the sun, the Moon, Marut etc., then he is regarded as Mahadeva.

There is no doubt that according to the Vedas there is only one Supreme Divine who alone is the object of adoration and worship, whom the Rishis invoke in various names.[2] Maharshi Dayanand is decidedly and firmly of the view that the Vedas enjoin on us, the worship of only one God. There are no other godsbesides.[3] The Vyavaharik gods i.e. the forces of nature should on no account be worshipped, only one Supreme Being is to be worshipped.

The "Satpatha Brahmana,' is a more reliable authority on the issue whether the Vedas advocate the worship of one God or many gods say the western Vedic scholars. Satpatha Brahmana says those who worship any other-god except 'Parmatma' (i.e. one "Supreme Being)" are no better than animals.[4]

In the Vedas generally only those epithets are applied to Indra, Marut, Sun etc. which are relevant to God. It is apparent that in such matters Dr. Max Muller stumbles into the blunder of 'Henotheism', The truth is that the Vedic Rishis give many different names to one Supreme Divine, each name signifying some particular attribute of God.[5] (Agni is that ; the sun is That : Vayu and Chandramas are that : The Bright is that : Brahma is That, those waters, that Prajapati : According to Dayanandji whereever such attributes as "Omnipotent" are used in respect of 'Indra or any other God, it must be taken as pointing to "Paramatma" (i,e. the Supreme Divine) because only God is Omnipotent. He alone is

---

1. देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवति वा (Nirukta-०७-१५)
2. सोऽयर्मा स वरुण: स रुद्रः स महादेव: । सोऽग्नि: स उ सूर्यः स उ एव महायम: ॥ (Ath. १३।४।४।५)
3. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्या: स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वेदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (v. R.V. I. १६४-४६)
4. व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिए, किन्तु एक परमेश्वर (ही) की करनी उचित है ।"—दयानन्द ग्रन्थमाला भा. २ पृ० ३३।
5. योऽयां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेक स देवानाम् (शतपथ ब्रा०) ८।८२। (को. ८६-२२)

worthy of adoration and worship. The Aryans have been worshipping the one God since the very beginning of creation under different names. Similarly whereever such attribute as "Sarvagnya" i. e. Omniscient) "Vyapak" (i. e. all pervasive), *Shudha* (i. e. Pure), "Sanatana (i. e, Eternal) and *Shristhi-Karta*" (i. e. creator) are used, the so called gods mentioned must be regarded as One Supreme Being under different names, because these fundamental attributes can be possessed by God alone.

Whether the Vedas actually support the monotheistic stand of Dayanandji will be made amply clear to any impartial scholar, if he studies carefully the following Vedic Mantras.

(i) "Supreme Spirit is the protector of all, and pervades and gives light to all bright things. He is called Indra or the glorious Mitra or the friendly, Varuna or the greatest and the best Agni or the adorable. Though one, Brahma (He) is called by the learned by many names, such as Agni (the adorable, Yama (the ruler) Matrishiva (the might).

or the other words tell like this—

2. "This Universe and whatever it contains, living, and non-living is pervaded by the Almighty God."

3. "Nothing, O Bounteous Lord, stands firm before thee, Among the Gods not one is found equal. None born or springing into life comes near Thee "Do what thou hast to do, exceedingly mighty 1" x[7]. (It means God is only one and our greatest Guru).

4. We prey to that Almighty God who is the Lord of the whole creation to protect and enlighten us. Let that God add to our wealth and ensure our lives, security and well being—against adverse forces."[8]

5. "He that Supreme Being is Brahma, Vishnu. Rudra, Shiva, He is the Eternal Transcendingent. He is the great king of kings, He is Indra, Kala, Agni and Chandrama."[9]

---

6. तदेवाग्निस्तोदित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।। Yajurv. ३२।१० ।।
7. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्याः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रो बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान्माहु ।। Rigvade १६४ । ४६
8. Enveloped by the Lord must be this all each thing that moves on earth. With that renounce and enjoy thyself, Covet no wealth of any man covet no wealth of man.
9. ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्ये स्विद्धनम् ।। Yajureveda ।। ४०।१

6. Oh Glorious Master, neither there is nor shall be anyone like you either in heavens or on earth. We adore and worship you, that we may be possessed of horses, elephants and—milk supplying cattle who may serve us in diverse ways. Thus equipped with physical strength and knowledge we may pour forth—hyms of gratitude."[10]

7. "Before creation there was neither death nor immortality, no sign to tell the day from the night. There existed only the Supreme Being wrapped in his silent glory and unfathomable mystery without a stir of breath of *lifes*. There was nothing else, gross or subtle besides Him."[11] That "Parmatma" (i. e. Supreme Divine) is our nourisher, our supporter. He is the mighty 'Vayu' (wind) or the 'Aryama', the guide and leader of all. He is the chief among the Varuns. He is 'Rudra' (the holy judge of the Universe). He is Mahadevea (the mighty God. He is 'Agni' (the revealing Fire of knowledge and wisdom). He is the 'Sun' (the enlightener of creatures) Above all. He is Mahayama (the controller of people and dispenser of justice."[12]

9. "That 'Paramatma' (i. e. the Supreme Beings) Sees through and through all things and all being those who breathe as well as those who do not breathe. Nothing is beyond the ken of his vision. He is unique, *sui generis* and uncaused cause of the universe. All the gods (i. e. forces, natural or spiritual) are contained in Him as parts of an integral whole.[13] Mantras such as those mentioned above will be found scattered in profusion throughout the Veda. Those Mantras convincingly prove that the Vedas fully advocate Manotheism.

10. "Who by his grandeur hath become the sole Ruler of the moving world that breathes and slumbers, He who is Sovran of these men and—cattle—what God shall *we* adore with our oblation ? (other than—Prajapati."[14]

11. "He who hath eyes on all sides round about him, a mouth on all sides, arms and feet on all sides, He the sole God, producing earth and heaven, weldeth them with his arms as wings together".[15]

---

10. अनुत्तमा ते मद्यन्नकिर्नु न त्वां २॥ अस्ति देवता विद्वानः । न जायमानो नशर्त्तें न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्धा ॥ Yajurv. ३३ । ७९ and R. V. I. १६५-९ ॥
11. तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेद सामसद् वृधे रक्षितापायुरदब्धः स्वस्तये ॥ R. V. I. A. ४।६।०।१५—S. Y. V २६।०।१
12. स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स । परमः स्वराट् । स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥
13. न त्वा वां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जानिष्यते । अश्वायन्तो मद्यविन्नन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा इवामहे ॥ S. V. Otor. A. १।४।११ ॥
14. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राव्या अह्न आसीत्प्रकेतः । अनीदवातं स्वधया यदेकं तस्मोद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥ (R. V. 10 A. ११ । १२९ । २ ।)
15. स धाता स विधार्त्ता स वायुयनभे उच्छ्रतम् । सोऽयर्मा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः सोऽग्निः स उ सूर्य एव महायमः ॥ (Ath. V. १३।४। ।३ ।४ । ५)

12. "Mighty in mind and power is Visvakarman, Maker, Disposer, and Most lofty Presence. Their offerings joy *rich* juice where value one, only one beyond the Seven Rishis."[16]

13. "Father who made us, he who, as Disposer knoweth all races and all things existing Even he alone, the Deities' name-giver,—him other beings seek for information.,'[17]

14. "What time the mighty waters came containing the Universal germ: producing Agni, Thence sprang God's spirit into being, What God shall we adore with our oblation ? (What God shall we adore : or worship ?

15. "Whom in his might surveyed the floods enclosing productive force and generating Worship, He who is God amid Gods, and none beside him—What God shall be adore with our oblation ?[18]

16. "They blamed as victim on the grass Purusha born in earliest time. With him the Deities and all Sadhyas and Rishis scienced."[19]

17. "There is no counter part of him whose glory verily is great. In the begining rose 'Hirayagarbha ; etc. Let not him harm me, etc. than whom there is no other born, etc."[20] (three passages are referred to which have occurred respectively in XXV, 10-13 ; XII, 103, VII, 36, all celeberating the greatness of Prajapati or Purusha).[21]

18. "This very God pervadeth all the regions ; Yes, born aforetime, in the womb he dwelleth. He is verily born and *to be* born hereafter meeteth his offspring facing all directions (Aforetime ; or, the first cf. XXXI. 19)".[22]

---

16. स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न । तमिदं निगतं सहस एष एकवृद्रेक एव । सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ (Ath. V. १३ । ४। १६। २० । २१)

17. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो वभूव । य ईशे अस्य-द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (Yajur V. २३ । ३।)

18. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । स बाहुभ्यां धमति संपतत्रै र्द्यावाभूमीं जनयन्देव एकः ॥ (Y. V. १७।१६ । R. V. १० । ८ । ३।) श्वेता अ० ३ । ३ ॥

19. विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् तेषाममिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥ (Y. V. । १७।२६ । R. V. १० ।८२।२१

20. यो नः पिता जनिता यो विधाता धमानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानाम्नामधाएक एवत्त ꣳ सम्प्रश्नम्भुवना यन्त्यन्या ॥ (Y. V. १७ । २६ R. V. १०। ।८२। ३

21. आपो ह यदबृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् । ततो देवानाँ समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(Y. V. 27.25,8 R. V. 121,71,

22, यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधानां जन्यन्तीर्यज्ञम् । यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ।
Y. V. 27,26 R. V. 10, 12, 8

19. "He hath attained unto the Bright Bodiless, woundless Sineweless, the pure which evil hath not pierced. Far sighted, wise, all-encompassing he the self-existent hath prescribed aims, as propriety demands, unto the everlasting years."[23] (It means one pure God and that is 'Nirakar'.)

20. Lord of all earths, Lord of all mind, Lord of all speech thou Lord of speech entire. Heard by the Gods,—Caldron, divine, do thou, a God, protect the Gods, *Here, after*, let it speed you twain on to the banquet of the Gods. Sweetness for both the sweetness lovers ! sweetness for those the twain who take delight in sweetness !" so, God is Almighty and only one".[24]

21. In Rig Veda we again get the following to read. The learned and the wise describe and imagine the one God using many forms and expressions, Speaking of Brahm (Him) as the Creator of all creatures.[25] Yajur Veda tells us ;—

22. "He (means God) is one, He does not move, and yet is swifter than the mind ; the senses (devas) cannot reach him, although he is already in them".[26]

23. "In the ten Mantras (Rig Veda, Mandal 10, Sukta 121, Mantras 1 to 10) we have *incontrovertible evidence* in support of the monotheism that is preached and taught by the Vedas. The first ten of these Mantras tell us that in the beginning there was God." He was the one Supreme creator of all created beings. It is difficult to understand that beginning means the beginning and not removed in time and space from that was the beginning".

24. In the Rig Veda (X : 121 : 9) we again get the same affirmation that the religion of the Vedas is only monotheism. There we (His children) take a view saying that "Unto that Great God alone shall we offer (our) prayers".[27]

In Atharva Veda we read that "He is our father. Only the self—bigoted will refuse to accept that one can have only one father.[28]

---

23. प्रोक्षत्पुरुणं जातमग्रतः (यजु० ३१ ।६।) और ऋग्वेद
24. न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः । हिरण्यगर्भ इत्येष मामो हिं ऍ सीक्ष्त्येषा यस्मात्नजाता ईव्येष ॥ (Yaj ur Vade 32,4 )
25. एषषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वा पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्ः जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः यजुर्वेद ३२।४
26. स पर्य्यागाच्छुक्रमकायव्रणनेस्नाविर ऍ शुद्धमयापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः-स्वयम्भुर्यायातथ्यतो ऽ थन्व्यिदधाच्छाश्वर्ताभ्यः समाभ्यः ॥ (यजुर्वेद ४० । ८)
27. विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनस्यते विश्वस्यवचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते-देवश्रुत्वन्देव धर्म देवो देवान् पाह्यत्र प्रावोरनु बान्देव बीतये । मधु माध्वीभ्यां मधु- माधूचीभ्याम् ॥ (यजुर्वेद ३७।१८०)
28. सुपर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा केल्पयन्ति । छन्दांसि च दधतो अध्तोरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥ (ऋग्वेद-१०।११४।५)

25. Rig Veda once again tells us that he is the master of all the worlds. We know it too well that the master does not mean some one who shares his mastership with any one else.[29]

26. The Rig Veda advises us "O Indra (the glorious), there is none-superior to Thee".[30]

27. The Rig Veda says again that "Thou art the Greatest God of all".[31]

28. Rig Veda tells us once again that among those who deserve our respects, Thou art the most respectable of all".[32] Any one who sets out to find for himself the religion of the Vedas is sure to come to the one and only one conclusion that the Religion of the Vedas is pure and unadulterated 'Monotheism'.

Raja Ram Mohan Roy was a Hindu ; he believed in the Vedic Teachings and he was a stanch monotheist.

So Vedic Religion recognises one God It is a thoroughly scientific religion where religion and science meet hand in hand. The 'Vedas' recognise only one God. It is far from the truth to hold that Polytheisms and Diatheism are enunciated in the Vedas.

Mantras such as those mentioned above will be found-scattered in profusion throughout the Veda. Those Mantras convincingly prove that the Vedas fully advocate Monotheism. According to some Western Vedic Scholars such as Mr. Gris wold and their Indian followers who blindly and uncritically tread the trail blazed by their foreign masters ; Dayanandji's exposition and interpretation of the Vedas are utterly unscientific and fantastic.[33] This attempt to denigrate and debunk (अपलाप) Dayananji flows from Mr, Griswold and Co's gross ignorance and complete misunderstanding of terminology of the Vedas. It should be remembered that Maharshi Dayanand's exposition and interpretation of the Vedas are in conformity with the canons and methodology of ancient Pre-Sayan holy Vedic-commentors. We take the liberty of reproducing the following extract from the pen of Yogi-Sri Aurobindo which gives a shattering answer the wild and reckless charges made by Mr. Griswold-against Dayanandji.

"Such statements are far from the truth. The Vedas in clear and unambiguous terms say that the learned concentrate on the one, while the unlearned on many. The former

---

29. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद देवा आप्नुवन्ये पूर्वमर्षता । तद्धावतोऽन्यानत्येति-तिष्ठत्तस्मिन्नयो मातरिणो दधाति ।। यजुर्वेद ४०.४। (अ. ४)
30. मानो हिंसीज्जनिता यः यृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान । यश्चापश्चन्द्रा वृहनीर्जजान कस्मै देवाय हविषो विधेम ।। ऋग्वेद १०।१२१।६।
31. स नः पिता जनिता स एव बन्धुः । (अयुर्वेद)
32. महाँ असि महिष वृष्णयैभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान् । एको विश्वस्य भुवनस्य राजा सयोधयो च क्षपया च जजान् ।। ऋग्वेद ३।४६।२।
33. आ त्वां विशन्त्विन्देवः समुद्रामिवः सिन्धवः । न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ।। (ऋग्वेद ८।६।२१।२२)

designate the one by various terms such as Indra, Yama, Matariswa and Agni".[34]

In answer of this the western scholars say that these Mantras which enunciate the existence of only one God, were somehow produced in the brains of the Aryans on a later date, or were taken over by the ignorant Aryan worshippers of Fire, the sun, the sky from the original inhabitants from those cultured, refined and talented pre-Aryan Dravidians. These speculations of western scholars are impertinently wild. They donot have even a modicum (साधारण) of Vedic knowledge. In this connection it will not be out of place to quote a few lines from the writings of *Edmond Holmes*—"The Western mind, as has already been suggested, is as a rule, *debarred* by the prejudices in which it has been trained from entering with sympathetic insight into ideas which belong to another world and another age. Not only does it end to survey these and the problem in which they enter, from stand, points which are distinctively western, but it sometimes goes so far as to assume that the western is the only stand point which is complete with mental sanity...".[35]

These western scholars study of the Vedas has been purely motivated by the desire of debunking and denigrating these—sacred scriptures. They would go to any length and resort to all possible means to achieve their objective.

*Further their statement* that the Aryans borrowed the concept of monotheism from the Vedas in nothing but effiusions of a—raving maniae (पागल) In the first place it is extremely doubtful if the Dravidians flourished in India before the Aryans, Secondly there are so far no extent evidences of the *Dravidians* attaining to a high level of philosophic and spiritual culture. The reason is that the inscriptions on the seals that were excavated from the ruins of the *Sindhu* have not yet been succesfully decyphered and decoded. In the face of all these cogent arguments we are at a loss to make out how these western scholars could jump to a hasty conclusion on the basis of scholars meagre and shaky evidences.

They would fit their exposition and interpreration of the Vedas into procrustean frame work of their ingrained prejudices and Pre-conceived notions. For this reason they would read polytheism or Henotheism or folk love into the Vedas. Specially modern western scholars have been propogating the view that there "Brahma Vidya" (Conception of Brahma) has no place in the Vedas and that the development of "Brahmavidya" took place

---

34. देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामरसि चारुरध्वरे । शर्मन्त्स्याम तव सप्रथम स्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ (ऋग्वेद १।९४।१३।)
35. मन्ये त्वायज्ञियं यज्ञियानां शन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम् । मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् ॥ (ऋग्वेद ८,९४।४।)

anly in the Vedanta (or) the Upanishads)".[36] Some scholars again hold the view that the Vedas embody the doctrine of Pantheism "Pantheism is the doctrine that God is all and all is God".

All this leads to the inescapable conclusion that God is one. There is no second, third, fourth, fifth, sixth and seventh etc. But he is one without a second there is no one besides him.[37] It is the power of the Supreme Being that all gods such as Vasu in this world and other hevenly bodies are kept in being and in whom they are merged during the Pralaya (Dissolution) and become part and parcel of his being. Mantras conveying this idea are to be found in plenty in the Vedas".[38]

So long as lakhs of people are hungry and ignorant, I consider every person who has been educated with their strength ungrateful ; let all educated Aryans realise the truth of this statement Om ! Heaven ! Brahma ! Om ! Heaven ! Brahma ! ओ३म् खं ब्रह्म ।

Concluding, we take the liberty of quoting the following lines from the writings of Sri Aurobindo, which have a direct bearing on the issues we have discussed above :"[39]

"The oldest traditional interpretations by Yaska, Skandaswami, Durga, Udgitha, Venkata. Madhana, Ananda Tirtha Madhava etc. all accept the principle of a triple meaning to be found In the Riks. The traditional pre Sayana interpreters of the Veda never considered the question of Vedic interpretation a settled one.

The triple meaning admitted by all scholars of traditional commentators of course before Sayana are (i) Adhibhautika or most outward and sacrificial or ceremonial sense, (2) Adhidaivika or that which applies to the cosmogony, the universal realm of law and order and (3) Adhyatmika or the Spiritual the eroteric sense applicable to man's inner life in its approach to the transcenderate the greatest drawback of Sayana interpreptation is his complete omission of the principle of the triple interpretation of the warranted, by tradition and the consequent binding down of the Riks to their most external exoteric sense. The European scholars started with this initial error of Sayana and have therefore not the least chance of arriving at the esoteric sense of the Riks if any".[40]

---

36. The Religion of the Rigveda P. 109-110-) By Griswold : 11 Sec.
37. Bankim, Tilak, Dayananda, by Sri Aurobindo, P.P. 55-56 third Sec, reprint, 1955. The Vedas are the imperishable treasure house of all the Truths . Vidyas and knowledge, Sciences, Rig. 5 n is just like guide line—of character building.
38. "See the philosophy of the Upnishads by Sir S. Radhakrisnnan—Introduction.
39. The conception of Brahman which has been the highest glory for the Vedanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the association of the sacrificial mind. By S. N. Das Gupta. "A History of Indian Philosophy Vol. 1. p. 20 printed 1922.
40. P. 387 by Patrick (*Revised Edition*).

# Message of the Vedas

**for the well-being of humanity**
**(Tilockprasad Calychurn Mauritius)**

Ever since man started to use speech to convey ideas, countless words have been pronounced of which there is no trace. The written words have, however, been preserved in numerous books very few of which have come down to us.

## The Veda

It is the VEDA that is admittedly the oldest book in the library of mankind. This does not mean that it is some 6.000 years old. Nobody believes now that as Bishop Usher had it, the universe was created in 4004 BC. If the epic Mahabharata is 5,000 years old, the VEDA must have been in existence much more than five thousand years previous to that epic. The other books have all appeared after the VEDA. I am using the name VEDA in the singular number as it is well known that the four VEDAS are in fact, one book. Let us call them four chapters of a book consisting of some more than 20,000 verses.

The Veda is revealed divine knowledge ; it is not something that has been forced upon us. As soon as it was learnt that the Indians have a book that is as excellent as it is interesting, scholars from the West came out to India to find it out. It is worth while to remember that SONNERAT, one of them, spent as many as seven years in search of the VEDA. Exactly two centuries ago he visited Mauritius. the Indian Ocean island that had the privilege of being selected as the venue of the Twelfth International Arya Maha Sammelan in 1973. So, two centuries before Vedic scholars of Modern India trod the Mauritian soil, Sonnerat was an illustrious visitor there.

The VEDA was not carried from one country to the other as it has been usual to carry fire and sword. Its excellence attracted lovers of knowledge to it. The Veda, as you are aware, has a significant name which means "knowledge." That knowledge was communicated right at the outset, *i.e.* at a time the world was young. The belief is unfortunately current in our modern age that what is old has no value, whatsoever. It is an obsession that leads us to reject Vedic wisdom. Who says that wisdom can ever grow old ?

The Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha had requested us to write papers on some subjects connected with the Vedas, when by a coincidence, we read in the papers, that on 23rd September 1975 Mr. J. Roberts a Western scholar publicly said that "cremation of the dead was more hygienic and less harrowing for mourners and saved Britain 300 acres of land

each year." I take the liberty to quote his own words : "It continually amazes me how anyone who is genuinely devoted to our small island home (Britain) and the happiness of future generations, can fail to see the writing on the wall if disposal by earth burial is not reduced to less than 20% of the total number of deaths annually by the end of the century" ? The observation of Mr. J. Roberts brings to our mind the verse of the YAJUR VEDA that ends thus "Let my lifeless body be reduced to ashes, feed the flames." As every member of this august assembly will have noted, I am quoting a mantra or rather a part of a mantra that occurs in the last or 40th chapter of that VEDA. It is appropriately named Vedanta *i.e.*, the Principle of the VEDA. Its most popular name is Ishopanishad.

Eleven years had gone by after the Pope's acknowledgement of the fact that the time had come when incineration could not be condemned. It is in 1964 that the Roman Catholic world had the news of his approval of this scientific way of disposing of the dead. Every time when he world is in trouble, Vedic wisdom which has an eternal message, come to rescue.

## Pyramids and Temples

The Vedic verse, then, is meant for all ages and climes. It reminds us that India is no the land of pyramids which have only one function viz the conservation of the dead bodies of kings. The dead must not come in the way of the living. It is only the heritage left by the ancients in the form of eternal knowledge they gave that is worthy of being prized. The VEDA does not rejoin us to build temples for one God who is omnipresent.

Each time the VEDA has been misinterpreted, mankind has been told that followers of the Vedic Religion called Aryas, worshipped the forces of nature. Nothing could be farther from the truth than this wrong notion that has been readily accepted. The truth is that the VEDA wants us to live in communion with nature. The sages who lived in their hermitages had chosen the forest for their abode. They were not deprived of water and pure air. The green forests filled them with joyed The West has done a great disservice by looking down upon them dweller of the forests. It seems to find a savage in the latter. The silence of the forests, its greenries, and pure air went a long way in helping its dewllers to find solutions to many problems affecting humanity. Happiness does not lie in erecting pyramids, temples or in leaving the village for the city. To give undue importance to towns and cities with their sky scrapers is to rob oneself of true happiness that consists in discovering that man has a soul that he is far removed from matter. Man was, in the Vedic age, called away in Cowper's words :-

"From cities humming with restless crowd,<br>
Sordid as active, ignorant as loud,<br>
Where works of man are cluster'd around,<br>
And works of God are hardly to be found . . . . "

The average westerner's inordinate love of what strikes the eye as if it were the sum and substance of happiness, could not but be harmful in the long run. The man of Vedic age was happy when he lay surrounded by hls cows and his birds. And what is important, the birds were not imprisoned. The YAJUR Veda opens with a verse that ends thus: "Protect the cattle of the Yajamana" What was considered to be modern in the age of the French philosopher Descartes was in fact retrograde. He believed that animals were not endowed with souls, that, in short, every bird or beast was a machine. However, La Fontaine, the French fabulist who had read the Panchhtantra, did not lose an opportunity that offered itself to him pour ridicule on Descartes. The note struck by the VEDA pleased the young and the old when La Fontaine's fables were appreciated. It is the philosophy of Descartes that grows old, not that of the VEDA. Vedic optimism can stand the world in good stead. It is quite late that in Western literature, justice has been done to birds and beasts, plants and trees, rivers and lakes, mountains and hills. The appreciation to their full value of these were in existence right from the beginning of the Vedic age. This is borne out by the PRITHIVI SUKTA of of the ATHARVA VEDA which says as follows "May the hills, the snowcapped mountains and the woodlands of our motherland be pleasant to us."

## Dialogue saves

The animate and the inanimate hold attraction for the high minded. The same PRITHIVI SUKTA says "To whom fly together the winged birds, who is surrounded and encompassed by rain, may that spacious motherland establish us with an understanding tending in each delightful place" Atharva Veda XII.

In these days of International Conference, who can deny that dialogues are saving the world that runs the risk of going to rack and ruin at any moment ? Mahatma Gandhi was often humiliated whan he was refused to see the men that were at the helm of affairs. By seeking dialogues the Mahatma was putting into practice this Vedic injunction :

"May we assemble and march forward with a common purpose,

May we confer together with open minds and work together harmoniously for common good

May we pool out thoughts for integrated wisdom, and work actuated by higher ideals." (RIG VEDA X)

Mahatma Gandhi was, above all, a man of peace. The Vedic heritage had come to him as it had come earlier to Maharishi Dayanand.

Is not everyone a seeker of peace today ? Does not the atheist prize peace ? Have we not news about *detente* day in and day out ? When religion was thrown overboard in the West, it was not known that the VEDA has in its power to quench the thirst of one and all, that so long we consider that books are of some use, they will interest the reader. It is not such religion as that of the VEDA that can be jettisoned with impunity.

## An Ideal Guide

The tourist who has a guide spends the little time he has at his disposal and leaves the country receiving his visit only after he has seen all its beautiful sights. We are all tourists. Life is a long journey. The guide we have in the VEDA has stood countless generations in good stead, Coming to the living, we find that they are called upon to make a liberal use of water. The PRITHIVI SUKTA in the ATHARVA VEDA says :—

> "May the motherland let flow pure waters for the cleansing of our bodies"
> (ATHARVA VEDA XII 60)

Had every country of the world paid heed to this Vedic injunction, the necessity would not have arisen to lay stress on cleanliness by saying that it is next to godliness. The British periodical SPOT LIGHT sprang a surprise when in its issue of the 18th July 1944, it made the astounding revelation that in 1850, every one in London took a bath only once in five years. He who refuses to keep his body clean is a source of infection just as he who does not regulate his conduct is a nuisance. Why had some people to wait so long to understand that water has its uses ? Guidelines were there. There was the example of those who lived in the land of the VEDA. By following that example humanity would enjoy a sense of valuable well-being.

## War v/s Peace

Man is different from beasts in that he is free to choose between good and evil. Those who would not care for the wisdom of the VEDA were bound to become belicose. History is nothing but a lengthy list of wars. Mahatma Gandhi appeared upon the scene and war mongers received a shock. There was a change for the better. The term co-existence found its way into our vocabulary. The historicity of traditional Indian history is nowadays not questioned to the extent it used to be. We have had proffs of the historical fact that five villages which the five Pandavas demanded and the Kauravas refused to give, have indeed existed. They have recently been unearthed. Similarly we are in possession of the irrefutable proof that the Aryans of Yore led a life of sacrifice, a dedicated life, If one of the verses quoted by me occurs in that part of the YAJUR VEDA called Vedanta as well, the same VEDA insists that on no account one should covet any other's wealth and rest satisfied with what has fallen to one's lot. That the noble minded Aryans acted upon this advice is admitted on all hands. Never did they dream of subduing their neighbours or distant foreigners. They were always after cultural conquest. It will no doubt interest you to learn that this is in itself a strong proof of the contention that the Aryans did not come to India from any other part of the GLOBE. In this case, it is not archaelogical evidence that is required as in that of the Mahabharata.

Throughout the ages, the people of the land of the VEDA set great store by the rich heritage they had received. What is remarkable is that even when they left their fatherland to go out to far away lands, their behaviour was praiseworthy. Darwin visited Mauritius in 1836. He was bound to praise the Indian convicts that lived in that island. The British convicts that colonized Australia were, he said, much inferior to them. The VEDA had by that time become a sealed book. Indians had to fall back on the RAMAYANA. The Indian epic turned out to be some sort of a commentary on the VEDA. The Prince Rama and his three borthers were illustrative of the first line of this verse of the ATHARVA VEDA :

"Let not a brother hate his brother."

Paraphrased, the words of the Veda mean by implication "all men are brothers" Today, behaviour counts above anything else. "Let us be well-behaved or die" is the motto that suits us. Hypocrisy will not take us far. Politics will have to be spiritualised. Religion that for the last three centuries has seemed to be unwanted, will be a desideratum the day all other religions agree to be in line with that of the VEDA.

## A World Torn by War

Every country is eager to prevent the world we live in from being torn by war. The situation is causing anxiety. Here too, the VEDA comes in handy. It has a timely message for mankind. You will remember that I pointed out that the village should be preferred to the town. The VEDA is explicit on this point without asking us to neglect towns and cities. I quote another verse of the PRITHIVI SUKTA.

> "Whose cities are handiwork of learned men, may God make that motherland pleasant for us in every quarter." (AKHARVA XII)

The town dweller in the Vedic age did not run amuck. He observed restraint. Vedic civilisation has made progress. Science had made great advances. The Veda rails neither at philisophy or at science. That it could call a halt is its special merit. Science was not out of control. It was not allowed to eclipse religion that has solace in its gift.

Restraint is the key-word we must never forget when talking of Vedic, India. The young got control over themselves by observing Brahmacharya. The MAHAYANTRA (machine) was not allowed to run wild. Man was master of the machine.

## Spirit and Matter

Spirit was given the pride of place. No one is required to be told that the VEDA sets its face against idol worship. In other words, it puts us on our guard against building temples, churches, tombs, pyramids and the like. Mummification is not approved in the VEDA. It is when we grew proud of the magnificent churches and majestic temples we erected that we started concealing our soul. It is by degrees that we have forsaken the soul and been enthralled by matter. Matter in Vedic India, was never the Great God as is the bomb today

in the West. The spiritual note struck by the VEDA was not given attention it deserved and materialism has, as a result raised its ugly head. Darwin is in part responsible for this state of affairs. He saw repulsion in nature and approved of what men of letters were dinning into their fellow beings. Bapuji once said about nature. "Though there is repulsion enough in nature, she lives by attraction. Mutual love enables Nature to persist. Man does not live by destruction." This is the Vedic attitude. Mahatma Gandhi did not commit the error to claim to be a Vedic scholar. It will nevertheless be conceded that he was a product of Vedic culture. I am not using the term in a narrow sense.

Coming back to the Ramayana may I add that this book gives the right picture of INDIA. "Forests and mountains" says an excellent critic "and rivers in pristine, unfamed grandeur lose their terror in Valmiki's pages for while he mentions with particularity the paths and thorny lanes, the river fords and the giant sheltergiving trees, he makes only occasional and unexciting allusions to the bloody fights and devastations of beasts of prey, the bites and stings of poisonous insects and the diseases anh deformities caused by them, and movements from untenable to promising spots, of hamlets harassed by flood and fire and famine."

Darwin is responsible too, for the attitude of those who are convinced that when the world was in its infancy, no work was so excellent as to be able to bear comparison with modern books. To be fair, it must be added that the error is not so much Darwin's as it was Herbert Spencer's who is well known for his doctrine of social evolution and progress. It is heartening to find that there are exceptions to the rule. Such was for instance, Dr. Radhakumud Mukerji's attitude. Writing for Indian PEN in March 1942 he stated boldly :

> "The first point of distinction is that the VEDA and especially the primordial work known as the RIG VEDA represents not merely the dawn of culture, but also its zenith.
>
> Indian thought is seen as its highest in the RIG VEDA".

Dr. K. Mukerji goes on to say

"On the one hand it is the first book of India and also of mankind. At the same time, it shows the highest point of wisdom."

With the stroke of the pen, Spencer who was deluded into thinking that he was serving a cause dear to Darwin, relegated a whole body of literature to the background. And that literature is in no sense in favour of violence.

Violence was in the Westerner when he was a forest dweller. It did not abandon him when he left the forest for the town. War remained his preoccupation so that Hobbes was led to infer that in Europe, war was the state of nature *i.e.* natural.

Vedic India taught the whole world how to settle down seriously. When Rome was in need of goods, they were sent regularly from India. They gave grounds for bitter complaints. Pliny complained that the wealth accumulated in Rome was being drained. The goods were

accompanied by the wisdom of the Upanishads. Neither Pliny or anybody else cared a hoot for Indian wisdom.

Medical science was received in Europe from India. J. Auboyer, Conservateur du Musee, Guimet, writes in Life in Ancient India that the list of drugs prepared long ago by the Indians has not lost its usefulness.

The introduction of New Mathematics and by "New" is meant "Indian" here, caused a revolution. Zero made its appearance. It helped the West considerably at a time science started its career in Europe. In a verse of the ATHARVA VEDA it is pointed out that God is one, not two, three, four, five, six, seven, eight nine or ten in number. This is a how zero comes in It has been rightly observed that the ATHARVA VEDA put the idea arithmetically.

Mathemetics served to explain that pure monotheism has its raison d'etre. The west took what it considered to be useful and rejected what in fact, is more useful still. We are ourselves the cause of our undoing. Neglecting God, Europeans paved the way for atheism and materislism. How pleased was the German philosopher Schopenhauer to note that the Aryans never brought their assembly to close without pronouncing the word peace (shanti) thrice. Unfortunately it was not given to everyone to be a philosopher to think.

From time to time, India sent her goods that were invariably accompanied by her wisdom. And yet the trend was not reversed. Far be it from me to blame all Westerners. After Schopenhauer came Sir Alfred Russel Wallace who passed away in the first decade of the 20th century. He was not less responsible for the Theory of Evoluiion than his great contemporary Darwin. A.R. Wallace. however, would not reject the idea that a Creative Power is at work. I am quoting at some length his words and need badly your indulgence.

> "I first endeavour to show by a careful consideration of the structure of the bird's feather, of the marvellous transformations of the higher insects, and more especially of the highly elaborated wing-scales of the Lepidoptera the absolute necessiry for an organising and directive life—Principles in order to account for the very possibility of these complex out-growths. I argue that they necessarily imply first a Creative power, which so constituted matter as to render these marvels possible ; next to directive Mind, which is demanded at every step of what we term growth and often look upon as so simple and natural a process as to require no explanation ; and lastly an ultimate Purpose in the very existence of the whole vast life-world in all its long course of evolution throughout aeons of geological time."

Darwin also had observed our feathered friends, but did not dare to speak about a creative power although he professed himself a Christian. Things spiritual had no chance of arousing attention like "works of man" Mummification in Egypt and burial in Christian countries were far from being useful. Several parts of the Globe have been strewn with

pyramids and tombs. Much space has been occupied unnecessarily. The tug of war between matter and soul has lasted long enough. If religion had not been only of academic interest the world which is over populated would not have lost its soul. However, all is fortunately not lost. The message of the VEDA can still save an erring world. An experiment made on a very small scale has proved encouraging. In Mauritius, hundreds of lovers of literature have, this year, begun reading the RIG VEDA and the Satyartha Prakash done in French.

Friends, brothers in faith from every part of Greater India are putting in an appearance here. I made it a point to remind them that in the begginning of the last century, Indian labourers were sent in their thousands to Fiji, different parts of Africa, Guyana, Trinidad, Mauritius and other countries to work the fields there. The account they gave of themselves has been pronounced good. Their moral stamina that owes not a little to lessons taught by the Ramayana that is based on the VEDA, was striking. How proud are the Indians of Fiji and Mauritius when they light upon this passage one comes across in a work of Dr. Abinash Chandra Bose who is hailed as a "keen student of Sanscrit" that has a life-long interest in the VEDA.

> "With minor exceptions, all Hindus in Malaya and Indonesia went to other religions. The same fate threatens the Hindu settled in West Indies and South America at the present. On the other hand, the presence, on however small a scale, of enlightened elements in places like Fiji and Mauritius makes a difierence in the situation."

It is significant that all Indians outside India welcomed the Arya Samaj which insits that "the Ārya should read the VEDA or hear it read, teach and read it to others". How I wish the enthusiasm of Indians Abroad could be infectious. They lived, rather their ancestors lived in the proper atmosphere. Poverty so say some historians, drove them from India to these distant Lands. They worked with might and main and had no incentive to sqaunder away money. They unconsciously followed this Vedic injunction literally.

> "Do not play with dice ; cultivate thy cornfield
>
> Delight in that wealth, thinking highly of it"
>
> RIG VEDA X 34

They were lying in wait for a saviour. That was indeed a long wait. The saviour came at last in the person of Maharishi Dayanand who was nine years old when the first Indian emigrant reached the shores of Mauritius. Had not the VEDA a special appeal for Indians overseas they would not have hailed the Maharishi of Modern India as one who could turn the attention of the whole world away from materialism. I say "the whole world" advidedly as Indians Outside India have settled in all the continents. I am sure that I will not be misunderstood. I am not indulging in selfpraise. I am confident that on this grand occasion there can be no misunderstanding. It is the love that the sons of Mother India bear us had made it possible for us all to meet here to plead with the world to give a chance to the VEDA, book of divine knowlege with such a lofty message for the well-being of humanty at large.

# Vedic Cosmogony

*Shri Kuldeep Chaddha*

**Introduction**

Cosmogony, according to the Chamber's Twentieth Century Dictionary, means, a theory or a myth of the universe, especially of the stars, nebulae etc." It is commonly understood to describe the processes or the sequence which resulted in the birth of all heavenly bodies These heavenly bodies can be conveniently divided into two groups. One group consists of the Earth and such bodies as are closely connected with it eg., other planets, the Sun and the Moon etc. The Sun reigns supreme over this group which, therefore, is generally referred to as the Solar System. The second group consists of bodies and systems located far away in space, so far that light, which travels 3 lakhs of kilo-meters in a second, takes many years—in certain cases, thousands and millions of years—to reach us from these bodies and systems.

Needless to say that cosmogony, is a part of science, and science, according to the aforesaid dictionary again, means "knowledge ascertained by observations and experiments, critically tested, systematised and brought under general principles."

**Modern Cosmogony—Theory or Myth ?**

Now let us see if it is possible for anybody to carry out experiments and establish a theory of Cosmogony. As regards the solar system, it came into existence millions of years ago, according to the modern science itself. Evidentially, we can neither carryout any 'experiment' regarding those past phenomena in this present age, nor can these be "observed." As regards the other group of heavenly bodies, the events taking place in those far off regions today, will be observed by us much later, when the rays originating therein will reach us. Conversely, what we appear to observe today, actually took place much earlier—how much earlier, that will depend upon the distance of a particular region from us. Hence we can forget to acquire contemporary or instantaneous information about cosmogony through experimental and observational science. There is, of-course, one possibility. If we believe that the processes of nature enact themselves, within various frameworks of space and time, exactly similarity, then even if we get delayed information about a process, we may acquire a feel of natural laws governing these processes. This will also involve lot of imagination and mental exercise and the reeults will mostly depend upon such efforts, rather than observations. The results also will form a very general picture whieh cannot claim precision or perfection. It is high time, therefore, that modern astronomers admit these limitations regarding their science and place it before the general educated public without any ambiguity, so that it should be understood that there can be no theory of cosmogony in the modern science, according to its own definition. If at all there is any thing, it can be called only a myth !

**Cosmogony and the Vedas**

The above logic has been brought out clearly in the Vedas, which according to the faith and belief of all Arya—Hindus, were revealed by God the Almighty in the beginning of the human creation and contain the seeds of all knowledge pertinent to Man. This revelcation was necessitated, because the Almighty is aware of various limitations of human observations. Confining ourselves to the present topic, the Rigveda asks in Mandal 1, Sukta 164 Mantra 4 : "Who ever saw the one with its bony structure (*i.e.* the Sun) without anybones (or solid structure) taking first birth ? Wherefrom came this life, this blood and the soul of the Earth ? Who will go nearer to the learned one asking this (and answer his query) ?".

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत्

Here the Veda brings out the fallacy of man trying to create theories of cosmogony based on obervations. But who could observe these primitive events ? Let us, however, make it very clear—Vedas never discourage human efforts, endeavours or observations etc. This Godly knowledge only makes the Man aware of the limitations of such efforts. How certain simple observations, at times, lead to erroneous conclusions is cited in the form of an example regarding the relative positions of heavenly bodies. For, says the Veda,

ये अर्वाँचस्तां उपराच आहुर्ये परांचस्तां अर्वाँच आहु: ।

Rig 1-164-19

"The near ones are called distant and the distant ones are called as near-ones."

Now a question arises, if observational science is not perfect, how will the inquisitive mind be satisfied ? Whence will he know the truth ? In reply, the Vedas come forward saying "Here is the Learned one who will enlighten the inquisitive". To quote,

अयं कविरकविषु प्रचेता

Rig 7-4-4

**Balanced Approach**

Before we describe how the Vedas enlighten us as regards cosmogony, we would like to clarify our approach in this regard. Certain Sanskrit scholars interpret the word "VEDA" to embrace all Upanishads, the Braahmanas and the Puraanas etc. We cannot digress here why we do so, but we shall confine our quotations almost entirely from the Trayee. Secondly, the approach adopted by certain scholars is to prove how the Vedic (or ancient Indians) views fit into the ideas advocated by modern science. Sometimes, the interpretations are stretched for this purpose. Such efforts, at times, have put forward contradictory interpretations of Vedas, to satisfy the changing ideas of the observational science. This actually defeats the very purpose of calling Vedas the "Knowledge Divine." In the present paper,

therefore, our approach would be of stating the Vedic ideas as they are, or as understood by us.

A third trend is to present isolated mantras—or parts thereof—as indicative of isolated scientific ideas and to elaborate this information by personal imagination and views. In contrast, we shall present extracts from Vedic text and only connect them to present complete picture. It may also be stated that the ultimate aim of the knowledge of the Vedas is human salvation. With this in view, Vedic mantras are usually interpreted to yield spiritual or AADHYAATMIKA meaning. For our present aim, however, it was natural for us to prefer the "physical" interpretations.

Cosmogony has been broadly explained in the Vedas in two forms—direct and indirect In a few mantras of Rigveda the process of the creation of the cosmos has been given in a nut shell. By seeking help from the SANKHYA in this case, we shall present a logical frame work. We shall discuss this in Part I of this paper. This discussion mostly covers group two of the heavenly bodies, as described in the beginning.

In the indirect exposition, Vedas present information in symbolic and poetic form, mostly about the Solar system. This is required to be understood with the help of imagination even a child may do what elders cannot. For, says the Veda,

कविर्यः पुत्रः सईमा चकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्

Rig 1-164·18

"Even a son (child) who possesses imagination, can find out whatever is around ; he who acquired knowledge like that became the father of the father."

This exposition will be presented in Part II.

## PART—I

Vedic knowledge is also known as Brahma Gnaan. It has two well known aspects, Rita and Satya. As to the significance of these two words, we can do no better than to refer to the first principle of Arya Samaj as inunciated by Dayaananda, "God is the fountain bead of *all true knowledge* and those *aspects which can be understeod by it*". The underlined portions of the above quotation stand for Rita and Satya respectively. The modern science is also based on these two aspects is the laws of nature and the properties of the materials, which, are governed by these laws. The multitude of experiments being carried out if science reveal these two aspects only (with certain limitations, as already explained earlier).

### Creation

Coincidentally, the Vedamantra we propose to start with, for propouonding the Vedic cosmogony also starts with these two words ie Rita and Satya. The outlines of Vedic

cosmogony are very beautifully described in this mantra and the succeeding two mantras of the 10th Mandal of the Rigveda.

The first mantra states :

श्रतच सत्यंचा भीद्धात्तपसोध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो उर्णवः ।

Rig. 10-190-1

Befare proceeding with his creation, (God) "acquired and adopted Rita and Satya. Thereafter Tapas ie activities (in accordance with ऋत and सत्य ) were born. Then the NIGHT was born". The word "NIGHT" here has an uncommon significanee. It is symbolic of darkness. For, elsewhere the Rig. says :

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे

Rig. (10-129-3)

"In the beginning, there was darkness (a condition) even deeper than darkness".

Evidentally, this was no ordinary darkness too, as we experience whenever there is power shut down in the nights now-a-days. This DARKNESS had a special significance which has been explained in some supporting shaastras. We shall quote here from Manusmriti. This books starts with many sages approaching SWAYAMBHUVA MANU for a clear elucidation of Dharma. In response MANU states :

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षपम्

Manusmriti 1-5

"All this was darkness. There was no knowledge or symbol of any physical entity".

In order to know why it was so, we shall refer to the SAANKHYA DARSHANA. According to it, this situation was due to a condition of equilibrium amongst the three basic aspects of matter called the SATTVA, the RAJAS and the TAMASA.

To quote :

सत्त्वरजस्तमसां साम्यायस्था प्रकृतिः

(1-61)

The above three aspects can be translated in English as the Existence, the Activity (or Expression) and the Inertia (or the Deadload). According to Saankhya, nature was in the situation of a perfect equilibrium as regards these three aspects. In this situation, matter cannot be perceived by any one of our fixe senses, or even with the help of precision scientific instruments (which only improve the perception capability of our senses).

This expressionless was gradually transformed into ( समुद्रो अर्णवः ) an ocean of

material particles, as a result of the Tapas. In the same sutra, Sankhya proceeds on to describe various stages through which it had to pass, to reach this from :

प्रकृतर्मंज्ञन् महतो ऽ हंकारो ऽ हंकारात् पंचतन्मात्राण्यु भयमिन्द्रियं,
पंचतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि

That is, when the equilibrium was disturbed, the non-material became MAHAAN, ie 'big'. The expressionless form acquired particle nature. This was most probably the transition from pure energy form or anti-matter, into matter-proper.

The resultant particles were still sub-microscopic and henee could not be "identified". Next, therefore, the particles achieved their "identity" or "individuality" or AHAMKAARA. (This might have been the transformation from nuclear to atomic or elemental particles). From AHAMKAARA, it progressed to the position of the five TANMAATRAAS where the particles could be perceived by the five senses. Thereafter, of course, the microscopic world was generated. All this resulted from activities called TAPAS, as already stated.

We have not, however, been able to locate any mention of the nature of those TAPAS. But evidentally, all material bodies are endowed with mutual attraction. In the space where practically no frictional resistance is experienced, it was natural for adjacent particles to get accumulated and form microscopic assemblies. The electrical natnre of certain fundamental particles as revealed iu the modern atomic sciences would aid this accumulation of ultra-microscopic matter into perceptible particles. We believe there is no mention of neutrons, protons and electrous in Vedic description, as is claimed by certain scholars. We would reserve our comments on this aspects and proceed further.

As a result of the details suggested by Saankhya, the night was transformed into an ocean of the particles of basic raw materials. Thereafter :

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।

(10-190-2)

"From this ocean of material partieles, a rotational process arose". The forces of attraction which resulted in the primitive matter to acquire microscopic and then macroseceopic magnitudes, now caused rotational or spirraling motions which are expressed as SAMVATSARA, Due to this, and the consequent relative motions, various periodic aspects and magnitudes. from days and nights to years etc. were generated. (Incidentally, Samvastara also means "Year" in Sanskrit. This shows how scientific are the ideas enshrined in Vedas. The two meanings of this words are sufficient to explain the significance and physical cause of the phenomenon resulting in the creation of a year). The above mantra further states, "The controller ( वशी ) of the cosmos planned different magnitudes for the lengths of days and nights of (various) moving worlds".

सूर्याचन्द्रमसो धाता यथापूर्वमकल्पय
दिवंच पृथ्वींचान्तरिक्षमथो स्वः ।

(10-190-3)

"Thus he created the Sun and the Moon as planned earlier. (Not only that.) He created DYULOKA ie the starry sky, the Earth and the interplanetary space."

Vedas thus explain the creational process starting from the anti-matter or pure energy form, and gradually, through the process of microscopic particles and macroscopic bodies, to massive celestial bodies like the Sun, the Moon, the Earth, the starry sky and the space intervening.

The above description is general in nature, although it refers to the Earth, the Sun and the Moon of the solar system, as examples. Creations like those of our solar system, are taking places every moment, somewhere in this vast cosmos.

## Three-Tier System

Let us now draw your attention to the following three words which we utter during our daily prayer :

भू: भुव: स्व:

These are also uttered during Agnihotra, in conjunction with another set of words, as :—

भूरग्ये स्वाहा ।
भुवर्वायवे स्वहा ।
स्वरादित्याय स्वाहा ।

This indicates the connection of Bhooh, Bhuvah and Swah with AGNI (Fire), VAYU (Air) and AADITYA (Sun) respectively. These three words ie Bhooh, Bhuvah and Swah, thus form the confines of our Solar system.

We would like to refer to the daily Vedic prayer again, wherein we recite :

ओं भू: । ओं भुव: । ओं स्व: । ओं महः । ओं जन: । ओं तपः । ओं सत्यम्

after the anga-sparsha mantras. We observe here on extension of the above three aspects to seven, by addition of four new aspects ie :

महः, जनः, तपः, सत्यम् ।

These seven are symbolic of seven parimandals or spheres of activiiy.

There is a saying in Sanskrit that, for large hearted ones :

वसुधैव कुटुम्बकम्

"the entire Earth is a family".

This broadmindedness also appears narrow, when we consider the vast cosmos. According to Vedic ideas, the broadmindedness starts only when we surpass our solar system, confined to BHOOR-BHUVAHSWAH and perceive MAHAH. This fourth parimandal is a sphere incorporating many systems like our solar system and isolated bodies.

The word MAHAT was used earlier, in the context of the matter which had transformed itself, from utter unperceivable darkness, into perceibable raw matter. In this present context, we are moving baek towards that primitive stage. MAHAH is followed by JANAH, the fith parimandal, wherein the heavenly bodies are being "formed" or taking birth ! A still earlier stage is the sixth parimandal, TAPAH where only activity has started. And the seventh parimandal is called SATYAM where the matter exists in the preliminary state, may be as antimatter, may be as energy alone !

So, Vedic cosmogony has closed on itself, in a very logical and interesting fashion, revealing at the same time how all this happaned with our world and how it may be happening in remote corners of the cosmos, in connection with new worlds.

These seven *pavimandals* are stated by the Vedas to constitute a 3-tier structure of the cosmos. With reference to the life on our Earth, these three tiers or states can be called the Solar system, the Celestial System and the Formative System. Each of the states is bounded by two spheres on its extremes and the third one interconnects them. There is a contiguity between the three tiers, due to which two spheres are common, As an example, the Earth and the Sun are the boundaries of our Solar System and of the atmosphere that interconnects them. The celestial system starts with the Sun and ends with JANAH, with Mahah intervening. The last tier starts with Janah and ends with SATYAM with Tapah intervening. Thus these seven spheres carry out the functions of nine spheres.

As we shall explain later, the Earth and the Sun are symbolised in the Vedas as the Mother and the Father respectively of the human beings. With this anology, each of the three tiers has a mother and a father (as symbols only, to explain the equation with the solar system) and the entire setup is described by the following mantra of Rigveda :

तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वंस्तथौ

Rig. 1-164-10

"The three mothers revolve around the three fathers. poised one above the other". To elaborate :

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्

Rig. 2-27-8

"The three Earths holding three Suns were connected through three intervening regions".

It may be clarified that this three-tier system is conceptual and the three regions are not located physically surrounding each other. That is why we gave them the alternative nomenclature of three States.

Vedic cosmogony thus embraces all heavenly bodies, seen or unseen, existing or trying to come into existence, right from the Earth, the Sun and the Moon, to nebulae and galaxies and the interstellar matter. All these are part of "KHAMBRAHMA" which permeates — all space.

As stated in the beginning, we do not propose a direct comparision between this scheme of things and that which goes by the name of science. This latter shifts its ground with every new major observation. It is therefore futile to compare the eternal truth of the Vedas, with these temporary ideas. Still, for the sake of interest, we may state that the latest theory of cosmogony proposed by Dr. H. Alfven, the Nrbel Laureate of Sweden, approaches Vedic ideas very closely. The concept of the utter absence of matter in certain pockets of the space, as symbolised dy the primitive darkness, is only now being understood by modern scientists, who have idntified these dark clouds as regions of new creations, a fact revealed by the Almighty through Vedas in the very beginning of human creation.

## PART II

### Solar System

Let us now retrace our steps from these distnnt and mystic regions and return to our solar system. Let us see how the Vedas describe this region in greater details.

The first lesson that the Vedas would like us to learn is abbut the symbols through which Vedas yield knowledge of this region. We will have to remember that "the Sun is my father and this vast Earth is my mother." To quote :

द्यौर्मे पिता·········मे माता पृथिवी महीयस्

Rig. 1-164-32

Having acquainted us with these symbols, the Vedas start unfolding the storehouse of knowledge :

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा वीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवःकमीयुः ।

Rig. 1-164-8

"The mother carried out her duties, with patience as her fore most characteristic, without (the company of) the father. but belonging to him alone through her thoughts. Entrusted with dangerous fluids (in her belly) she accepts with bowed head whatever command is received (from the Sun)".

In factual language, this explains how the earth is kept bound to the Sun gravitationally although it appears to move along in the space.

It should be appreciated here how the Vedas relate the observational impression with the facts as they actually are.

This picture of the mother and the father is further elaborated thus

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अनुगामपश्यद्विश्वरूपयं त्रिपु . योजनेपु ।

Rig. 1-164-9

"The mother was engaged in revolving around her axis. The womb (or the contents of her belly) stayed whithin this traveller of the space. Her calf, while following her without making any noise. saw unique scene, which was the result of three schemes".

Evidentally, these three schemes are :

(a) Earth bound by the Sun, but seemingly moving alone ;

(b) Earth revolving about her axis ; and

(c) Earth keeping the Moon bound to hereself, as a calf follows its mother.

Thus, according to Vedas, the Moon is held by the Earth which revolves her axis and also around the Sun. The Rigveda also refers to other planets, which were born out of the Sun, like the Earth :

इन्द्रश्च या वकथुः सोम तानि ध्रुवा न युक्ता रजसो वर्हान्द ।
उरू हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थानन्वेतवा 3 ।

Rig. 1-164-19

"Oh Moon ! Those whom the Sun created, they are carried (along with him) by forces (of attraction) as if connected by means of spokes".

## The Sun the Traveller in Space

And what about the Sun ? It is stationery or does it move ? Vedas say, he travels in space or the cosmos, parmeated by the interstellar dust. This dust has been called as AAPAH in Vedas. Now AAPAH also means "waters" and VARUNA is the king of waters. Hence he is the king of this interstellar space also. This king Veruna chalks out unseen paths for thr Sun in the space. For. says Rig. (1-24-8) :—

अपदे पादा प्रतिधावते करु तापवक्ता हृदयाविधाश्चित् ।
अमी य यक्षा निहित्तास उच्चा नक्तं ददृशे कुह विद्दिवेषुः ।

"The king Varuna fixed vast pathways for the movement of the Sun, for establishing his feet where there are no foot—prints. This he fixed without any oral command, as this was ingrained in the heart (of the Sun)".

Not only the Sun, but many stars are within the cosmos, the realm of this King Varuna. They sparkle in the night sky and a common man does not know where they go by the day. Says Rig. (1-24-10) :—

अदब्धानि वरु पस्य व्रकानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेत्ति ।
अदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्रयुच्छतः । धृतव्रताय दादुषे ।

"These stars are visible to the night ; where do they go during day-time ? Limitless are the duties of King Varuna—only Moon is sufficient to illuminate the nights".

In the next mantra, the investigator says, if I try to find all this about the lights of the sky, I may waste all my life. So I pray to you to tell us about all this.

वरु पेह् वोध्यरू शंस भा न आयुः प्रमोषी । ह्वग्वेद १-२४-११

And Varuna says, it is not difficult to know these secrets. You can know them gradually and patiently if you maintain your interests, your vow to know the truth.

तअित्समानमाज्ञाते वेनन्ता न प्रयुच्छतः धृतव्रताथ दादुशे ।

Rig. 1-25-6

"All this is easily assimilated (by men) who are carefree like the one playing a musical instrument—(but this knowledge is) for him who takes a VRATA, a vow and is open-minded".

## The Months and Seasons

For such a fellow who takes the vow as above, Veda has a messnge :

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदा य उपजायते ।

Rig. 1-25-8

"While carrying on your (normal) duties and caring for your offsprings, try to learn all about the twelve months. Investigate who creates these".

The Veda here calls upon the Man to carryout his domestic duties and tells him, by the way. that there are twelve months in a year.

Similarly in YAJUR 9-32, there is a mention of six seasons" षड् ॠतूनुदजयन्तानुज्जेणं % How the month of ASHAARHA is rainy. JYESHTHAA hot. spring months sweet etc is also nicely described in YAJUR (13-25 and 26, 14-6 and 14-15).

## The Space of the Earth

**Next we shall see how intricately Vedas reveal the correct space of the Earth through two mantras which are in the form of a question and the answer.**

**इयं वेदिः वरो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**

**In Rig. 1-164-34, it says :**

**"I ask you about the ultimate limit of this Earth ; I ask you where is the centre of this Earth". The answer in 1-164-35 says :**

**पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः यत्र भुनवस्य नाभि**

**It literally means, this VEDI of the YAGNA is the ultimate end of this Earth and where YAJNA is located, is its centre. This question and answer has been repeated in YAJUR 23-61 and 62.**

**Now YAJNA can be performed in a VEDI in any home. This means any place on this Earth can be its end. Similarly any point, where a Yagna is established can form the centre. Any student having even a preliminary knowledge of geometry can guess that this is possible only if Earth is spherical. Well, Vedas have their own poetic way of expressing the truth. For, are they not the language of the great poet-philosopher, KAVIR-MANEESHEE ?**

□□□

# Contribution of Vedic Thought to World Peace

By Prof. Satyavrata Siddhantalankar

## 1. THE PROBLEM.

Since the dawn of creation the world is torn between two conflicting emotions and thoughts ;— love and hate. A person loves those, who he thinks, will help him in the realization of his interests, and hates those, who are likely to oppose him in the fulfilment of his ambitions. Thus two orders are created with regard to an individual, family, group, society, nation and the country. An individual forms friendship with persons who share common interests with him. He loves them. He might also come across persons, who act as obstacles in the path of the fulfilment of his ambitions. He hates them. The same principle applies to families, groups, societies, nations and countries. On the one side, are arrayed those who are with us and, on the other side, are arrayed those are against us. Our reactions are : those who are not with us are against us. We are at peace with those who are with us and are at war with those wno are against us. The more are we extend our area of common interests with others the more we are at peace. The more we maintain our separate existence, the larger is the possibility of conflict of interest with others—resulting in want of peace.

There is no denyiny the fact that man — whether as an individual, as a part of a family, a group, a society, a nation or a country — in the long run wants peace and harmony. The ultimate object is to bring heaven on earth by the materialisation of the long-cherished dream of One World where there may be no conflict, no war, and where peace should reign supreme. But the problem is : has been successful in ushering in the era of millennium by unification of all the conflicting forces of the world. If not, why not ?

With a retrospective look on history we observe that there have been several attempts aiming at the unification of the world at various levels. There attempts can be classified as :

(a) At Physical level, which means the use of milltary force,

(b) At Socio—economic level, which means the removal of social and economic inequalities by taking possession of the power of State,

(c) At semi-spiritual level, which means the use of religion supported by military might, and

(d) At Spiritual level, which means the realization by the individual of the Principles of Brotherhood of Man and common interests of Mankind.

Let us see how these attempts have fared.

## 2. Idia of one World at Military Level.

The pre-condition of peace is unity, and to that end mighty men ef the world have harnessed their military power to crush by violeuce all that stood in their way. Alexander the Great trod underfoot country after country and tried to subjugate every kingdom. This was an experiment in creating the concept of One World by eliminaing the existence of alternate power, where unity should should prevail and no room left for dissensions and complects, which disturbed peace of the world. Alexander failed and the World could not become One. Nepolean embarked upon similar course. His genius was unequalled. He tried to level down the carriers that separate one country from another and one nation from another nation. This experience also rested on hatred and violence. Though oftenvictorious, ultimately he found himself escoused in St. Helena the world remained as it wss—not One, but a conglomeration of many conflicting interests, running through different countries and nations.

In recent history we had two World Wars—the declared object of both which was to ead the threat of war for-ever. The first World War started in 1914 and ended in 1918, leaving a bitter legacy which convinced the nations of the world that hatred, violence and war could never by instrumental in cementing the conflicting claims and interests of nations. Having realised that permanent peace on earth can never be established by resorting to violence, the World-leaders set themselves to the task of evolving the principles upon which peace foundations of the world could be safely laid. This resulted in the treaty of Versailes of 1919, establishing The League of Nations with the avowed object of International Peace. This organisation, set up after the First World War to promote international cooperation and to achieve international peace and security, failed to enforce its decisions and was consequently unable to prevent the Second World War of 1839-1945. The intervening period between the two World Wars from 1920 to 1938 was utilised by the Nations for ptepating for another devastating world war which was fought between the Axis and Allied Powers during 1939-1945. During the course of the Second World War the leading International Personalities realized that the League of Nations had not served its intended purpose and that a second look at the whole problem was necessary. After the end of the Second World War a new international organisation was set up—The United Nations Organisation. This Organisation was founded in San Francisco (USA) in 1945 under a permanent charter ratified by 50 countries who were opposed to the Fascist coalition of Germany, Japan and Italy and their satellites. Now its membership has gone up to 126. After the formation of the U. N. O. the League of Nations was dissolved in 1946.

Though the formation of the United Nations Organisation was a right step in the right

direction, yet the question still holds good : Has the era of peace dawned upon the World ? Has war disappeared ? So far as India is concerned, Pakistan has attacked India three times. Once in 1947, Pakistan usurped a part of Kashmir which question is still hanging fire in U. N. O. Again in 1965, Pakistan declared war against India without provocation. And yet again on 3rd Decmber, 1971, Pakistan declared a total war against our country. Earlier, China had committed aggression against India in 1962. Besides, there have been frequent wars between Egypt and Israel, North and South Korea and Vietnam, Cambodia and Laos etc, What has the United Nations Organisation done to prevent these wars except indulging in debates in the Security Council where the decision one way or the other could be vetoed by either of the 5 Great Powers. The concept of veto itself means shat the interest and ambitions of the vetoing power are safeguarded. Where interests and ambition step in—be it in the matter of individual, family, group, society, country or nation—peace remains a remote dream.

Inspite of the United Nations Organisation piles upon piles of Atomic bombs are accumulating. Countries are vying with one another in increasing their devastating potential and a major part of their revenue is spent upon stockpiling the lethal weapons. They talk of peace but prepare for war. The intervening period between the war and the other is a period of platitudes for peace but, in fact, it is a period for equiping oneself for a war which, they have always claimed, will end war but has never succeeded in ending war.

Very recently on 19th Ontober, 1975, when Dr. Kissinger, U. S. Secretary of State, visited China to prepare ground for the visit of Mr, Ford, the President of United States, Mr. Chiao Kuanhua, Foreigu minister of China remarked : "The only way to deal with hegemonism is to wage a tit—for—at struggle against it. To base oneself on illusions, to make hope or wishes for reality and act accordingly will only abet the ambitions of expansionism and lead to grave consequences. The stark reality is not that detente has developed to a new stage, but the danger of a new world war is mounting."

The same day Mr. Kewal Singh, India's Foreign Secretary, urged at a United Nation's forum that the current hot—beds of conflict and situations of strife should be ended in full implementation of the U. N. declaration on strengthening international security.

We are still moving in the dreaded atmosphere of fear of tit—for—tats and new wars as well as in the atmosphere of 'shoulds' after 30 years of the founding of Unted Nations Organisation.

### 3. Idia of one World at Socio—Economic Level.

Another attempt at World unification to bring about lasting peace has been made at at social and economic level by socialist and communist philosopheres headed by Karl Marx. According to them, the peace of the world is disturbed due to social and economic inequali-

ties. As the rich grow richer social status also changs resulting in economic and social stratification. Some stand higher and some stand lower in the scale of social structure which gives rise to social conflict and disturbauce of world peace. As people with vested interests cannot be willing to part with power, so by resor ting to class war the conflicting element of social and economic inequality is eliminated and an equilibrium is established. This experiment has been tried mainly in Russia and China, following into the footsteps of those who taught that war was a biological necessity. Just as Alexander and Napolean resorted to war against the countries of the world and relied on military force and violence to establish an Empire of their own, which was their conception of World peace, similarly leaders of Russian and Chinese revolution relied on violent methods and established a government in their respective countries of their choice. Having done so, these two Protagonists of world peace, though ideologically repeating the same Mantrams. stand face to face to fly at each other's throats at at a moment's notice. Is it not strange that these two nations, professing the same ideology, abuse each other as reactionaries and revisionists and are regarded as bitterest enemies. The reason is not far to seek. As they have achieved their objectives through violence, they cannot get rid of that madness. Realizing that the only weapon left in the armoury of the Western nations for the achievement of the idea of One World is military foree, Bertrand Russel in a pessimistic, subjective mood wrote in 'Atlantic Monthly' in March issue of 1951. I quote :

"The world is in a state of international anarchy for which the only solution is a world—government or a world empire. The British Commonwealth and the United States must be convinced of the military unification of the world. They should then offer to all other nations the option of entering into a firm alliance in which resources will be pooled and defence against aggression assured. After a reasonable measure if consolidation has been achieved, recalcitrant nations should be declared public enemies. If they yield, the threat of force succeeds; if they do not, war decides the issue."

Mr. Rund favoured the United States, but was of opinon that even a world empire of USSR would be preferable to the present international anarchy, Anold Toynbes who recenlty died, was also strong advocave govrnment.

So, this is where we have come to. First it was Alexandar the Great; then Napolean; then the League of Nations; then the United Nations Organisation; then Marxism—Leninissm; then Bertrand Russel's advice of despair—but all this through military dictatorship—the objective being One World, One Government, One Empiri for the achievement of peace of the world

## 4. Idia of one World at Semi—Spiritual Level.

The third attempt at the One World concept was made by Christianity and Islam by spreading their religions throughout the length and breadth of the worle. Christ preached

Universal Brotherhood of man and his followers took his message to every book and corner of the world and were to some extent successful in removing the barriers between man and man. But Christianity spread and the Church became an Institution and the authority was vested in the Pope, worldly interests were created with the result that the atmosphere of peace generated by the teachings of Chtist became vitiated. Luther revolted against the vested interest of the Pope and established a protestand organisation. The unity established by the Church in various countries fell to pieces as everywhere the Church was split into Roman Catholics and Protestants. At this time the Pope took to violence and no stone was left unturned to suppress the hereties—Protestants. The chasm between the Catholics and Protestants assumed the form of regular torture of Protestants by Catholics. Latimer—a Protestant bishop was put to death by the order of the Church and was burnt alive. Ecclesiastical Inquisition was instituted to suppress the non-believers in the dispensations of the Holy Church and the heretics were guillotined. Both the eras—Reformation and Renaissance—which brought in freedom of thought and intellectual light in Europe, were met with violent resistance by the Church. Not only the so-called Christian heretics were killed but even men of science, who since then have changed the shape of the globe, were done to death. Bruno, who propounded helīocentric theoy, was arrested at Venice by the order of the Inquisition, imprisoned for two years and then burnt alive at the stake in Rome. Galleo proclaimed that instead of the sun moving round the earth, the earth moved the sun. He was but in prison and was released when he retracted from this theory as it militated against the conception of Christianity.

Islam also started its career of bringing, oneness to the world by coercion. It went on spreading its message at the point of the sword. Jehad was its driving force.

Both Christianity and Islam, though spiritual forces in their inception, became semi-military by the passag of time. Hence their call to the world was semi-spiritual as it was based not so much on voluntary acceptance of the principles of these religions but on their potentiality for violence and the threat of loss of life. Oneness, which is resultant of fear, cannot be lasting factor for cementing mankind as is evident from Christian and Islamic countries fighting against one another. Peace brought in by coercion cannot be a peace of heart. As Christianity and Islam have used military power through crusades and jehads, hence we have styled their efforts as semi-spiritual. Any way, these forces have ceased to be potent factors in the present set up for ushering in an era of One World.

## 5. Idia of World Peace at Spiritual Level.

The only country which has used unmitigated spiritual power in the cause of developing the concept of One World without using even a modicum of force is India. More than two thousand years ago, Ashok, the Indian Emperor, launched a scheme of world unification and sent his emissaries of peace, to every book and corner of the globe, with a message : "Man has remained till now an enemy of man and has divided mankined into separate castes, creeds and nations. He has derived nothing from it other than jealousy, hatred, bickering and distrust which have culminated in struggles and wars. The time is now ripe when we may forget the caste, creed and nation or country. Let us remember that our country is the whole world and our nation includes all mankind.

It was in 3rd century B. C. that Ashok delivered the message not of the sword but of the milk of human kindness, not of the ego but of the spirit. At the time of Ashok a Great Assembly—Mahasabha—was held, presided over by Mauggaliputta Tishya when learned men were sent to four corners of the earth to carry the message of Universal Brotherhood. He sent his son Mahendra and his daughter Sanghamitra to Ceylon. After that waves after waves of missionaries saturated with the teaching of Ahinsa and non-violence preached by Budha left the shores of India in every direction of the world with the result that Assam, Burma, Bali, Camboida, Java, Sumatra, China, Japan, Tibet, Eastern Asia, Western Asia, Eastern Turkistan—all were knit with the silver chord of brotherhood, and the concept of One World, so far as it could be possible in those days of great distances and want of means of communication was almost achieved. The spirit behind this achievement is well illustrated by an anecdote which has come down by tradition. Hiuen Tsang, a famous Chinese pilgrim came to India at the time of Harsh in A.D. 630. He stayed here for 12 years and collected a lot of precious Budhist manuscripts to carry them to his country. While returning to China through the Bay of Bengal he had two young Budhist monks with him—Gyangupta and Tyagraj—in the vessel carrying him. While the vessel was in mid—ocean a storm raged and the captain of the vessel ordered that to save life pilgrims should unload as much material burden as possible. Hiuen Tsang was about to throw overboard the huge precious load of books when these two young monks intervened. They remonstrated with the pilgrim saying that these books may be the source of dispelling darkness in many hearts of generations to come and so rather than the books be lost they would prefer to lighten the burden of the vessel by jumping into the ocean. Hiuen Tsang was about to protest when, of ten and behold, the two young monks were lost into the surging waves of the ocean. At this sacrifice Hiuen Tsang was lost in thought and silently bowed his head to the land from which he was carrying the message of peace and brotherhood to his motherland.

It is unfortunate that at the time of Harsh,Budhism had split into Hinayan and Mahayan and dissensions arose in Budhism itself. Besides, Budhism and Hinduism came into clash, so mucso, that an assasin was hired by some Brahmans to kill Harsh for his love towards Budhism. Harsh escaped the assault but ultimately he was murdered by his own minister—Anjun. However, Budha's message of love, non-violence and Ahinsa had gone far into different corners of the earth and an unofficial United, Non-aggressive atmosphere prevailed in far-eastern regions of the globe as well as on Western borders of India.

Budha's message was the message of the saints and sages of India, the message of Rishis of yore, the message of Patanjali of Yoga philosophy, the message of the Vedas. The Vedas declare :

शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः । यजुर्वेद । ११-५ ।

"Hark ye, all men, children of the Immortal Divine ! Decendants of common heritage, that ye are all one. The Rig Veda says :

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्
देवा: भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते । ऋग्वेद । १०-१९२-२

Your thought should be in harmony with each other, your speech should be in harmony with each other, your action should be in harmony with each other. This is how your elders realizing their responsibility played their part in society. And again :

समानी प्रपा सह् योऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह् वो युनाज्मि
सम्यञ्चो ऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित : । अथर्ववेद ।३।३०।६

You should drink together, eat together, live together as if joined in a common yoke. Just as the pokes rotate fixed in a common axle similarly you should feel yourselves fixed in social organisation worshipping God who manifests himself in the form of sacrificial fire—Agni. And again :

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचि कित्सति । यजुर्वेद । ४०-६ ।

One who sees all creatures as if they were his own selves and himself in others—his mind rests in peace with no doubts to disturb it. And again :

अयुतोदऽहम् अयुतो म आत्मा अयुतं मे चक्षुः अयुत् मे श्रोत्रम् ।
अयुतो मे प्राणाः अयुतो मे व्यानः अयुतोऽहम् सर्वः । अथर्व १९-५१-१

I am not one but am millions; myself I see in millions of beings. These millions upon millons of eyes, ears, lives are but my eyes, my ears, lives. I see myself at one with the countless lives of the earth—they are me and I am they. And again :

विश्व आशा मम मित्रम् भवन्तु । अथर्व वेद । १९-१५-८

In whatever direction I turn my eyes I look upon every one as my friend.

In Atharva Veda, one of the Chapters (3.30) styled as Samanasya Sukta (सांमनस्य सूक्त) Universal Harmoy of mind—is entirely devoted to the cultivation of equilibrium in society. It visualizes a social organisation in which there is harmony of head and heart among the components of society and conflict—सहृदयम् सांमनस्यम् अविद्वेषम् कृणोमि,'व—and in which men and women live as brothers and sisters—'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वासारमुत स्वसा'. it exhorts the people of the world to love one another as the cow loves her first-born—अन्योऽन्यम् अभि हर्यत वत्सम् जातम् इव अघ्न्या'।

And further, in Atharva Veda (12-1-45) it is stated :
जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्मणाम् पृथिवी यथौकसम्
सहस्त्र धारा प्रविणस्य मे दुहां धुवेव धेनुः अनयस्फुरन्ती ।

Just as a household with men and women speaking different tongues and holding diverse thoughts remains a unit undivided—'यथौकसम्'—similarly this earth of ours people

with men of different languages and different viewes should remain a unit undivided. And then, just as a cow standing steady yields milk in a thousand streams, so the earth will yield its wealth in a thousand different manner.

And again in Atharva Veda 12-1-60 we read :

भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यत् आविर्भोगे ऽ भवत् मातृमद्भ्य: ।

All the enjoyable wealth that is hidden in the bowels of the earth is meant to be unearthed for the enjoyment of one and all who are born of the mother's womb, those who are मातृमत् . It is a very novel idea of saying that provision per head, clothing and shelter is every body's birthright.

In Atharva Veda 12-1-1 the fundamental principles that should guide the seekers of One World idea are beautifully envnciated. It says that the basic factors that can sunstain the peace of the earth are :

1. Truth—सत्यम
2. Law—ऋतम्
3. Vow for service—दीक्षा
4. Austerity—तप:
5. Faith—ब्रह्म
6. Sacrifice—यज्ञ:

सत्यम् वृहत्, ऋतम् इग्रम्, दीक्षा, तपो,ब्रह्म, यज्ञ, पृथिवीं धारयत्ती ।

The cementing forces that can sustain the peace of the earth are—Truth, the irrevocable and inexorable Law, Vow for the Service of Mankind, living a Simple and Austere Life, Faith in the Universal Divine Power and Selflessness to the extent of sacrificing one's interests for the welfare of others. Conversely, untruth, Lawlfishness, Luxury, Denial of the Supreme Power and Violence destroy the earth. The world today is surely in need of peace which is encluding its grasp simply because we applaud Truth but practice Falsehood, we exhort others to honour the Law but break the self-same-law where we are concerned, we preach our fellowmen to take a vow of service but ourselves we are saturated with selfishness, we admonish others to live an anster life but we roll in luxury. This contrariness in our character is due to the fact that we have no faith in the Spirtual Power which supervises over all that lives and moves and has its being.

The Preamble to the constitution of UNECO beging with the following words :

"Since wars begin in the minds of men, it is in the minds of men that defences of peace must be constructed."

How true. The constitution-makers of UNESCO did correctly diagnose the malady. It is very true that war and peace originate in the mind of man. But did they correctly apply the remedy? Representatives of far-flung countries sit together in Assembly halls of United Nations but though phsically seated next to one another they are as distant in mind as the geographical boundaries of their countries. How could you expect of peace in such a situation.

In daily Agnihotra a devotee of Vedic culture recites at least 25 mantrams from the Vedas the burden of the song being Shanti, Shanti—Peace, Peace—one of the Mantras being :

औ३म् द्यौः शान्तिः अन्तरिक्ष ऌ शान्तिः पृथिवी शान्तिः राप शान्तिः ।
ओषधम्ः शान्तिः वनस्यतयः शान्ति विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म शातिः सर्व ऌ शान्तिः
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि । ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

Let there be peace in the heavens, peace in the outer space, peace on earth, peace in oceans, peace in forests where shrubs, herbs and trees grow. Let there be peace in the organs and minds of every living creature. Let there be peace eternal, in and out, here, there and everywhere. Let there be peace and nothing but peace in every nook and corner of the world. Let that peace enter into me—Peace, Peace and Peace.

After hearing this, need I tell you what is the contribution of Vedic thought towards world peace.

It is in the heart, it is in the mind that the seed of peace can be grown and cultivated. It is there that it sprouts, grows and bears fruits. The Upanishadic Rishis of yore proclaimed to the world from house—tops:

मृत्यो : स मृत्युमाप्नोति स इह् नानवे पश्यति ।

One who sees maniness in the world moves from death to death. The Vedas declare :

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत् विजानतः
तत्र को मोह्ः कः शोकः एकाचम् अनुपश्यतः । यजुर्वेद । ४०-७ ।

The message of this Vedic Mantra is : What personal and individual attachment there can remain in one to whom ALL become ONE and ONE becomes ALL. Personal attachment, selfish interest and Ambition only cause sorrow and suffering but peace.

Inspite of the reverberating and exasperating calls for peace in the Assembly Halls of U.N.O. there can be no peace, since wars have their origin in the minds of men and not in battlefields. It were only the Vedic Rishis who carried the fight for peace in the minds of men when they repeated again and—'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु'—Let my mind be full of purity of thought—and as they were the first of mankind who discovered this truth—the truth that the seed of war and peace lies embedded in the mind—let us pay homage to them at this hour of crisis for peace, and chant with the Vedic Rishis :

OM SHANTIH, SHANTIH, SHANTH.

**OM**

# The Prayer

**Shri Swami Dharmanand**

ओ३म् वयं जयेम त्वया युजावृतमस्माकमं शुमुदवा भरे भरे ।
अस्मभ्यमिन्द्रम वरिवः सुगं कृधि प्रशत्रूणांमघवन् वृपण्यारुजा ।
(ऋ० १-१०२-८)
ओ३म् ।। हिरण्मयेन पात्रेण सत्य स्थापिहितं मुखम् । (यजु० ४)

O! Omniscient, Omnipotent and Omnipresent Lord of all Creation! It is only through your grace that we can understand, that we cannot get on as we should in this world, which is now full of chaos, without going hand in hand with you. It is only then that we can succeed in our attempts, but, O Lord! let us remember that you will never bestow your help in our unrighteous attempts; we come across a lot of obstacles in our way through this life and with your Grace we can overcome them in no time.

O! Lord! our minds our perplexed mainly because we have a thirst for gold, and however often you might have warned us against it, we have not heeded your warning. Let us realise now at least, through your grace, which is endless, O Lord! that the wealth of the world is yours and yours only. We are only custodians thereof to distribute it among our brothren as per your command. We pray again prompt un by your Grace so that we may obey you and bring peace in the world namely—

Peace in the individual, peace in the country and peace in the largest world.

## Introduction

The heart of Bharat is made of Universal love, and love for universal peace—Bharat's culture which is based on the Vedas and Vedas alone, considers the universe or the world as the biggest family. God, the Almighty is the father and the congregation of men, women and children are His sons and daughters or otherwise called the Aryas. In each Aryan family (wrongly called the Hindu), we find men, women and children even to this day reciting daily during the morning and evening, prayers (Sandhya) during the recital of the Vedic or Upanished mantras, the words, "Om, Shantih, Shantih, Shantih" i.e. O Lord! confeer peace on the Individual, on the society (or the country) and in the whole world. This sort of recital has become their second nature, so that we can say that peace is flowing through the very blood in

their Veins, so, if at all, it is only Bharat that can offer peace to the world and that through the Vedas, because the Vedas are the very foundation of Bharat's hoary culture. Remove the Vedas, there is no cultural edifice of Bharat. This a fact as will be shown in the succeeding pages in a very condensed form as the space is limited.

The condition of the world as it is now, is brought about by mere industrialsation or rank materialism and long before now, many eminent writers and scientists of the west also prophesied that this world would be going head long down the path of ruin, if they merely followed the path of industrialism, capitalism and naturalistic culture. For example a great

philosopher of Germany Euckenby name, in his book "shall we become Christians", says "outward greatness with inward pettiness, and wealth and diversity of achievements with hollow emptyness of spirits"—Such is the mark of merely naturalistic culture.

The great scientist Professor Hexley of England said, "Even the best of modern civilisation appears to me to exhibit a condition of mankind which neither embodies any working ideal, nor even possesses the merit of stability. If there is no hope of large improvement of the condition of the greater part of the human family, I should hail the advent of some kindly comet which would sweep the whole affairs away as a desirable consummation (People of the Aayas—by Jack, London-P. 915).

A great number of such opinions may be quoted to show the failure of this rank materialistic civilisation of the West to bring about peace in the world—but space does not allow. I shall quote only one more opinion of a great man of India, Dr. James H. Cousins, the famous artist and poet; He says in his "Path to peace" "such is the ideal civilisation of the Vedic India, which has seen the rise and fall of succession of Empires, and it is, because it holds for humanity indications towards salvation, that Europe today in her seach for a saner and surer attitude of life and humanity, than that which has brought her to the brink of ruin, is turning towards India."

The civilisation that spring up from the Vedio genius which articulated and was conscious many centuries before the present era, being International, was synthatical, therefore inclusive, (on this Vedicideal alone) with its inclusiveness which absorbs and annihilates the causes of auto gonism with its sympathy, which burns natred away from itself, (on this ideal alone) it is possible to rear a new earth on the image and likeness of the external heavens."

Now after this short preambles we shall proceed to substantiate the statements mentioned above.

## What is World ?

We all use the word world in our talks—but what is it ? Let us clearly understand it,

because without understanding the real import of this word it is not possible to realise the truth of the statement in the subsequent pages—The world is not merely the earth with all its mountain, hills and dales and rivers etc. Without the people it cannot be called a world. So the world is a congregation of people on the earth. If so, a family a society, etc. which are congregation of people are also worlds. Certainly an individual is himself an miniature world —a family is a small world. A society is a bigger congregation and, it is bigger world or a bigger family, and what we all mean generally when we use the word world, is the biggest congregation (or world in the superlative degree) of men, women and children or the biggest family. If we remember this, that the world is the biggest family, we can rightly understand this essay.

## How did the World Come to Exist ?

First of all the biggest world with all its componants parts came into existance without the human part. But how ? seeing the wonderfulness and the laws that exist in this world, apart from the congregation of men, women, and children, i.e. its componants it is impossible to decide that it existed of its own accord. Leave aside the Logic and Darashanas of Bharat, the Western Philosophy and Science also tell us that our observation of the laws that exist in this wonderful world, presupposes that there should be an Au-wise, All powerful, Agent or Creator, without whose intervention, the inert matter—as exposed by the great scientist Newton could not have transferred itself into the wonderful form that we see now. So this Agent or Creator we call God also. He also created men and women like other plant life etc. and created laws for future progeny.

In the very beginning after God's creation of complete Nature (Cosmos), he created multitude of men and women in their full bloom of youth and all these at the same moment by his wonderful power of being Omniscient and Omnipotent and this creation is called the अमैथुनी सृष्टि i.e. the creation without the combination of men and women. After that the laws of procreation came into existance. How could this be possible ? Now as a proof see this illustration. Next to a rainy day, when the atmosphere becomes demp and warm. You see thousands of winged insects coming into being all of a sudden. How did this happen ? By God's Law. The bodies of the insects that were created, which are of the same elements, such as either, Air (Vaayu), fire, water and earth, just like those of men and women, came into existence, all of a sudden. It is beyond man's power to do it. Again see another example. Put some cowding in a corner and let it lie for a number of days, you will see after that scorpian coming out of it. Did any one sow the seed of scorpian ?,No. It is Gods' power and Law. Due to the atmospheric temperature etc, it was created. So also, in the very beginning. when after the complete creation of the Nature (Cosmo) suitable for man's comforable living with all the Natural's equipments, Gods law came into existance, and multitude of men and women were born out of his Omniscient power etc. Then the law of procreation came into existance for instance when a society has to be started, one man chooses a number of men forming an original body and then forms laws, rules etc. for the working of the society. So also, men

and women were created all of a sudden by the Almighty and then the law of procreation etc. takes effect. Then the rules for the working of the society of country etc. etc. were given out in the Vedas for the guidance of this congregation of people.

## The Vedas and their Nature

Now what are these Vedas ? We shall see; this is the next point for consideration after the enunciation of the different worlds and understanding how these words came into existance.

When men and women were created. How should they get on in the world. Without work they cannot live; for life means work. Eating, talking, sleeping etc. and every bit of man's life cannot be fulfiled without work and the work requires knowledge; fot thought preceeds action and where could this thought come from ? No doubt men and women have some original natural knowledge but this is not enough for the various works that exist in the world. It has been observed by various experiments that the natural knowledge possessed in the beginning cannot be developed without the help of external coaching, because man is like an electric storage battery with a certain limited power; and when it is exhausted by use, this power must be replenished by being charged with external power of a Dynamo. This Dynamo is the Lord of creation. For there was none else who had the capacity to coach man with full knowledge for his required work, so that the individual, the family, the society, and the biggest world could get on to move about and work peacefully and happily and have relationship of one kind or other with one another in his works in the congregation. Without this primary external coaching man can never get on with his own limited and in complete knowledge. If that were so i e. if he could have got on without external coaching, there could never have been any need for teachers and preceptors in the world at all. So, in the very beginning of Lords' Creation man should certainly have been bestowed with a complete Primary external knowledge by God which could contain all the nuclii of knowledge for all the developments later on. God would have been unjust and unkind otherwise. So God is the primary teacher and His primary teachings as explained above is called the Veda and this word Veda really means knowledge (as derived by Sanskrit roots) or Science, for the word Science also is derived from the Latini root seis to know.

This knowledge come first of all, from the Divine, All-wise, All-powerful Being having been prompted through the mind of the four great seers or Rishis name Agni, Vaayu, Ravi and Angiras, who were fit to grasp the induction or the revealation as it is called, and who spread it later on among the ordinary people—

Now, notice the structure of the Sanskrit word Veda (वेद). It contain three letters—व+ई+द and each has got a meaning, (as is in Sanskrit language). There is no alphabet without any independent import. So व means Benedication, happiness etc, ई means Eswara or the Lord

God. द means to give. So all the letters put together mean, the Lord who is all Bless gives the mankind, wealth, happiness and Blesses through this knowledge which is called the (वेद) Veda. The internal authority of the Rig Vedas as exposed through the Ist mantra of the 71 Sukta of the tenth Mandal, means—"Let all intelligent people know that at the beginning of creation along with men, the word of the Lord i.e. the Veda, the root of all learning and knowledge, that which gave the names of all the things in this creation, which every learned man expresses, which is the best (nothing better) which is common to all the worlds, (plural denotes the different worlds. individual, family, society and the biggest world as already difined) comes to light through the Divine Wisdom, the Omniscient having prompted or revealed them through the great and learned souls, the Rishis, and that which kills all antagonism, and establishes peace and happiness every where.

There is no space here now to express all the opinions of even the Western learned men about the greatness of this Revelation the velation the Veda—one example is quite enough as a sample-even the great professor Maxmuller renounced for the tirade against the Vedas interprefing tnem in all possible ways to bring down their greatness, had at last to accept these as a Revelation. We says—"If there is a God who has created heaven and earth, it will be injust on his part if He deprives millions of souls born before Moses, of His Divine knowledge; reason and comperative study of Religious, declare that God gives His Divine knowledge to mankind from his first appearance on the Earth (Science and Religion).

This knowledge came first of all from Divine all powerful All wise, Being, having been prompted through the minds of the four great seers or Rishis who were fit to grasp the inducement and who spread it later on.

## What is Peace?

Absence of war is not peace; because even without war there can be peacelessness and war in the world is inevitable. This world contains both good and evil; and there is always war or strife between them. To annihibate, ignorance injustice and war, it is quite necessary that there should be strife between knowledge, justice and plenty respectively, The Vedas declare that good things denote Indra and evil ones are Vitra and there is always eternal was believe them. The Bhagavad Gita is a living example. Then what is Peace ? Peace is that condition in which all the limbs and senses that go to form the individual world, the family world, the social world and the biggest world are quite sound and healthy and perform their functions harmoneously so that the internal agitation is nil, even though there is strife outside, so that all the above mentioned worlds may proceed without any hindrance to attain their ordained goal.

## The Way to A-ttain this Peace

The Vedas declare that the only way to attain this sort of peace is to become Aryas or true

sons and daughters of the Almighty who is one and one only for all the three world. The Ve'as declare—इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः । कृण्वन्ते विश्वमार्य्यम् । अपन्घन्तोऽराव्णः ॥ i.e.

Set aside all laziness and develop your souls by prayer to God and obeying his behests in every way. This starts first of all in the individual world-then spreads in the family world, in the social world and the largest world. There is no other method. The individual is the unit. Save the unit and the whole will be saved. The influx must flow from the centre to circumference. Then only the whole body will be healthy. The individual is the centre keep this world healthy, every other world will follow suit. This is the Vedic method and it must be adopted. Otherwise there will be chaos in all the worlds mentioned above. In the Vedic period this was the method adopted and there was real peace all over.

## The Soul and the Limbs of the Body.

The Vedas declare—यत्र ब्रह्मचक्षत्रं च सम्य ञ्चौ चरतः सह । लंल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेयं यत्र देवाः सहग्निना ॥

This means that there should be co-ordination and cooperation beween the soul and the limbs of the body. In the individual world the soul strength should predominate and the mind, that vital force or prana should co-operate. In the family world the master is the soul, the mistress the mind and children are limbs. There must be cooperation here too. In the social world the division of labour or the Varnashrama Dharma as it is called, is the soul i.e. that part of the society that has brains and knowledge that could destrory ignorance, that part of the society that could eradicate injustice and that part of the society that could do away with want should cooperate with one another. The communism, which is a menace to peace will disappear. This applies, all over the biggest world; where this cooperation will spread.

## The Education

Unless the soul is trained in the above manner, there will not be peace any where. For this, proper education is most needed. The Vedas say—पावकानः सरस्वती काजेभिर्वाजिनीवती यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥

i.e. the education given to the unit, or the centre should be on these lines:

(1) Pavika=It must develop the sacredness of the soul, speech and action.

(2) (Vaajebhih): It should be a means of subsistance without penury and want.

(3) (Vaajineevatti) It should develop science in the right way.

(4) (Yajnam Vashtu): It should develop the knowledge and faith in the Creator who is All-pervading.

(5) (Dhiyaa) It should develop the mind and intelligence and other senses.

(6) =It should be no means of increasing the wealth of the country by righteous means and should teach men to spend it for the good of the society, country and the entire world,

## Religion and Politics

There should not be separated. They should so hand in hand.

The Vedas declare—शुनं इवेम मघवान मिन्द्रमस्मिन भरे नृनमं वा जसातै । श्रण्वन्तभुगु मूतये समत्सु घ्रंन्तं वृत्राणि सञ्जिनं धनानाम् ॥

(Rig 3.38.10)

The subject matter dealt with in this mantra is Indra or the duties of a king in other words Politics. What are the duties ? The king is the personification, as it were, of the laws governing the country and this is of course politics. The mantra instructs that the government or the king should be, so that say, the personification of righteousness and divine qualities. Indra means a king representing politics. He must protfect Dharma or Righteousness in every thing. Then only the country will be peaceful and happy because otherwise there will be chaos as it is now. Lharma is now-a-days intepreted as religion which should not be.

## Common Wealth or Chakravarthy Rajya

All the countries in the world should behave righteously and co-operate with one another as if they are the limbs of the great family. If each country behaves righteously the whole world would be righteous. Chanikya or Rautitya who has written the famous अर्थशास्त्र or the economics which is the foundation of a good government of a country says, सुखस्य मूलधर्मः i.e. the foundation of peace and happiness is Dharma or Righteousness.

## Eschewing Thirst for Gold

Last but not the least injunction of the Vedas to bring peace in all the worlds mentioned above is the giving up of thirst for gold. This thirst is the bane of the present day worlds. The Vedas declare unequivocally that this thirst destroys an individual, a family, a country and the whole world. अपामिक प्रकर्ण यस्यदुर्धरं the whole wealth belongs to the Lord of creation and it is for the good of the whole world and is the common porperty. It must flow like a river and should not be accumulated, or when it is distributed it should not be done without strings of selfishness attached. This is the key to the peace of the worlds that the Vedas give us.

Thus, in a very concise manner the ways of peace have been dealt with as enjorned by the Vedas which are the Divine words. If they are not needed peace is a dream.

A reflective thought by all learned and great men of the world on these facts mentioned in the essay and the implementation thereof are the only things required. Thus the world-peace could be obtained only through the spread of the Vedas or pure vedic culture, the vedas are the only rays of hope for the peaceless worlds. May God help us to from this idea and action in the minds of all men ?

Om Shantih Shantih, Shantih